नाथ-सम्प्रदाय

हजारीप्रसाद द्विवेदी

नाथ-सम्प्रदाय

हजारीप्रसाद द्विवेदी

लोकभारती प्रकाशन
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-1

लोकभारती प्रकाशन
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-211 001
वेबसाइट : www.lokbharatiprakashan.com
ई-मेल : info@lokbharatiprakashan.com
शाखाएँ : 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110 002
अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने
पटना-800 006 (बिहार)

© हजारीप्रसाद द्विवेदी

संस्करण : 2010

मूल्य : 85.00

आवरण : लोकभारती स्टूडियो

इण्डियन प्रेस प्रा. लि.
36, पन्नालाल रोड, इलाहाबाद-211 002
द्वारा मुद्रित

NATH-SAMPRADAYA
by Hajari Prasad Dwivedi
ISBN : 978-81-8031-564-0

स्वर्गीय गुरुदेव को

दूसरे संस्करण की भूमिका

नाथ-संप्रदाय का यह दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है। इसका प्रथम संस्करण हिन्दुस्तानी एकेडेमी की ओर से प्रकाशित हुआ था। जिन दिनों यह पुस्तक लिखी गई थी उन दिनों इस विषय पर कोई पुस्तक नहीं थी। इसके विभिन्न अंगों पर विद्वानों ने कुछ-कुछ लिखा अवश्य था पर संपूर्ण संप्रदाय का परिचय उनसे नहीं मिलता था। इधर इस दिशा में अनेक शोधी विद्वान् प्रयत्न-शील हुए हैं और बहुत-कुछ लिखा जा रहा है। फिर भी नित्य आते रहने वाले पत्रों से लगता है कि जिज्ञासु पाठक इसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने कृपापूर्वक इसके नये संस्करण के प्रकाशन का अधिकार नैवेद्य-निकेतन (वाराणसी) को दिया है। अब यह वहीं से प्रकाशित हो रहा है। इस नये संस्करण में कुछ नई जानकारियाँ बढ़ाई अवश्य गई हैं पर यथा-संभव पुस्तक के पुराने ढाँचे को ज्यों-का-त्यों रहने देने का प्रयत्न किया गया है।

जैसे-जैसे नाथ संप्रदाय के विस्तार और प्रभाव की जानकारी प्राप्त होती जा रही है वैसे-वैसे इसका असाधारण महत्व भी स्पष्ट होता जा रहा है। भारतीय धर्मसाधना के इतिहास में इस संप्रदाय का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भक्ति आन्दोलन के पूर्व यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धार्मिक आन्दोलन रहा है और बाद में भी पर्याप्त शक्तिशाली रहा है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में से प्रायः सबके साहित्यिक प्रयत्नों की पृष्ठभूमि में इसका प्रभाव सक्रिय रहा है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य की प्रेरक शक्तियों का अध्ययन इस संप्रदाय के अध्ययन के बिना अधूरा ही रह जायेगा।

पुस्तक के प्रथम संस्करण का विद्वानों ने स्वागत किया है। प्रायः इसके विषय में उत्साहवर्द्धक पत्र मिलते रहे हैं। मैं उन सहृदय विद्वान् पाठकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने इसे प्रेमपूर्वक अपनाकर इसका गौरव बढ़ाया है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी
१६-१२-६६

विषय-सूची

१—**नाथ-संप्रदाय का विस्तार**—संप्रदाय का नाम—उसकी विशेषता—अनेक बौद्ध शाक्तादि मतों का उसमें अंतर्भाव—कापालिक और नाथ-मत—जालंधर और कृष्णाचार्य का प्रवर्तित संप्रदाय—कर्णकुण्डल की प्रथा—गोरखनाथी शाखा—उनकी जनसंख्या—बारह पंथ—पंथों का मूल उद्गम—बारह पंथों के बाहर के योगी—नाथ योगी का वेश—पद्मावत का योगी वर्णन—विभिन्न चिह्नों का अर्थ—नाद-सेली—पवित्री—सिंगीनाद—हालमटंगा — धंधारी—रुद्राक्ष—सुमिरनी—अधारी—गूदरी—सोंटा—खप्पर—इन चिह्नों के धारण का हेतु—इब्नबतूता की गवाही—कबीरदास की गवाही—गृहस्थ योगी—वचन जीवियों का धर्म—बंगाल के योगी—समूचे भारत में विस्तार। १—२४

२—**संप्रदाय के पुराने सिद्ध**—हठयोग प्रदीपिका के सिद्ध—नवनारायण और नवनाथ—नवनाथों की विभिन्न परंपरा—गोरखनाथ क्या नवनाथ से भिन्न हैं?—तंत्रग्रंथों की गवाही—वर्णरत्नाकर के चौरासी सिद्ध—सहजयानी सिद्ध के साथ नाथ सिद्धों की तुलना—ज्ञानेश्वर की परंपरा—नाना मूलों से प्राप्त सिद्धों के नाम—मध्ययुग के सिद्ध। २५—३५

३—**मत्स्येंद्रनाथ कौन थे?**—मत्स्येंद्रनाथ के नाम पर विचार—मच्छंद विभु और मछंदरनाथ—मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ—लुईपाद और मत्स्येंद्रनाथ—अवलोकितेश्वर के अवतार—मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ अभिन्न—नित्याह्निकतिलकम् की सूची—मत्स्येन्द्रनाथ का स्थान। ३६—४२

४—**मत्स्येंद्रनाथ विषयक कथाएं और उनका निष्कर्ष**—कौलज्ञाननिर्णय की कथा—बंगाल में प्रचलित कथा—नेपाल की कथाएं—उत्तर भारत की कथाएं—नाथ चरित्र की कहानियां—कथाओं का निष्कर्ष—काल-निर्णय—स्थान-निर्णय—कदली देश—सिंहल द्वीप—चंद्रगिरि—मत्स्येन्द्रनाथ की साधना पर विचार। ४३—५४

५—**मत्स्येंद्रनाथ द्वारा अवतारित कौलज्ञान**—सकलकुलशास्त्र के अवतारक—विभिन्न युगों में कौलज्ञान—सिद्ध या सिद्धामृत कौल—'कुल' शब्द का प्रयोग—कौलज्ञान के विवेच्य विषय—बौद्धमत से कौलज्ञान

का संबंध—कुल और अकुल का अर्थ—कौलोपनिषद् का मत—कुल शब्द के विविध अर्थ—कौल मार्ग के दार्शनिक सिद्धांत—छत्तीस तत्व—शिव और जीव—योगमार्ग और कौलमार्ग—योग और भोग—गोरक्षमत की विशेषता—योगपंथ में वामाचार—कौल साधक का लक्ष्य—चक्र—साधकों की अवस्थाएँ—आचार—मच्छंदावतारित कौलज्ञान का लक्ष्य। ५५—७४

६—**जालंधरनाथ और कृष्णपाद**—जालंधरनाथ विषयक परम्पराएँ और उनके ग्रंथ—जालंधर पीठ—उड्डियान—जालंधर पीठ की अधिष्ठात्री देवी व्रजेश्वरी या वज्रेश्वरी—इंद्रभूति और लक्ष्मींकरा के संबंध पर विचार कृष्णपाद या कानिप्पा—इनके ग्रंथ। ७५—७८

७—**जालंधरपाद और कृष्णपाद का कापालिक मत**—कापालिकों के प्राचीन उल्लेख—यक्ष-संप्रदाय और वज्रयान का संबंध—दातड़ीपाद का मत—मालती-माधव का उल्लेख—उक्त नाटक की टीका में कापालिक मत की व्याख्या—तांत्रिकों के निर्गुण और सगुण शिव—प्रबोध चंद्रोदय के शैव कापालिक—सरहपाद का 'सुखराज' तत्त्व—जालंधरपाद का एक अस्पष्ट पद—आनंद—दोहाकोष और उसकी मेखला टीका—इनमें प्रतिपादित कृष्णपाद का मत—दो प्रकार के सत्य—बौद्ध मार्ग में तांत्रिक प्रवृत्ति का प्रवेश—शून्यवाद—बौद्ध दर्शन के पंचस्कंध—पाँच बुद्ध—नाड़ी-संस्थान—उष्णीष्ट कमल और जालंधर गिरि—गोरक्ष मत से तुलना—मेरु शिखर का वास—भावाभाव विनिर्मुक्तावस्था। ८०—९४

८—**गोरक्षनाथ**—महिमाशाली व्यक्तित्व—जन्म स्थान पर विचार—गोरक्षनाथ के ग्रंथ—गोरखनाथ लिखित कहे जाने वाले हिन्दी ग्रंथ—इन पर विचार। ९५—१०१

९—**पिण्ड और ब्रह्माण्ड**—छत्तीस तत्वों की व्याख्या—छः पिंण्ड—तत्व और पिण्ड—शिवशक्ति और पिण्ड-ब्रह्माण्ड—कुण्डली—सृष्टि के आदि कर्तृत्व पर विचार—नाथमार्ग और कुण्डलिनी तत्व—अमरौघ शासन के वचन पर विचार। १०२—११३

१०—**पातंजल योग**—योग विद्या की प्राचीनता—चित्त-निरोध—चित्त के भेद—समाधि के भेद—तीन विषय—सांख्य का तत्ववाद—एकाग्रता के समय चित्त की अवस्था—चित्तवृत्तियाँ—वैराग्य और अभ्यास—कैवल्य भाव—ईश्वर प्रणिधान—क्रियायोग—क्लेश और उनका नाश—योग के शास्त्रार्थ की चार बातें—विवेकख्याति—अष्टांग-योग—

चित्तवृत्ति-निरोध के बाद संस्कार—सिद्धियाँ—धर्ममेघ—लिंग—शरीर का विराम। ११४-१२२

११—**गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग**—(१) हठयोग क्या है—उसके दो भेद—कुण्डलिनी—बिन्दु, वायु और मन—काम, विषहर और निरंजन—सामरस्य—नाड़ियाँ—अनाहत ध्वनि—षट्चक्र—चार प्रकार के योग—सोलह आधार, दो लक्ष्य और पाँच व्योम—मुद्रा और सारणा—परासंवित—सहजसमाधि।

(२) गोरक्षसिद्धांत संग्रह—उसमें उद्धृत ग्रंथों की सूची—गोरक्ष पूर्व-योग—उपनिषदों पर विचार—योगोपनिषद्—षडंग और अष्टांग योग—गुरु-महिमा—विभिन्न दर्शनों से मतभेद—नाथमत से मुक्ति। (३) प्रणव, सूक्ष्म वेद और परासंवित—सांख्य और योग का तत्व-दर्शन ज्ञान के लिए तीन बातें—प्रणव की व्याख्या—सूक्ष्मवाद की व्याख्या—परासंवित की व्याख्या। १२३—१४८

१२—**गोरक्षनाथ के समसामयिक और परवर्ती सिद्ध**—वज्रयानी और नाथ पंथी सिद्ध परंपरा के सामान्य सिद्ध—चौरंगीनाथ—चामरीनाथ—तंतिपा—दारिपा—विरुपा—कमाटी—कनखल—मेखल—धोबी—नागार्जुन—अचिति—चम्पक—टेण्टस—चुणकर—भादे—कामरो—धर्मपापतंग—भद्रपा—सबर—सान्ति—कुमारी—सियारी—कमल—कंगारि—चर्पटीनाथ।

(२) परवर्ती सिद्ध—काणेरी—गोपीचंद—भरथरी—अजयपाल—लक्ष्मणनाथ—हणवंत जी—घोड़ा चौली—धूधलीमल और गरीबनाथ—दत्त जी—देवलनाथ—पृथ्वीनाथ परबत सिद्ध। १४८—१६०

१३—**परवर्ती सिद्ध-संप्रदाय के प्राचीन मत**—बारह पंथ—पाशुपत मत—आगम और निगम—गोरक्ष पूर्वमतों का संप्रदाय में ग्रहण और उसका कारण—योगी मुसलमान क्यों हुए?—पुराने संप्रदायों की अंतर्भुक्ति के प्रमाण—शिवद्वारा, प्रवर्तित संप्रदाय—गोरक्ष संप्रदाय—योगियों के मुख्य स्थान—संप्रदाय का वृक्ष—रावल-शाखा—'रावल' का अर्थ—बाप्पा रावल—लाकुल पाशुपत मत का अवशेष—गोरक्षनाथ और लकुलीश—उलूक और कुशिक—औलूक्य दर्शन—पूरन भगत और राजा रसालू—पुरी के सतनाथ—वैष्णव आगम—भर्तृहरि—गोपीचंद और मयनामती—इनके संबंध की कथाएँ—रसेश्वर मत—नाथ पंथियों के रस ग्रंथ—वैष्णव योग—शाक्त उपादान अन्य संप्रदायों के अवशेष। १६१—१८७

१४—**लोकभाषा में संप्रदाय के नैतिक उपदेश**--हिन्दी रचनाओं की विशेषता —संवाद परक साहित्य—पदों की प्राचीनता—गुरु की आवश्यकता —गुरु और शिष्य—मन की शुद्धि---वाद-विवाद निषिद्ध---जल्दबाजी अनुचित—प्रलोभनों से बचाव—विकारों में निर्विकार तत्व—शिष्य शिष्य का आचरण—मध्यम मार्ग—गृही और योगी—ब्रह्मचर्य पर जोर—नाद और बिन्दु का संयम—नशा सेवन निषिद्ध—मद्य मांस का निषेध—दृढ़ कंठ स्वर। १९८—२०४

१५—**उपसंहार** २०५—२०६

सहायक ग्रंथों की सूची २०७—२१०

नामानुक्रमणिका २११—२२३

विषयानुक्रमणिका २२४—२२९

१

नाथ-संप्रदाय का विस्तार

१. नाम

सांप्रदायिक ग्रंथों में नाथ-संप्रदाय के अनेक नामों का उल्लेख मिलता है। 'हठयोग प्रदीपिका की टीका' (१-५) में ब्रह्मानंद ने लिखा है कि सब नाथों में प्रथम आदिनाथ हैं जो स्वयं शिव ही हैं—ऐसा नाथ-संप्रदाय वालों का विश्वास है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्रह्मानंद इस संप्रदाय को 'नाथ-संप्रदाय' नाम से ही जानते थे।[1] भिन्न-भिन्न ग्रंथों में बराबर यह उल्लेख मिलता है कि यह मत 'नाथोक्त' अर्थात् नाथ द्वारा कथित है। परंतु संप्रदाय में अधिक प्रचलित शब्द हैं, सिद्ध-मत (गो० सि० सं०, पृ० १२) सिद्ध-मार्ग (योगबीज), योगमार्ग (गो० सि० सं० पृ० ५, २१) योग-संप्रदाय (गो० सि० सं०, पृ० ५८), अवधूत-मत (पृ० १८) अवधूत-संप्रदाय (पृ० ५६) इत्यादि। इस मत के योग मत और योग-संप्रदाय नाम तो सार्थक ही हैं, क्योंकि इनका मुख्य धर्म ही योगाभ्यास है। अपने मार्ग को ये लोग सिद्धमत या सिद्ध-मार्ग इसलिये कहते हैं कि इनके मत से नाथ ही सिद्ध हैं। इनके मत का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रंथ 'सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति' है जिसे अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में काशी के बलभद्र पंडित ने संक्षिप्त करके सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह नामक ग्रंथ लिखा था। इन ग्रंथों के नाम से पता चलता है कि बहुत प्राचीन काल से इस मत को 'सिद्ध-मत' कहा जा रहा है। सिद्धान्त वस्तुतः वादी और प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ को कहते हैं, परन्तु इस संप्रदाय में यह अर्थ नहीं स्वीकार किया जाता। इन लोगों के मत से सिद्धों द्वारा निर्णीत या व्याख्यान तत्त्व को ही सिद्धान्त कहा जाता है (गो० सि० सं०, पृ० १८), इसीलिये अपने संप्रदाय के ग्रंथों को ही ये लोग 'सिद्धान्त-ग्रंथ' कहते हैं। नाथ संप्रदाय में प्रसिद्ध है कि शंकराचार्य अन्त में नाथ-संप्रदाय के अनुयायी हो गए और उसी अवस्था में उन्होंने 'सिद्धांत-विंदु' ग्रंथ लिखा था। अपने मत को ये लोग 'अवधूत-मत' भी कहते हैं। 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' में लिखा है कि हमारा मत

---

१. आदिनाथः सर्वेषां नाथानां प्रथमः, ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त इति नाथ-संप्रदायिनो वदन्ति।

तो अवधूत मत ही है (अस्माकं मतं त्ववधूतमेव, पृ० १८) कबीरदास ने 'अवधू' (=अवधूत) को संबोधन करते समय इस मत को ही बराबर ध्यान में रखा है। कभी-कभी इस मत के ढोंगी साधुओं को उन्होंने 'कच्चे सिद्ध' कहा है।[१] गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' के शुरू में ही 'सिद्ध-मत' की 'भक्ति-हीनता'[२] की ओर इशारा किया है। गोस्वामीजी के ग्रंथों से पता चलता है कि वे यह विश्वास करते थे कि गोरखनाथ ने योग जगाकर भक्ति को दूर कर दिया था।[३] मेरा अनुमान है कि 'रामचरितमानस' के आरंभ में शिव की वंदना के प्रसंग में जब उन्होंने कहा था कि 'श्रद्धा और विश्वास के साक्षात् स्वरूप पार्वती और शिव हैं, इन्हीं दो गुणों (अर्थात् श्रद्धा और विश्वास) के अभाव में 'सिद्ध' लोग भी अपने ही भीतर विद्यमान ईश्वर को नहीं देख पाते',[४] तो उनका तात्पर्य इन्हीं नाथपंथियों से था। यह अनुमान यदि ठीक है तो यह भी सिद्ध है कि गोस्वामीजी इस मत को 'सिद्ध-मत' ही कहते थे। यह नाम संप्रदाय में भी बहुत समादृत है और इसकी परंपरा बहुत पुरानी मालूम होती है। मत्स्येन्द्रनाथ के 'कौल ज्ञान निर्णय' के सोलहवें पटल से अनुमान होता है कि वे जिस संप्रदाय के अनुयायी थे उसका नाम 'सिद्ध कौल संप्रदाय' था। डॉ० बागची ने लिखा है कि बाद में उन्होंने जिस संप्रदाय का प्रवर्तन किया था उसका नाम 'यागिनी कौल मार्ग' था। आगे चलकर इस बात की विशेष आलोचना करने का अवसर आएगा।

---

१. कच्चेन सिद्धन माया प्यारी।—बीजक, ६९वीं रमैनी।

२. (१) लियोनार्ड ने अपने 'नोट्स आन दि कन-फटा योगीज' नामक प्रबंध में दिखाया है कि गोरक्षनाथ भक्ति मार्ग के प्रतिद्वंद्वी थे। देखिए इ० ए०, जिल्द ७, पृ० २९९।
(२) नाथ योगियों और भक्तों की तुलना के लिये देखिए—कबीर, पृ० १५३-४।

३. बरन धरम गयो आस्रम निवास तज्यो
त्रासन चकित सो परावनो परो सो है।
करम उपासना कुबासना बिनास्यो ज्ञान
वचन विराग वेस जतन हरो सो है।
गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग
निगज नियोग ते सो केलि ही छरी सी है।
काय मन बचन सुभाय तुलसी है जाहि
राम नाम को भरासो ताहि को भरोसो है।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, ८४।

४. भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

यहाँ इतना ही कह रखना पर्याप्त है कि यह सिद्ध कौल मत ही आगे चल कर नाथ-परम्परा के रूप में विकसित हुआ।

'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में इस सिद्ध मत को सबसे श्रेष्ठ बताया गया है, क्योंकि कर्कशतर्कपरायण वेदान्ती माया से ग्रसित हैं, भाट्ट मीमांसक कर्म-फल के चक्कर में पड़े हुए हैं, वैशेषिक लोग अपनी द्वैत-बुद्धि से ही मारे गए हैं तथा अन्यान्य दार्शनिक भी तत्त्व से वंचित ही हैं, फिर सांख्य, वैष्णव, वैदिक, वीर, बौद्ध, जैन, ये सब लोग व्यर्थ के कष्टकल्पित मार्ग में भटक रहे हैं; फिर, होम करने वाले बहु दीक्षित आचार्य, नग्नव्रत वाले तापस, नाना तीर्थों में भटकने वाले पुण्यार्थी बेचारे दुःख-भार से दबे रहने के कारण तत्व से शून्य रह गए हैं,—इसलिए एक मात्र स्वाभाविक आचरण के अनुकूल सिद्ध-मार्ग को आश्रय करना ही उपयुक्त है।[1] यह सिद्धमार्ग नाथ मत ही हैं। 'ना' का अर्थ है अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना, इस प्रकार 'नाथ' मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरक्ष को इसी कारण से 'नाथ' कहा जाता है।[2] फिर 'ना' शब्द का अर्थ नाथ-ब्रह्म जो मोक्ष-दान में दक्ष है, उनका ज्ञान कराना है और 'थ' का अर्थ है (अज्ञान के सामर्थ्य को) स्थगित करने वाला। चूंकि नाथ के आश्रयण से इस नाथ-ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होती है इसीलिये 'नाथ' शब्द का व्यवहार किया जाता है।[3]

---

१. वेदान्तो बहुतर्ककर्कशमनिर्ग्रस्तः परं मायया।
भाट्टाः कर्मफलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः।
अन्ये भेदरता विषादविकलास्ते तत्वतोवंचिता
स्तस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत्।
सांख्या वैष्णव वैदिका विधिपराः संन्यासिनस्तापसाः।
सौरा वीरपराः प्रपंचनिरता बौद्धा जिनाः श्रावकाः।
एते कष्टरता वृथा पथगता ते तत्वातोवञ्चिता—
स्तस्मात् सिद्धमतं०।

आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसाः।
नानातीर्थनिषेवका जिनपरा मौनेस्थिता नित्यशः।
एते ते खलु दुःखभागनिरता ते तत्वतो वञ्चिता—
स्तस्मात् सिद्धमतं०।

२. राजगुह्य में —नाकारोऽनादि रूपं थकारः स्थाप्यते सदा।
भुवनत्रयमेवैकः श्री गोरक्ष नमोऽस्तुते।

३. शक्ति संगम तंत्र में—श्री मोक्षदानदक्षत्वात् नाथब्रह्मानुबोधनात्।
स्थगिताज्ञान विभवात् श्री नाथ इति गीयते॥

२. बौद्ध और शाक्त मतों का अन्तर्भाव

यह विश्वास किया जाता है कि आदिनाथ स्वयं शिव ही हैं[१] और मूलतः समग्र नाथ-संप्रदाय शैव है। सब के मूल उपास्य देवता शिव हैं। गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह (पृ० १८) में शंकराचार्य के अद्वैत मत के पराभव की कहानी दी हुई है। पराभव एक कापालिक द्वारा हुआ था। कहानी कहने के बाद ग्रंथकार को संदेह हुआ है कि पाठक कहीं कापालिक के विजय से उल्लसित होने के कारण ग्रंथकार को भी उसी मत का अनुयायी न मान लें, इसलिये उन्होंने इस शंका को निर्मूल करने के लिए कहा है कि ऐसा कोई न समझे कि हम कापालिक मत को मानते हैं। मत तो हमारा अवधूत ही है। किन्तु इतना अवश्य है कि कापालिक मत को भी श्री 'नाथ' ने ही प्रकट किया था, क्योंकि 'शाबरतंत्र' में कापालिकों के बारह आचार्यों में प्रथम नाम आदिनाथ का ही है और बारह शिष्यों में से कई नाथ मार्ग के प्रधान आचार्य हैं।[२] फिर शाक्त मार्ग, जो तंत्रानुसारी है, उसके उपदेष्टा भी नाथ ही हैं। नाथ ने ही तंत्रों की रचना की है क्योंकि षोडश नित्यातंत्र में शिव ने कहा है कि मेरे कहे हुए तंत्र को ही नवनाथों ने लोक में प्रचार किया है।[३] शाक्त मत के अनुसार चार प्रधान आचार हैं :- वैदिक, वैष्णव, शैव और शाक्त। शाक्त आचार भी चार प्रकार के हैं :—वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। अब, 'षट् शांभव रहस्य' नामक ग्रंथ में बताया गया है कि वैदिक आचार से वैष्णव श्रेष्ठ हैं, उससे गाणपत्य, उससे सौर, उससे शैव और शैव आचार से भी शाक्त आचार श्रेष्ठ है। शाक्त आचारों में भी वाम, दक्षिण और कौल उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं और कौल मार्ग ही अवधूत-मार्ग है। इस प्रकार तंत्र ग्रंथों के अनुसार भी कौल या अवधूत मार्ग श्रेष्ठ है, इसलिये

---

१. देवीप्यमानस्तत्वस्य कर्ता साक्षात् स्वयं शिवः
संरक्षन्तो विश्वमेव धीराः सिद्धमताश्रयाः ॥ —सिद्ध सिद्धान्त पद्धति
शक्ति संगमतंत्र बडौदा सीरीज (८१) के ताराखण्ड में आदिनाथ और काला के संवाद से ग्रंथ आरंभ होता है। ये आदिनाथ स्वयं शिव ही हैं।

२. कापालिकों के बारह आचार्य ये हैं—आदिनाथ, अनादि, काल, अतिकाल, कराल, विकराल, महाकाल कालभैरवनाथ, बटुकनाथ, वीरनाथ और श्रीकंठ। इनके बारह शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं—नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्ष, चर्पट, अवद्य, वैरागी, कंथाधारी, जालधर और मलयार्जुन। स्पष्ट ही इस सूची में के अनेक नाम नाथ-योगियों के हैं।

३. कादिसंज्ञा भवेद्रूपा सा शक्तिः सर्व सिद्धये।
तंत्र यदुक्तं भुवने नवनाथैरकल्पयन् ॥
तथा तैर्भुवने मंत्रं कल्पे कल्पे विजृम्भते।
अवसान तु कल्पानां सा तैः सार्द्धं व्रजेच्च माम् ॥

शाक्त तंत्र भी नाथानुयायी ही हैं (गो० सि० सं०, पृ० १९) यह लक्ष्य करने की बात है कि इस वक्तव्य में शाक्त तंत्र को ही नाथ मत का अनुयायी कहा गया है। शाक्त आगम तीन प्रकार के हैं। सात्विक अधिकारियों को लक्ष्य करके उपदिष्ट आगम 'तंत्र' कहे जाते हैं, राजस अधिकारियों के लिए उपदिष्ट शास्त्र 'यामल' कहे जाते हैं और तामस अधिकारियों के लिये उपदिष्ट शास्त्र को 'डामर' कहा जाता है। फिर तांत्रिकों के सर्वश्रेष्ठ कौलाचार को ही अवधूत-मार्ग बताया गया है। 'गोरक्ष सिद्धांत संग्रह' (पृ० २०) में तांत्रिक और अवधूत का अन्तर भी बताया गया है। कहा गया है कि तांत्रिक लोग पहिले बहिरंग उपासना करते हैं और अंत में क्रमशः सिद्धि प्राप्त करते हुए कुण्डलिनी शक्ति की उपासना करते हैं जो हू-ब-हू अवधूत-मार्ग की ही उपासना है।

इस प्रकार नाथ संप्रदाय के ग्रंथों की अपनी गवाही से ही मालूम होता है, कि तांत्रिकों का कौल-मार्ग और कापालिक मत नाथ मतानुयायी ही हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कौलज्ञान निर्णय में अनेक कौल मतों में एक योगिनी कौल मत का उल्लेख है (सप्तदश पटल)। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का सम्बन्ध इसी योगिनी कौल मार्ग से बताया गया है।[1] यह मार्ग कामरूप देश में उद्भूत हुआ था। इस प्रकार नाथ पंथियों का यह दावा ठीक ही जान पड़ता है कि कौलाचार उसके आचार्यों द्वारा उपदिष्ट मार्ग है। त्रिपुरा संप्रदाय के अनेक सिद्धों के नाम वे ही हैं जो नाथ पंथियों के हैं। प्रसिद्ध है कि दत्तात्रेय ने त्रिपुरातत्व पर अठारह हजार श्लोकों की 'दत्तसंहिता' लिखी थी। परशुराम नामक किसी आचार्य ने पचास खण्डों में तथा छः हजार सूत्रों में इसे संक्षिप्त किया था। बाद में यह संक्षिप्त ग्रंथ भी बड़ा समझा गया और हरितायन सुमेधा ने इसे 'परशुराम कल्पसूत्र' नाम से पुनर्बार संक्षिप्त किया। इस ग्रंथ की दो टीकाएँ उपलब्ध हुई हैं और दोनों ही गायकवाड़ संस्कृत सीरीज में (नं० २२, २३) प्रकाशित हो गई हैं। प्रथम टीका उमानंद नाथ की लिखी हुई 'नित्योत्सव' नामक है। इसे अशुद्ध समझकर रामेश्वर ने दूसरी वृत्ति लिखी। उमानन्दनाथ ने प्रथम मंगलाचरण के श्लोक में 'नाथ परम्परा' की स्तुति की है।[2] इस प्रकार त्रिपुरा मत के तांत्रिकों के आचार्य स्वयं अपने को 'नाथ मतानुयायी' कहते हैं। काश्मीर के कौल मार्ग में मत्स्येन्द्रनाथ को बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है।

अब थोड़ा-सा कापालिक मत के विषय में भी विचार किया जाय। कापालिक मत इस समय जीवित है या नहीं, इस विषय में संदेह ही प्रकट किया जाता है।[3]

---

१. बागची : कौलावलि निर्णय, भूमिका पृ० ३५
उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ५३८

२. नत्वा नाथ परंपरा शिवमुखां विद्येश्वरं श्री महा-
राज्ञीं तत्सचिवां तदीयपृतनानाथां तदन्तः पराम् —इत्यादि।

३. बंगाल में कपाली नाम की एक जाति है। पंडित लोग इसे कापालिक परंपरा का अवशेष मानते हैं। परन्तु स्वयं यह जाति इस बात को नहीं स्वीकार करती। ये

यामुनाचार्य के 'आगम प्रामाण्य' (पृ० ४८) से इस मत का थोड़ा-सा परिचय मिलता है। भवभूति के 'मालती माधव' नामक प्रकरण में कापालिकों का जो वर्णन है वह बहुत ही भयंकर है। वे लोग मनुष्य बलि किया करते थे। परन्तु इस नाटक से इतना तो स्पष्ट ही है कि उनका मत षटचक्र और नाड़िक-निचय के काया-योग से संबद्ध था।[१] यह काया-योग नाथपंथियों की अपनी विशेषता है। महामहोपाध्याय पं० हर प्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से जो संग्रह प्रकाशित किया है उसका एक भाग 'चर्याचर्यविनिश्चय' है। यहाँ सुझाया गया है कि ग्रंथ का वास्तविक नाम 'चर्याश्चर्यविनिश्चय' होना चाहिए। इसमें चौरासी बौद्ध सिद्धों में से चौबीस सिद्धों के रचित पद संग्रहीत हैं। एक सिद्ध हैं कान्हूपाद या कृष्णपाद। इनके रचित बारह पद उक्त संग्रह में पाए जाते हैं और सबसे अधिक पद इन्हीं के हैं। ये कान्हूपाद अपने को 'कापाली' या 'कापालिक' कहते हैं।[२] एक पद में उन्होंने अपने गुरु का नाम जालंधरि दिया है।[३] हम आगे चल कर देखेंगे कि जालंधरपाद नाथपंथ के बहुत प्रसिद्ध आचार्य थे। परवर्ती परंपरा के अनुसार भी कान्हूपाद या कानपा जालंधरनाथ के शिष्य बताए गए हैं। मानिकचन्द्र के 'मयनामतीरगान' में इन्हें नाथपंथी योगी जालंधर का शिष्य बताया है। इन्हीं जालंधर का नाम हाड़ीपा या हल्लीकपाद भी है। जालंधरनाथ ने कोई 'सिद्धान्त वाक्य' नामक संस्कृत पुस्तक भी लिखी थी। वह पुस्तक अब उपलब्ध नहीं है, पर एक श्लोक से पता चलता है कि जालधर नाथ-मार्ग के अनुयायी थे। इस श्लोक में नाथ की बड़ी सुन्दर स्तुति है।[४] स्कंदपुराण के काशीखण्ड में नव नाथों

लोग अपने को वैश्य कपाली कहने लगे हैं। इनके समस्त आचार आधुनिक हिंदुओं के हैं। इनके पुरोहित ब्राह्मण हैं परन्तु अन्य ब्राह्मण इन्हें हीन समझते हैं। सन् १९०१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार इनकी संख्या १४,७०० था।

१. नित्यन्यस्तषडंगचक्रनिहितं हृत्पद्ममध्योदितं
पश्यन्ती शिवरूपिणं लयवशादात्मानमभ्यागता।
नाड़ीनामुदयक्रमेण जगतः पचामृताकर्षणाद्
अप्राप्तोत्पतनश्रमा विघटयन्त्यग्रे नभोऽभोमुचः॥—मालती माधव ५-२

२. (१) आलो डोम्बि तोए संग करिब मो सांग।
निर्घन कान्ह कापालि जोइ लांग॥ चर्या०, पद १०
(२) कइसन होलो डोम्बि तोहरि भाभरि आलो।
अन्ते कुलीन जन माझे कावाली।
(३) तुलो डोम्बी हाउँ कपाली—वही, पद १०

३. शाखि करिब जालंधरि पाए।
साखि ण राहअ मोरि पांडिआ चादे॥—वही, पद ३६

४. जालंधर के 'सिद्धान्त वाक्य' में यह श्लोक है :

के विन्यास के सिलसिले में जालंधर नाथ का नाम पाया जाता है।[1] 'गोरक्षसिद्धांत संग्रह' (पृ० २०) पर कापालिक मत के प्रकट करने का मनोरंजक कारण बताया गया है। जब विष्णु ने चौबीस अवतार धारण किए और मत्स्य, कूर्म, नृसिंह आदि के रूप में तिर्यग् योनि के जीवों की सी क्रीड़ा करने लगे, कृष्ण के रूप में व्यभिचारि भाव ग्रहण किया, परशुराम के रूप में निरपराध क्षत्रियों का निपात आरम्भ किया, तो इन अनर्थों से कुपित होकर श्रीनाथ ने चौबीस कापालिकों को भेजा। इन्होंने चौबीसों अवतारों से युद्ध करके उनका सिर या कपाल काटकर धारण किया! इसीलिये ये लोग कापालिक कहलाए।

इस समय जयपुर के पावनाथ शाखा वाले अपनी परम्परा जालंधरनाथ और गोपीचन्द से मिलाते हैं। अनुश्रुति के अनुसार बहार पंथों में से छः स्वयं शिव के प्रवर्तित हैं और बाकी छः गोरखनाथ के। यह परम्परा लक्ष्य करने की है कि जालंधरिपा नामक जो संप्रदाय इस समय जीवित है वह जालंधरपाद का चलाया हुआ है। पहले इसे 'पा पंथ' कहते थे और नाथ-मार्ग से ये लोग स्वतंत्र और भिन्न थे। जालंधर या जालंधरनाथ को मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ से अलग करने के लिये कहा गया है। जालंधरनाथ औघड़ थे जब कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ कनफटा।[1] कान चीरकर मुद्रा धारण करने पर योगी लोग कनफटा कहलाते हैं परन्तु उसके पूर्व औघड़ कहे जाते हैं। परन्तु 'सिद्धान्त वाक्य' के जालंधरपाद का जो श्लोक पहले उद्धृत किया गया है उससे पता चलता है कि मुद्रा नाद और त्रिशूल धारण करने वाले नाथ ही इनके उपास्य है। आजकल जालधरिपा संप्रदाय के लोग गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित पावनाथी शाखा के ही हैं। परन्तु कानिपा सम्प्रदाय वाले, जिन्हें कोई-कोई जालन्धरिपा से अभिन्न भी मानते हैं और जो लोग अपने को गोपीचन्द का अनुवर्ती मानते हैं, बारहपंथियों से अलग समझे जात हैं।[2] सपेला या सँपेरे इसी संप्रदाय के माने जाते हैं। एक अन्य परपरा के अनुसार बामारग (वाममार्ग) सम्प्रदाय कानिपा पंथ से ही संबद्ध है।[3] इन बातों से यह अनुमान होता है कि कापालिक मार्ग का स्वतंत्र अस्तित्व था जो बाद में गोरखपंथी साधुओं में अन्तर्भुक्त हो गया है। गोरखपंथियों से कुछ बातों में ये लोग अब भी भिन्न हैं। गोरखपंथी लोग कान के मध्यभाग में ही कुण्डल धारण करते हैं पर कानिपा लोग कान की लोरों में भी उसे पहनते हैं। यह मुद्रा गोरखनाथी

वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरहं भानुतेजस्करं वा
सत्कर्तृ व्यापकं त्वा पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं वा
मुद्रानादत्रिशूलैर्विमलरुचिधरं खर्पर भस्ममिश्रं
द्वैत वाऽद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनं शंकरं वा—स०, भ०, सु०, पृ० २८

१. जालधरो वसेन्नित्यमुत्तरापथमाश्रितः।
२. ब्रिग्स : गोरखनाथ ऐण्ड दि कनफटा योगीज, पृ० ६७।
३. वही, पृ० ६८।

योगियों का चिह्न है। गोरक्षपंथ में इसके अनेक आध्यात्मिक अर्थ भी बताये जाते हैं। कहते हैं यह शब्द मुद् (प्रसन्न होना) और रा (आदान, ग्रहण) इन धातुओं से बना है। ये दोनों जीवात्मा और परमात्मा के प्रतीक हैं। चूंकि इससे देवता लोग प्रसन्न होते हैं और असुर लोग भाग खड़े होते हैं इसलिये इसे साक्षात्कल्याणदायिनी मुद्रा माना जाता है।[1] मुद्रा धारण के लिये कान का फाड़ना आवश्यक है और यह कार्य छुरी या क्षुरिका से ही होता है। इसीलिये 'क्षुरिकोपनिषद्' के छुरी का माहात्म्य वर्णित है।[2] तात्पर्य यह कि जो साधु कान फाड़कर मुद्रा धारण नहीं करते उनका गोरक्षनाथ के मार्ग से संबंध संदेहास्पद ही है। इस आलोचना से स्पष्ट होता है कि जालंधर (वा जलंधर) पाद और कृष्ण-पाद (कानिपा, कानुपा, कान्हूपा) द्वारा प्रवर्तित मत नाथ-संप्रदाय के अन्तर्गत तो था परन्तु मत्स्येन्द्रनाथ-गोरखनाथ परम्परा से भिन्न था। बाद में चलकर वह गोरखनाथी शाखा में अन्तर्भुक्त हुआ होगा।

जो हो, जालंधरपाद और कृष्णपाद कर्णकुण्डल धारण करते थे, या नहीं यह निश्चय करना आज के वर्तमान उपलभ्य सामग्रियों के आधार पर बहुत कठिन है। परन्तु 'चर्यापद' में शबरपाद का एक पद हमें ऐसा मिला है[3] जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कम से कम शबरपाद या तो स्वयं कर्णकुण्डल धारण करते थे या फिर उनके सामने ऐसे योगी जरूर थे जो कर्णकुण्डल धारण करते थे। पहली बात ज्यादा मान्य जान पड़ती है। इन शबरपाद को कृष्णपाद (कानपा) ने बहुत श्रद्धा और सम्मान के साथ याद किया है और एक दोहे में परम पद—महासुख के आवास-के प्रसंग में बताया है कि यही वह जालंधर नामक महामेरु गिरि के शिखर का उष्णीष कमल है—जो साधकों का चरम प्राप्तव्य है—जहाँ स्वयं शबरपाद ने वास

---

१. मुद् मोदे तु रादाने जीवात्मपरमात्मनोः।
उभयोरैक्यसंभूतिर्मुद्रेति परिकीर्तिता॥
मोदन्ते देवसंघाश्च द्रवन्तेऽसुरराशयः।
मुद्रेति कथिता साक्षात् सदाभद्रार्थदायिनी।—सिद्ध सिद्धान्त पद्धति

२. क्षुरिकां संप्रवक्ष्यामि धारणं योगसिद्धये।
संप्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तः प्रजायते।

३. एकेली सबरी ए बन हिण्डइ
कर्ण कुण्डल वज्रधारी—चर्या० पद २८।

इस पर टीका—कर्णेति नानास्थाने कुण्डलादि पञ्चमुद्रा निरंशुकालंकार कृत्वा वज्रनुपायज्ञानं विधृत्य युगवनद्धरूपेण अत्र कायपर्वत बने हिण्डति क्रीडति।
—बौ० गा० दो०, पृ० ४४।

किया था।[1] यदि यह अनुमान सत्य हो कि शबरपाद किसी प्रकार कर्णकुण्डल धारण करते थे तो यह अनुमान भी असंगत नहीं है कि उनके प्रति नितरां श्रद्धाशील कानपा भी कर्णकुण्डल धारण करते होंगे। अद्वयवज्र ने इस पद के इस शब्द की भी रूपक के रूप में व्याख्या की है।

यद्यपि यही विश्वास किया जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने या गोरक्षनाथ ने ही कर्णकुण्डल धारण करने की प्रथा चलाई थी तथापि कर्णकुण्डल कोई नई बात नहीं है। इस प्रकार के प्राचीन प्रमाण मिलते हैं जिससे अनुमान होता है कि कर्णकुण्डलधारी शिवमूर्तियाँ बहुत प्राचीन काल में भी बनती थीं। एलोरा गुफा के कैलाश नामक शिवमन्दिर में शिव की एक महायोगी मुद्रा की मूर्ति पाई गई है। इस मूर्ति के कान में बड़े-बड़े कुण्डल हैं। यह मंदिर और मूर्ति सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी की हैं। परन्तु ये कर्णकुण्डल कनफटा योगियों की भाँति नहीं पहने गये हैं। ब्रिग्स ने बम्बई की लिटरेरी सोसायटी के अनुवादों से उद्धृत करके लिखा है कि सालसटी, एलोरा और एलोफेंटा की गुफाओं में, जो आठवीं शताब्दी की हैं, शिव की ऐसी अनेक योगी-मूर्तियाँ हैं जिनके कान में वैसे ही बड़े-बड़े कुण्डल हैं जैसे कनफटा योगियों के होते हैं और उनको कान में उसी ढंग से पहनाया भी गया है। इसके अतिरिक्त मद्रास के उत्तरी आरकट जिले में परशुरामेश्वर का जो मन्दिर है उसके भीतर स्थापित लिंग पर शिव की एक मूर्ति है जिसके कानों में कनफटा योगियों के समान कुण्डल हैं। इस मंदिर का पुनः संस्कार सन् ११२६ ई० में हुआ था इसलिये मूर्ति निश्चय ही उसके बहुत पूर्व की होगी। टी० ए० गोपीनाथ राव ने 'इंडियन एंटिक्वेरी' के चालीसवें जिल्द (१९११ ई०) में इस लिंग का वर्णन दिया है। इनके मत से यह लिंग सन् ईसवी की दूसरी या शताब्दी के पहले का नहीं होना चाहिए। इन सब बातों को देखते हुए यह अनुमान करना असंगत नहीं कि मत्स्येंनाथ के पहले भी कर्णकुण्डलधारी शिवमूर्तियाँ होती थीं। इससे परम्परा का भी कोई विरोध नहीं होता क्योंकि कहा जाता कि शिवजी ने ही अपना वेश ज्यों का त्यों मत्स्येन्द्रनाथ को दिया था। एक अनुश्रुति के अनुसार तो शिव का वह वेश पाने के लिये मत्स्येन्द्रनाथ को दीर्घकाल तक कठोर तपस्या करनी पड़ी थी।

३. गोरखनाथी शाखा

नाथपंथियों का मुख्य संप्रदाय गोरखनाथी योगियों का है। इन्हें साधारणतः कनफटा और दर्शनी साधु कहा जाता है। कटफटा नाम का कारण यह है कि ये लोग

---

१. बरगिरि शिहर उतुंग मुनि
शबरे जहिं किअ बास।
णउ सो लघिअ पंचाननेहि
करिवर दुरिअ आस ॥२५॥ —बौ० गा० दो०, पृ० १३०।

कान फाड़कर एक प्रकार की मुद्रा धारण करते हैं। इस मुद्रा के नाम पर ही इन्हें 'दरसनी' साधु कहते हैं। यह मुद्रा नाना धातुओं और हाथी दाँत की भी होती है। अधिक धनी महन्त लोग सोने की मुद्रा भी धारण करते हैं। गोरखनाथी साधु सारे भारतवर्ष में पाए जाते हैं। पंजाब, हिमालय के पाद देश, बंगाल और बम्बई में ये लोग 'नाथ' कहे जाते हैं। ये लोग जो मुद्रा धारण करते हैं वे दो प्रकार की होती हैं—कुण्डल और दर्शन। 'दर्शन' का सम्मान अधिक है क्योंकि विश्वास किया जाता है कि इसे धारण करने वाले ब्रह्म-साक्षात्कार कर चुके होते हैं। कुण्डल को 'पवित्री' भी कहते हैं।

इन योगियों की ठीक-ठीक संख्या कितनी है यह मर्दमशुमारी की रिपोर्टों से भली-भाँति नहीं जाना जाता। जार्ज वेस्टन ब्रिग्स ने अपनी मूल्यवान पुस्तक 'गोरखनाथ एण्ड दी कनफटा योगीज' में भिन्न-भिन्न वर्षों की मनुष्य-गणना की रिपोर्टों से इनकी संख्या का हिसाब बताया है। सन् १८९१ की मनुष्य गणना में सारे भारतवर्ष में योगियों की संख्या २१४५४६ बताई गई थी। इसी वर्ष आगरा और अवध के प्रांतों में औघड़ ५३१९, गोरखनाथी २८८१६ और योगी (जिनमें गोरखनाथी भी शामिल हैं) ७८३८७ थे। इनमें औघड़ों को लेकर समस्त गोरखनाथियों का अनुपात ४५ फी सदी है। उसी रिपोर्ट के अनुसार योगियों में पुरुषों और स्त्रियों का अनुपात ४२ और ३५ का था। ये संख्याएँ विशेष रूप से मनोरंजक हैं क्योंकि साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि ये योगी लोग ब्रह्मचारी हुआ करते हैं। वस्तुतः इनमें गृहस्थ और घरबारी लोग बहुत है। यह समझना भूल है कि केवल हिन्दुओं में ही योगी हैं। उस साल की पंजाब की रिपोर्ट से पता चलता है कि ३८१३७ योगी मुसलमान थे। सन् १९२१ की मनुष्य-गणना में इसकी संख्या इस प्रकार है :—

जोगी हिंदू	६२९९७८	पुरुष/स्त्री	३२५/३०५
जोगी मुसलमान	३११५८	पुरुष/स्त्री	१६/ १५
फकीर हिंदू	१४११३२	पुरुष/स्त्री	८०/ ६१

मनुष्य-गणना की परवर्ती रिपोर्टों में इन लोगों का अलग से कोई उल्लेख नहीं है।[1] इतना निश्चित है कि जोगियों में कनफटा साधुओं की संख्या बहुत अधिक है।

गोरखनाथी लोग मुख्यतः बारह शाखाओं में विभक्त हैं। अनुश्रुति के अनुसार स्वयं गोरखनाथ ने परस्पर विच्छिन्न नाथपंथियों का संगठन करके इन्हे बारह शाखाओं में विभक्त कर दिया था। वे बारह पंथ ये हैं—सत्यानाथी, धर्मनाथी, रामपंथ, नटे-

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए गोरख नाथ एण्ड दि कनफटा योगीज, पृष्ठ ४-६।

श्वरी, कन्हड़, कपिलानी, वैराग, माननाथी, आईपंथ, पागलपंथ, धजपंथ और गंगा-नाथी। इन बारह पंथों के कारण ही शंकराचार्य के दशनामी संन्यासियों की भाँति इन्हें 'बारहपंथी योगी' कहा जाता है। प्रत्येक पंथ का एक-एक विशेष 'स्थान' है जिसे ये लोग अपना पुण्य क्षेत्र मानते हैं। प्रत्येक पंथ किसी पौराणिक देवता या महात्मा को अपना आदि प्रवर्तक मानता है। गोरखपुर के प्रसिद्ध सिद्ध महंत बाबा गंभीरनाथ के एक बंगाली शिष्य ने, संभवतः गोरखपुर की परम्परा के आधार पर, इन बारह पंथों का विवरण पृष्ठ १३ के अनुसार दिया है[1]—

एक अनुश्रुति के अनुसार शिव ने बारह पंथ चलाए थे और गोरखनाथ ने भी बारह ही पंथ चलाये थे। ये दोनों दल आपस में झगड़ते थे इसलिये बाद में स्वयं गोरखनाथ ने अपने छः तथा शिवजी के छः पंथों को तोड़ दिया और आजकल की बारह-पंथी शाखा की स्थापना की। यह अनुश्रुति पागल बाबा नाम के एक औघड़ साधु से सुनी हुई है। ब्रिग्स ने किसी और परम्परा के अनुसार लिखा है कि शिव के अट्ठारह पंथ थे और गोरखनाथ के बारह। पहले मत के बारह को और दूसरे के छः पंथों को तोड़ कर आधुनिक बारह पंथी शाखा बनी थी।[2] इन दोनों अनुश्रुतियों में पहली अधिक प्रामाणिक होगी। क्योंकि सांप्रदायिक ग्रंथों में शिव के दो प्रधान शिष्य बताए गए हैं—मत्स्येन्द्रनाथ और जालंधरनाथ। मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरखनाथ थे। जालंधरनाथ द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय कापालिक मार्ग होगा, इसका विचार हम पहले ही कर आये हैं। इन कापालिकों के बारह ही आचार्य प्रसिद्ध हैं। (आचार्य और शिष्यों के नाम के लिये दे० पृ० ४ की टिप्पणी)। पुनर्गठित बारह संप्रदाय इस प्रकार हैं[3]—

शिव द्वारा प्रवर्तित

१. भूज (कच्छ) के कंठरनाथ।
२. पेशावर और रोहतक के पागलनाथ।
३. अफगानिस्तान के रावल।
४. पंख या पंक।

---

१. गंभीरनाथ प्रसंग, पृ० ५०-५१।
२. ब्रिग्स : पृ० ६३।
३. ब्रिग्स : पृ० ६३ के आधार पर। इन संप्रदायों की यह सर्वसम्मत सूची नहीं समझी जानी चाहिए।

सं०	नाम	मूलप्रवर्तक	स्थान	प्रदेश	विशेष
१	सत्यनाथी	सत्यनाथ	पाताल भुवनेश्वर	उड़ीसा	सत्यनाथ स्वयं ब्रह्मा का ही नाम है। इसलिये ये लोग 'ब्रह्मा के योगी' कहलाते हैं।
२	धर्मनाथी	धर्मराज (युधिष्ठिर)	दुल्लुदेलक	नेपाल	....
३	रामपंथ	श्रीरामचंद्र	चोक तप्पे पंचौरा	गोरखपुर (युक्तप्रांत)	इस समय ये लोग गोरखपुर के स्थान को ही अपना स्थान मानते हैं।
४	नाटेश्वरी	लक्ष्मण	गोरखटिला	झेलम (पंजाब)	इनकी दो शाखाएँ हैं—नाटेश्वरी और दरियापंथी।
५	कन्हड़	गणेश	मानफरा	कच्छ	...
६	कपिलानी	कपिलमुनि	गंगासागर	बंगाल	इस समय कलकत्ते (दमदम) के पास 'गोरखवंशी' इनका स्थान है।
७	बैरागपथ	भर्तृहरि	रक्तढाडा	पुष्कर के पास अजमेर	....
८	माननाथा	गोपीचंद	अज्ञात	—	इस समय जोधपुर का महामन्दिर मठ ही इनका स्थान है।
९	आई पथ	भगवती विमला	जोगी गुफा या गोरख कुंई	बंगाल के दिनाजपुर जिले में	
१०	पागलपंथ	चौरंगीनाथ (पूरनभगत)	अबोहर	पंजाब	....
११	धजपथ	हनुमानजी	—	—	....
१२	गंगानाथा	भीष्म पितामह	जखबार	गुरुदासपुर (पंजाब)	...

५. मारवाड़ के बन
६. गोपाल या राम के

गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित

१. हेठनाथ
२. आईपंथ के चोलीनाथ
३. चाँदनाथ के कपिलानी
४. रतढोंडा, मारवाड़ का बैरागपंथ और रतननाथ
५. जयपुर के पावनाथ
६. धजनाथ महाबीर

इन शाखाओं की बहुत-सी उपशाखाएँ हैं। कुछ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध उपशाखाओं का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। परन्तु इतना ध्यान में रखना चाहिए कि इन बारह पंथों के बाहर भी ऐसे अनेक संप्रदाय हैं जिनका स्पष्ट संबंध इन छः मार्गों से नहीं जोड़ा जा सका है। हो सकता है कि वे गोरखनाथ द्वारा तोड़ दिए हुए कुछ पंथों के अनुयायी ही हों। ये लोग शिव या गोरखनाथ से अपना सम्बन्ध किसी न किसी तरह जोड़ ही लेते हैं।

ऊपर जिन बारह मुख्य पंथों के नाम गिनाए गए हैं वे ही पुराने विभाग हैं। पर आजकल बारह पंथों में निम्नलिखित पंथ ही माने जाते हैं—(१) सतनाथ, (२) रामनाथ, (३) धरमनाथ, (४) लक्ष्मणनाथ, (५) दरियानाथ, (६) गंगानाथ (७) बैराग, (८) रावल या रागनाथ, (९) जालंधरिपा, (१०) आईपंथ, (११) कपिलानी और (१२) धजनाथ। गोरखपुर में सुनी हुई परम्परा के अनुसार चौथी संख्या नाटेसरी और पाँचवीं कन्हड़ है। आठवीं संख्या माननाथी, नवी आईपंथ और दसवीं पागलपंथ है। ऊपर के संबंधों का विवेचन करने पर दोनों अनुश्रुतियों में कोई विशेष अंतर नहीं दिखता। केवल एक के अनुसार जो उपशाखा है वह दूसरी के अनुसार पंथ है। तेरहवाँ महत्वपूर्ण पंथ कानिपा का है जिसके विषय में ऊपर (पृ० ७) थोड़ी चर्चा हो चुकी है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक पंथ हैं जिनका किसी बड़ी शाखा से सम्बन्ध नहीं खोजा जा सका। हाथी भारंग की चर्चा ऊपर हो चुकी है। वे लोग बम्बई में रसोइए का काम करते पाये जाते हैं। गोरखनाथ के एक शिष्य सक्करनाथ थे जिन्हें उनके रसोइए ने स्वाद जानने के लिये पहले ही चखकर बनाई हुई दाल दी थी। इसी अपराध के कारण चार वर्ष तक उसे गले में डाँड़ी बाँधकर भीख माँगने का दंड दिया गया। बाद में सिद्धि प्राप्त करने के कारण इन्होंने अपना अलग पंथ चलाया। मुख्य

स्थान पूने में है। इसके अतिरिक्त कायिकनाथी, पायलनाथी, उदयनाथी, आरयपंथी, फीलनाथी, चर्पटनाथी,[१] गैनी या गाहिणीनाथी,[२] निरंजननाथ,[३] वरंजोगी, पा-पंथ, कामभज, काषाय, अर्धनारी, नायरी, अमरनाथ, कुंभीदास, तारकनाथ,[४] अमापंथी, भृगनाथ[५] आदि अनेक उपशाखाएँ हैं जिनका विस्तार समूचे भारतवर्ष और सुदूर अफगानिस्तान तक है।[६]

एक दूसरी परम्परा के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ ने चार सम्प्रदाय चलाये थे — गोरखनाथी, मंगल या अरजनंगा (रावल) मीननाथ सिवतोर, पारसनाथ पूजा अंतिम दोनों जैन हैं।

गोरक्ष[७] के निम्नलिखित शिष्यों ने पंथ चलाए—

---

१. वर्ण रत्नाकर के इकतीसवें सिद्ध, हठ० के १६वें सिद्ध तथा तिब्बती परम्परा के ५८वें सिद्ध का नाम चर्पटी या चर्पटीनाथ है।

२. नामदेव परम्परा के गैनीनाथ और बहिनीबाई की परम्परा के गाहिनी नामक सिद्धों का उल्लेख है।

३. हठ० के बीसवें सिद्ध।

४. तारकनाथ विलेशय के शिष्य थे—यो० सं० आ०, पृ० २४६।

५. नेपाल राज के कमंडलु में भृंग रूप से प्रवेश करने के कारण मत्स्येन्द्रनाथ का एक नाम भृंगनाथ था। कौल ज्ञान निर्णय पृ० ५८, श्लोक १७ में मत्स्येंद्रनाथ को भृंगपाद कहा गया है।

६. ब्रिग्स : पृ० ७३-७४।

७. योगि संप्रदाया विष्कृति के अनुसार मत्स्येंद्रनाथ और जालंधरनाथ (ज्वालेंद्रनाथ) की शिष्य परम्परा इस प्रकार है—

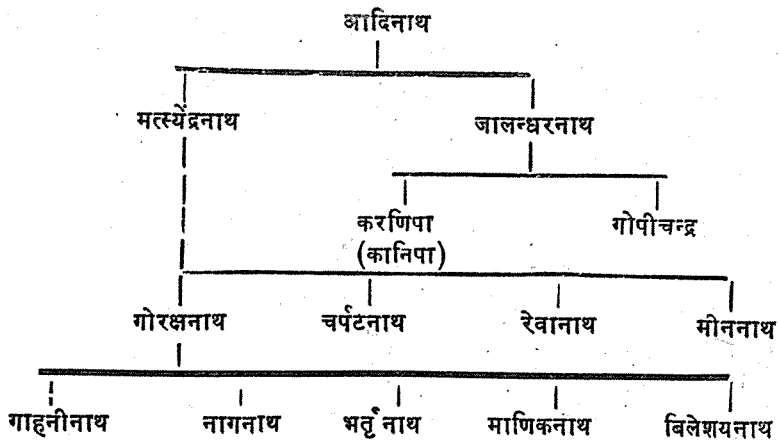

कपिलमुनि, करकाई, भूष्टाई, सक्करनाथ, संतनाथ, संतोषनाथ और लक्ष्मण-नाथ।

कपिल मुनि के शिष्य अजयपाल हुए जिन्होंने कपिलानी पंथ चलाया। इसी परम्परा में एक दूसरे सिद्ध गंगानाथ हुए जिनका अलग पंथ चला।

करकाई शाखा में आईपंथ के प्रवर्तक चोलीनाथ हुए। इनका सम्बन्ध भूष्टाई से भी बताया जाता है।

सक्करनाथ का कोई अपना सम्प्रदाय नहीं है पर हाड़ी भरंग संप्रदाय उनके ही शिष्य का प्रवर्तित है।

संतनाथ के शिष्य धर्मनाथ हुए जिन्होंने अपना पंथ चलाया। सन्तोषनाथ के शिष्य रामनाथ हुए। जाफिर पीर भी इन्हीं के साथ अपना सम्बन्ध बताते हैं।

लक्ष्मणनाथ की शाखा में नटेसरी और दरियानाथ पड़ते हैं।

जालंधरनाथ के दो शिष्य हुए—भरथरीनाथ और कानिपा।

कानिपा संप्रदाय से सिद्ध सांगरी संप्रदाय उद्भूत हुआ।

४. नाथ योगी का वेश

नाथ योगी को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। मेखला, शृङ्गी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्ण-मुद्रा, बघंबर, झोला आदि चिह्न ये लोग धारण करते हैं। पहले ही बताया गया है कि कान फाड़कर कुंडल धारण करने के कारण ये लोग कनफटा कहे जाते हैं। कान फड़वाने की प्रथा किस प्रकार शुरू हुई इस विषय में नाना प्रकार की दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। कुछ लोग बताते हैं कि स्वयं मत्स्येंद्र नाथ (मछन्दरनाथ) ने इस प्रथा का प्रवर्त्तन किया। उन्होंने शिव के कानों में कुण्डल देखा था और उसे प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या की थी, एक दूसरा विश्वास यह है कि गोपीचन्द्र की प्रार्थना पर जालन्धरनाथ ने इस पंथ के योगियों को अन्य सम्प्रदाय वालों से विशिष्ट करने के लिये इस प्रथा को चलाया था। कुछ लोगों का कहना है कि गोरख-नाथ ने भरथरी का कान फाड़कर इस प्रथा को चलाया था। भरथरी के कान में गुरु ने मिट्टी का कुण्डल पहनाया था। अब भी बहुत-से योगी मिट्टी का कुण्डल धारण करते हैं परन्तु इसके टूटने की सदा आशंका बनी रहती है इसलिये धातु या हरिण के सींग की मुद्रा धारण की जाती है। जो विधवा स्त्रियाँ सम्प्रदाय में दीक्षित होती हैं वे भी कुण्डल धारण करती हैं और गृहस्थ योगियों की पत्नियाँ भी इसे धारण करते पाई जाती हैं। गोरखपंथी लोग किसी शुभ दिन को (विशेष कर वसन्त पंचमी को) कान को चिरवाकर मंत्र के संस्कार के साथ इस मुद्रा को धारण करते हैं। उन लोगों का विश्वास है कि स्त्रियों के दर्शन से घाव पक जाता है इसलिये जब तक घाव अच्छा नहीं हो जाता तब तक स्त्री-दर्शन से बचने के लिये किसी कमरे में बन्द रहते हैं, और

फलाहार करते हैं।[१] कान का फट जाना भावाजोखी का व्यापार माना जाता है। जिस योगी का कान खराब हो जाता है वह सम्प्रदाय से अलग हो जाता है और पुजारी का अधिकार खो देता है।[२] यह कर्णकुण्डल निस्संदेह योगी लोगों का बहुत पुराना चिह्न है परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो इसे नहीं धारण करते। ये लोग औघड़ कहे जाते हैं। औघड़ लोगों का जब कर्णमुद्रा-संस्कार हो जाता है तब उन्हें योगी कनफटा कहा जाता है। ऐसे भी औघड़ हैं जो आजीवन कर्णमुद्रा धारण करते ही नहीं। कहते हैं कि हिंगलाज में दो सिद्ध एक शिष्य का कान चीरने लगे पर हरबार छेद बन्द हो जाता था। तभी से औघड़ लोग चिरवाते ही नहीं।[३] सुधारक मनोवृत्ति के योगी लोग मानते हैं कि श्रीनाथ ने यह प्रथा इसलिये चलाई होगी कि कान चिरवाने की पीड़ा के भय से अनधिकारी लोग इस सम्प्रदाय में प्रवेश ही नहीं कर सकेंगे।[४]

पद्मावत में मलिक मुहम्मद जायसी ने योगियों के वेश का सुन्दर वर्णन दिया है। उस पर से अनुमान किया जा सकता है कि योगियों का जो वेश आज है वह दीर्घ काल से चला आ रहा है। योगी वेश धारण करने वाले रतनसेन राजा ने हाथ में किंगरी, सिर पर जटा, शरीर में भस्म, मेखला, शृङ्गी, योग को शुद्ध करने वाला धँधारी चक्र, रुद्राक्ष और अधार (आसन का पीढ़ा) धारण किया था। कंथा पहन कर हाथ में सोंटा लिया था और 'गोरख-गोरख' की रट लगाता हुआ निकल पड़ा था, उसने कान में मुद्रा, कंठ में रुद्राक्ष की माला, हाथ में कमण्डल, कंधे पर बघम्बर (आसन के लिये), पैरों में पाँवरी, सिर पर छाता और बगल में खप्पर धारण किया था। इन सबको उसने गेरुए रंग में रंगकर लाल कर लिया था।[५] कबीरदास के अनेक पदों से पता चलता है कि जोगी लोग मुद्रा, नाद, कंथा, आसन, खप्पर, झोली, विभूति, बटुवा आदि धारण करते थे, यंत्र अर्थात् सारंगी यंत्र का व्यवहार करते थे (गोपीचन्द्र का चलाया हुआ होने के कारण सारंगी को गोपीयंत्र कहते हैं), मेखला और भस्म धारण करते थे। (क० ग्रं० २०५, २०६, २०७, २०८) और अजपा जाप करते थे (२०९)[६] इसी प्रकार सूरदास भ्रमरगीत में गोपियों ने जिन योगियों की चर्चा की है उनका भी यही वेश वर्णित है।

---

१. सु० चं०, पृ० २४१।

२. ब्रिग्स : पृ० ८-९।

३. ट्रा० का० सें० प्रो० श्य भाग पृ० ३९८, ब्रिग्स ने लिखा है कि औघड़ लोगों को योगियों से आधी ही दक्षिणा मिलती है। कहीं-कहीं समान भी मिलती है।

४. यो० सं० आ०।

५. पद्मावत, जोगी खंड, १२, १२८।

६. बंगाल के पुराने नाथपंथी अपने को योगी या कापालिक कहते थे। वे कान में मनुष्य की हड्डियों का कुण्डल और गले में हड्डियों को ही माला धारण करते थे। पैरों में ये लोग नूपुर और हाथ में नर कपाल लेते थे और शरीर में भस्म

इन चिह्नों में किंगरी एक प्रकार की चिकारी है जिसे पौरिये या भर्तृहरि के गीत गाने वाले योगी लिये फिरते हैं, मेखला मूंज की रस्सी का कटिबंध है[1] और सींगी हरिण के सींग का बना हुआ एक बाजा है जो मुँह से बजाया जाता है। औघड़ और योगी दोनों ही एक प्रकार का 'जनेव' धारण करते हैं जो काले भेडे की ऊन से बनाया जाता है। हर कोई उसे नहीं बना सकता है। संप्रदाय के कुछ लोग ही, जो इस विद्या के जानकार होते हैं, उसे बनाते हैं। ब्रिग्स (पृ० ११) ने लिखा है कि कुमार्यूं के योगी के रुई के सूत का 'जनेव' भी धारण करते हैं। इसी सूत में एक गोल 'पवित्रा' बंधी रहती है जो हरिण की सींग या पीतल तांबा, आदि धातु से बनी होती है। इसमें रुई के सफेद धागे से शृङ्गी (सिंगी नाद) नाम की सीटी बँधी रहती है और रुद्राक्ष की एक मनिया भी झूलती रहती है। प्रातः और संध्याकालीन उपासना के पूर्व और भोजन ग्रहण करने के पूर्व योगी लोग इसे बजाया करते हैं। इस सिंगनाद के बंधे रहने के कारण ही 'जनेव' को 'सिंगीनाद-जनेव' कहते हैं। मेखला सब योगी नहीं धारण करते। कुछ योगी काले भेड़े के ऊन की बनी मेखला कमर में बाँधते हैं। लँगोटी पहनने में इस मेखला का उपयोग होता है। एक और प्रकार की मेखला होती है जिसे धारण करने के बाद योगी को भिक्षा के लिये निकलना ही पड़ता है। इसे हाल मटंगा कहते हैं।[2] ऐसे योगी भी हैं जो सिंगनाद जनेव नहीं धारण करते और दावा करते हैं कि ये चिह्न उन्होंने अन्तर में धारण किया है या चमड़े के नीचे पहने हुए हैं। मस्तनाथ नामक सिद्ध के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने चमड़े के नीचे जनेव दिखा दिया था। कबीरदास ने उसी योगी को योगी कहना उचित समझा था जो इन चिह्नों को मन में धारण करता है।[3]

'धंधारी' एक तरह का चक्र है। गोरखपंथी साधु लंहे या लकड़ी की शला-

---

लगाया करते थे—श्रीसुकुमार सेन : प्राचीन बाङाल ओ बाङ्गाली, विश्वविद्या-संग्रह सिरीज शांति निकेतन, पृ० ३३। ऐसा जान पड़ता है कि कर्णकुण्डल धारण करने की प्रथा बहुत पुरानी है साधन माला नामक वज्रयानी साधन ग्रंथों में 'हेरुक' के ध्यान में कहा गया है कि वे कानों में नरास्थि की माला धारण करते हैं। इसकी चर्चा हम आगे करगे।

१. सु० चं० : पृ० २३८, २३९।

२. ब्रिग्स : पृ० ११, १२।

३. सो जागी जाके मन में मुद्रा।
रात दिवस ना करई निद्रा ॥टेक॥
मन में आसण मन में रहणां। मन का जप तप मन सूं कहँणां॥
मन षपरा मन में सींगी। अनहदनाद बजावै रंगी॥
पंच प्रजारि भसम करि भूका। कहै कबीर सो लहसै लंका॥
—क० ग्रं०, पद २०६, पृ० १५८।

काओं के हेर-फेर से चक्र बना कर उसके बीच में छेद करते हैं। इस छेद में कौड़ी या मालाकार धागे को डाल देते हैं। फिर मंत्र पढ़कर उसे निकाला करते हैं। बिना क्रिया जाने उस चक्र में से सहसा किसी से डोरा या कौड़ी नहीं निकल पाती। ये चीजें चक्र को शालाकाओं में से इस प्रकार उलझ जाती हैं कि निकलना कठिन पड़ जाता है। जो निकालने की क्रिया जानता है वह उसे सहज ही निकाल सकता है। यही 'धाँधरी' या गोरखधंधा है। गोरखपंथियों का विश्वास है कि मंत्र पढ़-पढ़कर गोरख-धंधे से डोरा निकालने से गोरखनाथ की कृपा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं और संसारचक्र में उलझे हुए प्राणियों को डोरे की भाँति इस भवजाल से मुक्त कर देते हैं।[1]

रुद्राक्ष की माला प्रसिद्ध ही है। योगी लोग जिस माला को धारण करते हैं। उसमें ३२, ६४, ८४ या १०८ मनके होते हैं। छोटी मालायें जिन्हें 'सुमिरनी' कहते हैं १८ या २८ मनकों की होती है और कलाई में बँधी रहती है। रुद्राक्ष शब्द का अर्थ रुद्र या शिव की आँख है। तंत्रशास्त्र के मत से यह माला जप कार्य में विशेष फल-दायनी होती है। इस रुद्राक्ष मे जो खरबूजे के फाँक जैसी जो रेखाएँ होती हैं उसे 'मुख' कहते हैं। जप में प्रायः पंचमुखी रुद्राक्ष का विशेष महत्त्व है एकमुखी रुद्राक्ष बड़ा शुभ माना जाता है। घर में उसके रहने से लक्ष्मी अविचल होकर बसती हैं। जिसके गले में एकमुखी रुद्राक्ष हो उस पर शस्त्र की शक्ति नहीं काम करती—ऐसा विश्वास है। एकमुखी रुद्राक्ष असल में एकमुखी ही है या नहीं इस बात की परीक्षा के लिये प्रायः भेड़े के गले में बाँध कर परीक्षा की जाती है। यदि भेड़े की गर्दन शस्त्र से कट जाय तो वह नकली माना जाता है। यदि न कटे तो सच्चा एक मुखी रुद्राक्ष समझा जाता है।[2] ग्यारह मुख वाला रुद्राक्ष भी बहुत पवित्र समझा जाता है। गृहस्थ योगी साधारणतः दोमुख वाले रुद्राक्ष से जप करने का अधिक फलदायक मानते हैं।

'अधारी' (=आधार) काठ के डंडे में लगा हुआ काठ का पीढ़ा आसा) है जिसे योगी लोग प्रायः लिये फिरते है और जहाँ कहीं रख कर उस पर बैठ जाते हैं। बिना अभ्यास के इस पर बैठ सकना असंभव है।[3] कंथा गेरुए रंग की सुजनी का चोलना है जो गले में डाल लेने से अंग को ढाँक लेता है। इसी को गूदरी कहते हैं। यह फटे पुराने चिथड़ों को बटोर कर सी ली जानी चाहिए। गेरुआ या लाल रंग ब्रह्मचर्य का साधक माना जाता है। इसे धारण करने से वीर्यस्तंभ की शक्ति बढ़ती है। क्रुक्स ने एकदन्त कथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार पार्वती ने पहले-पहल अपने रक्त से रंग कर एक चोलना गोरखनाथ को दिया था। कहते हैं तभी से लाल (गेरुआ) रंग योगी लोगों का रंग हो गया है। 'सोंटा' झाड़ फूंक करन का डंडा है जो हाथ डेढ़ हाथ के काले रूलर के ऐसा होता है। बहुत से योगी इसे भैरवनाथ का और

---

१. सु० चं० : पृ० २३८।
२. वही : पृ० २५०।
३. वही : पृ० २४०।

बहुत से गोरखनाथ का डंडा या सोंटा कहते हैं।[1] योगी लोग शरीर में भस्म लगाते हैं और ललाट पर और बाहुमूल तथा हृदय देश पर भी त्रिपुण्ड्र लगाया करते हैं। गूदरी का धारण करना योगी के लिये आवश्यक नहीं है। बहुत योगी तो आरबंद (मेखला) से बंधी हुई लँगोटी ही भर धारण करते हैं और बहुत से ऐसे मिलते हैं जो लँगोटी भी नहीं धारण करते।[2] 'खप्पर' मिट्टी के घड़े के फोड़े हुए अर्द्ध भाग को कहते हैं। आज कल यह दर्यायी नारियल का बनता है। बहुत से योगी काँसे का भी खप्पर रखते हैं इसलिए खप्पर को 'काँसा' भी कहते हैं। खप्पर का एक मनोरंजक अवशेष 'जोगीड़े' नामक अश्लील गानों के गाते समय लिया हुआ चौड़े मुँह का वह घड़ा है जिसमें गुरु लोग आँख रखकर जादू से हाथ पर लिये फिरते हैं।[3]

योगि संप्रदाया विष्कृति' नामक ग्रंथ में[4] इन चिह्नों के धारण करने की विधि और कारण के बारे में यह मनोरंजक कहानी दी हुई है। जब मत्स्येन्द्रनाथजी से प्रसन्न होकर शिवजी ने कहा कि तुम वर माँगो तो उन्होंने शिवजी का स्वरूप ही वरदान में माँगा। शिवजी ने पहले तो इतस्ततः किया पर मत्स्येन्द्रनाथ की तपस्या से प्रसन्न होकर अन्त में अपना वेश दान करने को राजी हो गये। फिर प्रथम तो सिर में विभूति डालकर भस्म-स्नान कराया और उसका यह तात्पर्य बताया कि यह भस्म अर्थात् मृत्तिका है, इसके शरीर में धारण का अभिप्राय यह है कि योगी अपने को मानापमान के अतीत जड़धरित्री के समान समझे या अग्नि संयोग के भस्म रूप में परिणत हुए काठ की तरह ज्ञानाग्नि दग्ध होकर अपनी कठोरता आदि को छोड़ दे और ज्ञानाग्नि के संयोग से अपने कृत्यों को भस्मसात् कर दे। फिर जलस्नान कराया और उसके दो अभिप्राय बताए। एक तो यह कि मेघ जिस प्रकार जल को समान भाव से भूतभाव के लिये वितरण करता है। इसी प्रकार तुम समस्त प्राणियों के साथ समान व्यवहार करना और दूसरा यह कि पानी जिस प्रकार तप्त होने पर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता उसी प्रकार तुम भी अपना स्वभाव न छोड़ना। इसके अनन्तर श्री महादेवजी ने उन्हें 'नाद-जनेउ' पहनाया और उसका यह अभिप्राय समझाया—काष्ठादि का बनाया हुआ यह नाद है। नाद अर्थात् शब्द। इसके धारण करने का मतलब यह हुआ कि अब से शिष्य अपनी उत्पत्ति 'नाद' से समझे। (शब्द गुरु और श्रोता चेला —ऐसा योगियों का सिद्धान्त है) और यह ऊर्णादि निर्मित 'जनेउ' जिस प्रकार संसार के अन्य 'जनेउओं' से भिन्न है उसी प्रकार तुम अपने को संसार से भिन्न समझना। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के धारण करने का ठाक-ठीक कारण समझाने के बाद महादेव जी के कुण्डलादि अपने अनेक चिह्न मत्स्येंद्रनाथजी को दिये। तभी से संप्रदाय में यह

---

१. सु० चं० : पृ० २४०।
२. ब्रिग्स : पृ० १८-२०।
३. सु० चं० : पृ० २४१।
४. यो० सं० आ०, पृ० २०-२१।

प्रथा प्रचलित हुई। इतना लिखने के बाद ग्रंथकार ने बड़े खेद के साथ लिखा है कि आजकल संप्रदाय में इन अभिप्रायों को कोई नहीं जानता। इस ज्ञान के अभाव का कारण उन्होंने यह बताया है कि धनाढ्य महन्त लोग शिमला, मंसूरी, नैनीताल और उनके पीछे उनके स्थानों पर उन्हीं के नाम पर शिष्य बनाए जाते हैं। अब भला जिस शिष्य ने वेश ग्रहण करने के समय जिस व्यक्ति के शब्द को गुरु समझा है उसका मुँह-मत्था भी नहीं देखा वह उन चिह्नों का क्या अभिप्राय समझ सकता है!

इब्नबतूता नामक मिस्री, पर्यटक जब भारत आया था तो उसने इन योगियों को देखा था। उसने लिखा है कि उन (योगियों) के केश पैर तक लम्बे होते हैं, सारे शरीर में भभूत लगी रहती है और तपस्या के कारण उनका वर्ण पीत हो गया होता है। चमत्कार प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त करने के इच्छुक बहुत से मुसलमान भी इनके पीछे लगे फिरते हैं, मावश उन्नहर के सम्राट 'तरम शीरीं' के कैंप में बतूता ने इनको सर्वप्रथम देखा था। गिनती में ये पूरे पचास थे। इनके रहने के लिये धरती में गुफाएँ बनी हुई थीं और वहीं ये अपना जीवन व्यतीत करते थे केवल शौच के लिये बाहर आते थे और प्रातः सायं रात्रि में शृङ्ग के सादृश्य किसी वस्तु को बजाया करते थे।[1] इब्नबतूता ने इन योगियों की अद्भुत कराामातों को स्वयं देखा था। बतूता की गवाही पर यह मान लिया जा सकता है कि दीर्घकाल से साधारण जनता इन योगियों को भय की दृष्टि से देखती रही है। उन दिनों ग्वालियर के पास किसी बरौन नामक ग्राम में एक बाघ का बड़ा उपद्रव था। लोगों ने बतूता को बताया कि वह कोई योगी है जो बाघ का रूप धर के लोगों को खा जाता है।[2]

कबीरदास के जमाने में ही योगियों का सैनिक संगठन हो चुका था। उन्होंने इन योगियों की इस विचित्र लीला का बड़ा मनोहर वर्णन दिया है। सोलहवीं शताब्दी में इन योगियों से सिक्खों की घनघोर लड़ाई हुई थी। दिनोधर के मठ की दीवारों में शस्त्र फेंकने के लिये छिद्र बने हुए हैं जो निश्चय ही आत्मरक्षा के उद्देश्य से बने होंगे।

---

१. इ० भा० या० : पृ० २८२-३।

२. वही, पृ० २८८।

३. ऐसा जोग न देखा भाई। भूला फिरै लिये गाफिलाई॥
महादेव को पंथ चलावै। ऐसो बड़ो महंत कहावै॥
हाट बजारैं लावैं तारी। कच्चे सिद्धन माया प्यारी॥
कब दत्ते मावासी गोरी। कब सुख देव तोपची जोरी॥
नारद कब बंदूक चलाया। व्यासदेव कब बंब बजाया॥
करइँ लराई मनि कै मंदा। ई अतीत की तरकस बंदा॥
भए विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावैं बाना॥
घोरा घोरी कीम बटोरा। गाँव पाय जस चलैं करोरा॥

—बीजक ६८वीं रमैनी

कच्छ के योगी सोलहवीं शताब्दी में भयंकर हो उठे थे वे अतीथों को जबरर्दस्ती कन-फटा बनाते थे। बाद में अतीथों ने संगठित होकर लोहा लिया था। इन अतीथों का प्रधान स्थान जूनागढ़ था। इस लड़ाई में योगियों की शक्ति टूट गई थी।[1]

५. गृहस्थ योगी

नाथमत की मानने वाली बहुत-सी जातियाँ घर बारी हो गई हैं। भारतवर्ष के हर हिस्से में ऐसी जातियों का अस्तित्व पाया जाता है। शिमला पहाड़ियों के नाथ अपने को गोरखनाथ और भरथरी का अनुयायी मानते हैं। ये लोग गृहस्थ होकर एक जाति ही बन गए हैं। यद्यपि ये भी कान चीर कर कुण्डल ग्रहण करते हैं पर इनकी मर्यादा कनफड़े योगियों से हीन मानी जाती है। ये उत्तरी भारत के महाब्राह्मणों के समान श्राद्ध के समय दान पाते हैं।[2] ऊपरी हिमालय के नाथों में भी कान चिरवा कर कुण्डल धारण करने की प्रथा है परन्तु घर में कोई एक या दो आदमी ही ऐसा करते हैं। ऐसा करने वाले 'कनफटा नाथ' कहलाते हैं। ये भी गृहस्थ हैं। और इनको मर्यादा भी बहुत ऊँची नहीं है। हेसी जैसी नीच समझी जाने वाली जाति के लोग भी इनका अन्न जल नहीं ग्रहण करते।[3] अलमोड़े में सतनाथी और धर्मनाथी सम्प्रदाय के गृहस्थ योगी हैं। इनके परिवार का कोई एक लड़का कान में कुण्डल धारण कर लेता है।[4] योगियों में विवाह की प्रथा भी पाई जाती है। कहीं-कहीं ब्राह्मण विवाह का संस्कार कराते हैं और कहीं-कहीं नाथ-ब्राह्मण नामक जाति। पंजाब में गृहस्थ योगियों को रावल कहा जाता है। ये लोग भीख-माँगकर, करामात दिखाकर, हाथ देखकर अपनी जीविका चलाते हैं। पंजाब के संयोगी अब एक जाति ही बन गए हैं। अम्बाला के संयोगियों के बारह पंथ भी हैं पर ये सब गृहस्थ हैं। गढ़वाल के नाथ भैरव के उपासक हैं। नादी-सेली पहनते हैं और सन्तान भी उत्पन्न करते हैं। अब यह भी एक अलग जाति बन गये हैं।[5]

साधारणतः वयनजीवी जातियाँ जैसे तांती जुलाहे, गड़ेरिए, दरजी आदि नाथ मत के मानने वाले गृहस्थों में पड़ती हैं। सूत का रोजगार योगी जाति का पुराना व्यवसाय है। बहुत-सी गृहस्थ योगियों की जातियाँ मुसलमान हो गई है और अपने को अब भी गिरस्त या गृहस्थ कहती हैं। अलईपुरा के जुलाहे ऐसे ही हैं।[6] हमने अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में दिखाया है कि कबीरदास ऐसी ही किसी गिरस्त योगी

---

१. ग्लो० पं० ट्रा० का०, पृ० १६५।
२. वही : पृ० १६५।
३. वही : पृ० १३५।
४. ब्रिग्स : पृ० ४७।
५. गढ़वाल का इतिहास : पृ० २०१।
६. श्री राय कृष्णदास जी के एक पत्र के आधार पर।

जाति के मुसलमानी रूप में पैदा हुए थे। बुंदेलखंड के गड़ेरिए नाथ योगियों के अनुयायी हैं। उनके पुरोहित भी 'योगी' ब्राह्मण होते हैं जो उनके विवाहादि संस्कार कराते हैं। विवाह के मंत्रों में गोरखनाथ और मछन्दरनाथ के नाम भी आते हैं।[१] शेख फैजुल्लाह नामक बंगाली कवि की एक पुस्तक 'गोरख-विजय' है। इसके संपादक श्री अब्दुल करीम साहब का दावा है कि पुस्तक पाँच छः सौ वर्ष पुरानी होगी। इस पुस्तक में कदली देश की जोगिन (अर्थात् योगी जाति की स्त्री) से गोरखनाथ को भुलावा देने के प्रसंग में इस प्रकार कहवाया गया है—"तुम जोगी हो, जोगी के घर जाओगे इसमें भला सोचना विचारना क्या है। हमारा तुम्हारा गोत्र एक है। तुम बलिष्ठ योगी हो मैं जवान जोगिन हूँ, फिर क्यों न हम अपना व्यवहार शुरू कर दें, क्यों हम किसी की परवा करें ··· मैं चिकना सूत कात दूँगी, तुम उसकी महीन धोती बुनोगे और हाट में बेचने ले जाओगे और इस प्रकार दिन दिन सम्पत्ति बढ़ती जायगी जो तुम्हारी झोली और कंथा में अँटाए नहीं अँटेगी।[२] इससे सिद्ध होता है कि बहुत प्राचीन काल से वयनजीवी जातियाँ योगी हैं। आधुनिक योगी भी सूत के द्वारा अनेक टोटका करते हैं और गोरखधंधे से सूत की ही करामात दिखाते हैं।

बंगाल में जुगी या योगी वयनजीवी जाति है। सन् १८२१ में अकेले बंगाल में इनकी संख्या ३६५८१० थी। आजकल ये लोग अपने को योगी ब्राह्मण कहते हैं।[३] टिपरा जिले के कृष्णचन्द्र दलाल ने इन्हें बदस्तूर ब्राह्मण बनाने और जनेऊ धारण करने का आन्दोलन किया था।[४] इस प्रकार वयनजीवियों में इस मत का बहुत कुछ प्रचार था। यह तो नहीं जाना जा सका कि सभी वयनजीवियों में[५] योग परंपरा के चिह्न हैं परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वयनजीवी जातियों में अपनी वर्तमान स्थिति के बारे में असन्तोष है और वे सभी किसी ब्राह्मणेतर परम्परा से सम्बद्ध अवश्य थीं।

---

१. लोक वार्ता, वर्ष १, अंक २ में श्री रामस्वरूप योगी का लेख द्रष्टव्य है। वैवाहिक शाखोच्चार के मंत्र का एक अंश इस प्रकार है, 'गाय गोरख की भैंस मछन्दर की, छेरी अजैपाल की, गाड़र महादेव की चरती आय चरती आय जहाँ महादेव की सिंगी बाजै....,इत्यादि।

२. गोर विजय : कलकत्ता (१३२४ बं० सन्) पृ० ६५-७।

३. कबीर : पृ० ७।

४. क्षितिमोहन सेन : भारतवर्ष में जातिभेद, पृ० १४४।

५. बेन्स ने निम्नलिखित वयनजीवी जातियों का उल्लेख किया है—

	नाम	प्रदेश	१८०१ की जनसंख्या
रुई सूत के वयनजीवी—	पटनूली....	पश्चिम-भारत....	८०५००
	पटवे....	उत्तर और मध्य-भारत....	७२०००
	खतरी....	पश्चिम भारत....	५६२०००

रिजली ने बंगाल के योगियों को दो श्रेणी का बताया है। दक्षिणी विक्रमपुर त्रिपुरा और नोयाखाली के योगी मास्थ योगी कहलाते हैं और उत्तर विक्रमपुर और ढाका के योगी एकादशी कहलाते हैं।[1] रंगपुर जिले के योगियों का काम कपड़ा बुनना, रंगसाजी और चूना बनाना है। अब ये लोग अपना पेशा छोड़ते जा रहे हैं। इनके स्मरणीय महापुरुष हैं—गोरखनाथ, धीरनाथ, छायानाथ, और रघुनाथ आदि। इनके परम उपास्य देवता 'धर्म' हैं। इनके गुरु और पुरोहित ब्राह्मण नहीं होते बल्कि इनकी अपनी जाति के लोग होते हैं। पुरोहितों को 'अधिकारी' कहते हैं। क्षौर-

	नाम	प्रदेश	१९०१ की जनसंख्या
	ताँती....	बंगाल....	७७२३००
	तँतवा....	बिहार....	१९७९००
	पेरिके...	तामिल....	६३०००
	जणप्पन....	तामिल....	८३०००
	कपाली....	बंगाल....	१४४७००
	धोर...	दाक्षिणात्य....	२४४००
	पांका....	मध्यभारत....	७२६७००
	गांडा....	पूर्व मध्यभारत....	३७७८००
रुई सूत के वयनजीवी—	डोंबा....	बिहार...	७६४००
	कोरी....	उत्तर भारत....	१२०४७००
	जुलाहा....	उत्तर भारत....	२९०७९००
	बलाही....	राजपूताना उ० भा०....	२८५१००
	कैकोलन....	तामिल....	३५४७००
	साले....	दक्षिण....	६३९३००
	तोगट....	कर्नाटक....	६४५०२०
	देवांग....	कर्नाकट...	२८८९०००
	नेगिये....	कर्नाटक...	९७०००
	जुगी....	बंगाल...	५३६६००
	कोष्टी....	दक्षिण, मध्यभारत....	२७७४००
ऊन के वयनजीवी—	गड्डी....	पंजाब....	१०३८००
	गड़रिया....	उत्तर भारत....	१२७२४००
	धंगर हातकर...	दक्षिण भारत....	१०१५८००
	कुडुवर....	दक्षिण भारत....	१०६८००
	इडइयन....	तामिल...	७०२७००
	भरवाड़....	पश्चिम भारत....	१०२९००

१. ब्रिग्स : पृ० ५१।

कर्म के समय बालकों का कान चीर देना निहायत जरूरी समझा जाता है। मृतक को समाधि दी जाती है। रंगपुर के योगियों का प्रधान व्यवसाय चूना बनाना और भीख माँगना है परन्तु ढाका और टिपरा (त्रिपुरा) जिले में उनका व्यवसाय वस्त्र बुनना ही है।[1] निजाय-राज्य के दवरे और रावल भी नाथ योगियों का गृहस्थ रूप है। इनके बच्चों से कान छेदने का संस्कार होता है और मृतकों को समाधि दी जाती है। बम्बई प्रान्त के नाथों में जो मराठे और कर्नाटकीय हैं वे गृहस्थ हैं। कोंकण के गोसवी भी अपने को नाथ योगियों से संबद्ध बताते हैं। इनका भी कर्ण छेद संस्कार होता है। इस प्रकार की योगी जातियाँ बराबर गुजरात महाराष्ट्र, करनाटक, और दक्षिण भारत में भी पाई जाती हैं।[2]

इस प्रकार क्या वैराग्यप्रवण और गार्हस्थप्रवण सैकड़ों योगी संप्रदाय और जातियाँ समूचे भारत में फैली हुई हैं। यह परम्परा वैदिक धर्म से भिन्न थीं और अब भी बहुत कुछ है, इसका आभास ऊपर के विवरण से मिल गया होगा। हम आगे चल कर देखेंगे कि अनुमान निराधार नहीं हैं।

---

१. गोपीचंदेर गान : (कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, द्वितीय भाग, भूमिका पृ० ३६-३७)।

२. ब्रिग्स : (पृ० ४४-६१) ने इस प्रकार की अनेक योगी जातियों का विवरण अपनी पुस्तक में दिया है। विशेष विस्तार के लिए वह ग्रंथ द्रष्टव्य है।

२

संप्रदाय के पुराने सिद्ध

'हठयोग प्रदीपिका' के आरम्भ में ही नाथपंथ के अनेक सिद्धयोगियों के नाम दिए हुए हैं। विश्वास किया जाता है कि सिद्ध लोग आज भी जीवित हैं। हठयोग प्रदीपिका की सूची में जिन सिद्धों में नाम हैं वे ऐसे ही हैं जो कालदंड को खंडित करके ब्रह्माण्ड में विचर रहे हैं नाम इस प्रकार है।[1]:—

आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, सारदानंद, भैरव, चौरंगी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशय, मथानभैरव, सिद्धबोध, कन्हड़ीनाथ, कोरंटकनाथ, सुरानन्द सिद्धपाद, चर्पटीनाथ, काणेरीनाथ, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजननाथ, कापालिनाथ, विंदुनाथ, काकचण्डीश्वर, मयनाथ, अक्षयनाथ, प्रभुदेव, घोड़ाचूलीनाथ, टिप्पिणानाथ, भल्लरीनाथ, नागबोध और खण्डकापालिका। इनमे से अनेक सिद्धों के नाम कोई अनुश्रुति शेष नहीं रह गई है। कुछ के नाम तांत्रिकों, योगियों और निर्गुणिया सन्तों की परम्परा में बचे हुए हैं और कुछ की अभिन्नता सहजयानी और वज्रयानी सिद्धों से स्थापित की जा सकती है। कुछ सिद्धों के विषय में करामाती कहानियाँ प्रचलित हैं पर उनका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक नहीं है।

सबसे आदि में नव मूलनाथ हुए हैं जिन्होंने संप्रदाय का प्रवर्तन किया था—ऐसी प्रसिद्धि है। पर ये नौ नाथ कौन-कौन थे इसकी कोई सर्वसम्मत परम्परा बची नहीं है। 'महार्णव तंत्र' में नवनाथों को भिन्न-भिन्न दिशाओं में 'न्यास' करने की विधि बताई गई है। उस पर से नवनाथों के नाम इस प्रकार मालूम होते हैं—गोरक्षनाथ, जालंधरनाथ, नागार्जुन, सहस्रार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जड़भरत, आदिनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ। कापालिकों के बारह शिष्यों की चर्चा पहले ही की जा चुकी है उनमें से कई ऐसे हैं जिनका नाम 'हठयोग प्रदीपिका' के सिद्धयोगियों से अभिन्न है।[2]

'यागि संप्रदाया विष्कृति' में[3] नवनारायणों के नवनाथों के रूप में अवतरित

---

१. हठयोग प्रदीपिका।

२. देखिए, ऊपर, पृ० ४।

३. यो० सं० आ० : पृ० ११-१४।

होने की कथा दी हुई है। परन्तु उसमें यह नहीं लिखा कि आविर्होत्रनारायण ने किसका अवतार धारण किया था। फिर यह भी नहीं लिखा कि गोरक्षनाथ का अवतार किस नारायण ने लिया था। स्वयं महादेव ने भी एक 'नाथ' के रूप में अवतार धारण अवश्य किया था। ग्रंथकार ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि महादेवजी ने गोरक्षनाथ नामक व्यक्ति को नवनाथों के अवतरित होने के बाद उत्पन्न किया था। तो क्या नवनाथों में गोरक्षनाथ नहीं थे ? जिन नारायणों ने अवतार धारण किया था, वे इस प्रकार हैं : (यद्यपि ग्रंथ में यह नहीं लिखा कि कि आविर्होत्रनारायण ने क्या अवतार धारण किया पर भूमिका में[1] गोरक्षनाथ समेत जिन दस आचार्यों का नाम है उसमें नागनाथ का नाम भी है। संभवतः आविर्होत्रनारायण ने नागनाथ का अवतार लिया था।)

१. कविनारायण	मत्स्येंद्रनाथ
२. करभाजननारायण	गाहनिनाथ
३. अन्तरिक्षनारायण	ज्वालेंद्रनाथ (जालंधरनाथ)
४. प्रबुद्धनारायण	करणिपानाथ (कानिपा)
५. आविर्होत्रनारायण	? नागनाथ
६. पिप्पलायननारायण	चर्पटनाथ (चर्पटी)
७. चमसनारायण	रेवानाथ
८. हरिनारायण	भर्तृनाथ (भरथरी)
९. द्रुमिलनारायण	गोपीचन्द्रनाथ

इन आठ नाथों के साथ आदिनाथ (महादेव) का नाम जोड़ लेने से संख्या नौ होगी। गोरक्षनाथ दसवें नाथ हुए। 'महार्णवतंत्र' में जड़भरत का नाम नव नाथों में है परन्तु 'योगि संप्रदाया विष्कृति' उन्हें नौ नाथों से अलग मानती है। एक और नाथों की सूची है जो इससे भिन्न है परन्तु गोरक्षनाथ का नाम उसमें भी नहीं आता। वह सूची 'सुधाकर चंद्रिका'[2] से ली गई है। इसके अनुसार नव नाथ ये हैं :

१. एकनाथ	४. उदयनाथ	७. संतोषनाथ
२. आदिनाथ	५. दण्डनाथ	८. कूर्मनाथ
३. मत्स्येंद्रनाथ	६. सत्यनाथ	९. जालंधरनाथ

नेपाल की परम्परा में एकदम भिन्न नाम गिनाए गए हैं। वे इस प्रकार हैं[3]:—

१. प्रकाश	४. ज्ञान	७. स्वभा
२. विमर्श	५. सत्य	८. प्रतिभा
३. आनन्द	६. पूर्ण	९. सुभग

---

१. गो० सं० आ० : पृ० ७।
२. सु० चं० : पृ० २४१।
३. नेपाल कैटलाग, द्वितीय भाग : पृ० १४९।

इन सूचियों में गोरक्षनाथ का नाम न आने का कारण स्पष्ट है। गोरखपंथी लोगों का विश्वास है कि इन नौ नाथों की उत्पत्ति श्री गोरखनाथ (जिन्हें श्रीनाथ भी कहते हैं) से हुई है। ये गोरख के ही नव-विध अवतार हैं। गोरखपंथियों का सिद्धांत है कि गोरख ही भिन्न-भिन्न समय में अवतार लेकर भिन्न-भिन्न नाथान्तनाम से अवतरित हुए हैं और गोरख ही अनादि अनन्त पुरुष हैं। उन्हीं की इच्छा से ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि हुए हैं।[1] 'योगि संप्रदाया त्रिष्कृति में, शिव के गोरखरूप धारण करने के विषय में यह मनोरंजक कथा दी हुई है :—यह प्रवाद परंपरा से योगियों में प्रचलित है कि महादेव को वश करने की इच्छा से प्रकृति देवी ने एक बार घोर तप किया था। इसलिए देवी का मान रखने और अपने को बचाने के हेतु से महादेवजी ने स्वयं गोरख नाम से प्रसिद्ध कृत्रिम पुतले महादेव का उससे विवाह किया। कभी रहस्य खुलने पर देवी ने फिर इसको वश करने का उद्योग किया, पर विफल हुई। 'पश्चिम दिशा से आई भवानी, गोरख छलने आई जियो।'—इत्यादि आख्यान से यह वृत्त आज तक गाया जाता है।[2]

इन सभी सूचियों में सर्वसाधारण नाम इस प्रकार हैं—आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, जालंधरनाथ और गोरखनाथ। ये नाम तांत्रिक सिद्धों में भी परिचित हैं और तिब्बती परपरा के सहजयानी बौद्ध सिद्धों में भी। 'ललिता सहस्र नाम'[3] में तीन प्रकार के गुरु बताये गये हैं—दिव्य, सिद्ध और मानव। 'तारा रहस्य'[4] में दो प्रकार के गुरुओं का उल्लेख है, दिव्य और मानव। प्रथम श्रेणी में चार हैं और द्वितीय श्रेणी में आठ। मानव दिव्यगुरु हैं—ऊर्ध्वकेशानंदनाथ, व्योमकेशानदनाथ नीलकंठानंदनाथ और वृषध्वजानंदनाथ। मानवगुरु ये हैं :—

१. वशिष्ठ	५. विरूपाक्ष
२. मीननाथ	६. महेश्वर
३. हरिनाथ	७. सुख
४. कुलेश्वर	८. पारिजात

इनम केवल मीननाथ नाम नाथपंथियों में परिचित है। किन्तु अन्यान्य तन्त्रों में मानव गुरुओं के जो नाम गिनाए गए हैं उनमें कई नाथ सिद्धों के नाम हैं। 'कौलावलीतंत्र'[5] के अनुसार बारह मानव गुरु ये हैं :—

---

१. सु० चं० : पृ० २४१।
२. यो० सं० आ० : पृ० १३।
३. ल० स० ना० : पृ० १५।
४. ता० र० : पृ० ११५।
५. विमलः कृशरश्चैव भीमसेनः सुसाधकः।
मीनो गोरक्षकश्चैव, भोजदेव प्रकीर्तितः॥
मूलदेव रन्तिदेवो, विघ्नेश्वर हुताशनो।
समरानंदसन्तोषौ, मानवोधाः प्रकीर्तिताः॥ कौ० तं० : पृ० ७६

१. विमल	५. गोरक्ष	९. विघ्नेश्वर
२. कुशर	६. भोजदेव	१०. हुताशन
३. भीमसेन	७. मूलदेव	११. समरानंद
४. मीन	८. रंतिदेव	१२. संतोष

लगभग ये ही नाम 'श्यामा रहस्य'[1] में भी दिये हैं। श्यामा रहस्य के नाम इस प्रकार हैं :—

१. विमल	६. गोरक्ष	११. विघ्नेश्वर
२. कुशर	७. भोजदेव	१२. हुताशन
३. भीमसेन	८. प्रजापति	१३. संतोष
४. सुधाकर	९. कुलदेव	१४. समानंद
५. मीन	१०. वृन्तिदेव	

इन दोनों सूचियों में नामपत्र का भेद है। पहली सूची में सुधाकर और प्रजापति के नाम नहीं हैं। 'भीमसेन सुसाधकः' का 'सुसाधकः' शब्द मैंने विशेषण मान लिया है। ऐसा जान पड़ता है कि परिवर्ती सूची मे गलती से 'सुसाधक' का 'सुधाकर' हो गया है। और 'प्रकीर्तितः' का 'प्रजापतिः' हो गया है। जो हो, इनमें गोरक्ष नाथ, मीननाथ और संतोषनाथ तथा भीमनाथ नाथमतावलम्बियों के सुपरिचित हैं। इस प्रकार मीननाथ, गोरक्षनाथ आदि का अनेक परंपरा के सिद्धों में परिगणित होना उनके प्रभाव और प्राचीनत्व को सूचित करता है। एसियाटिक सोसायटी की लाइब्रेरी में एक ताल पत्र की पोथी है जिसका नम्बर ४८/३४—अक्षर बंगला और लिपिकाल लक्ष्मण सं० ३८८ दिया है। ग्रंथकार कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर हैं जो मिथिला के राजा हरिसिंह देव (सन् १३००-१३२१ ई०) के सभासद् थे। इस पोथी का नाम 'वर्ण रत्नाकर' है। इस पोथी में चौरासी नाथ सिद्धों की तालिका दी हुई है। यद्यपि ग्रंथकार उनकी संख्या चौरासी बताता है तथापि वास्तविक संख्या ७६ ही है।[2] लेखक के प्रमादवश शायद आठ नाम छूट गए हैं। इन ७६ नामों में अनेक पूर्व परिचित हैं पर नये नाम ही अधिक हैं। तिब्बती परपरा के चौरासी सहजयानी सिद्धों से इनमें के कई सिद्ध अभिन्न हैं। दोनों सूचियों का आस-पास रखकर देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि नाथ-पथियों और सहजयानियों के अनेक सिद्ध उभय साधारण

---

१. विमलकुशरश्चैव भीमसेनः सुधाकरः।
मनो गोरक्षकश्चैव, भोजदेवः प्रजापतिः॥
कुलदेवो वृन्तिदेवो, विघ्नेश्वर हुताशनो।
संतोषः समयानंदः पान्तु मां मानवः सदा॥ श्या० र० : पृ० २४

२. बो० गा० दो० : भूमिका पृ० ३६।

हैं। नीचे दोनों सूचियाँ दी गई हैं। पहली 'वर्णरत्नाकर' के नाथ सिद्धों की है और दूसरी महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन की संगृहीत वज्रयानियों की है[1] :—

संख्या नाथ सिद्ध	संख्या सहजयानी सिद्ध	विशेष
१ मीननाथ	१ लूहिपा	
२ गोरक्षनाथ	२ लीलापा	
३ चौरंगीनाथ	३ विरूपा	नाथ सिद्ध (=ना० सि०)
४ चारमीनाथ	४ डोम्भीपा	
५ तंतिपा	५ शबरीपा	ना० सि० ४७ से तु०
६ हालिपा	६ सरहपा	
७ केदारिपा	७ कंकालीपा	
८ धोंगपा	८ मीनपा	ना० सि० १ तु०
९ दारिपा	९ गोरक्षपा	ना० सि० ३
१० विरूपा	१० चोरंगीपा	ना० सि० ३
११ कपाली	११ वीणापा	
१२ कमारी	१२ शान्तिपा	ना० सि० ४४ से तु०
१३ कान्ह	१३ तन्तिपा	ना० सि० ५ से तु०
१४ कनखल	१४ चमरिपा	
१५ मेखल	१५ खड्गपा	
१६ उन्मन	१६ नागार्जुन	ना० सि० २२
१७ काण्डलि	१७ कराहपा	ना० सि० १३ से तु०
१८ धोबी	१८ कर्णरिपा (आर्यदेव)	
१९ जालंधर	१९ थगनपा	ना० सि० ५५ से तु०
२० टोंगो	२० नारोपा	
२१ मवह	२१ शालिपा (शीलपा) शृगाली पाद ?	ना० सि० ४८ से तु०
२२ नागार्जुन	२२ तिलोपा	
२३ दौली	२३ छत्रपा	
२४ भिषाल	२४ भद्रपा	ना० सि० ३७ से तु०
२५ अचिति	२५ दोखंधिपा (द्विखंडिपा)	
२६ चम्पक	२६ अजागिपा	
२७ ढेण्टस	२७ कालपा	

१. गंगा-पुरातत्वांक : पौष माघ १९८९, पृ० २२१-२२४।

संख्या नाथ सिद्ध	संख्या सहजयाना सिद्ध	विशेष
२८ भुम्बरी	२८ धाम्भिपा	ना० सि० १८ से तु०
२९ बाकलि	२९ कंकणपा	
३० तुजो	३० कमरिपा (कंबलपा)	ना० सि० ३४ से तु०
३१ चर्पटी	३१ डेंगिपा	ना० सि० ८ ?
३२ भादे	३२ भदेपा	ना० सि० ३२ से तु०
३३ चांदन	३३ तंधेपा (तंतिपा)	
३४ कामरी	३४ कुकुरिपा	
३५ करवत	३५ कुचिपा (कुसूलिपा)	
३६ धर्मपाततंग	३६ धर्मपा	ना० सि० ३६
३७ भद्र	३७ महीपा (महिलपा)	
३८ पातलिभद्र	३८ अचिन्तिपा	ना० सि० २५ से तु०
३९ पलिहिह	३९ भलहपा (भवपा)	
४० भानु	४० नलिनपा	
४१ मान	४१ भूसुकपा	
४२ निर्दय	४२ इन्द्रभूति	
४३ सवर	४३ मेकापा	
४४	४४ कुड़ालिपा (कुद्दलिपा)	ना० सि० ७ से तु०
४५ भर्तृहरि	४५ कमरिपा (कम्मरिपा)	ना० सि० १२ से तु०
४६ भीषण	४६ जालंधरपा (जालंधारक)	ना० सि० १९ से तु०
४७ भटी	४७ राहुलपा	
४८ गगनपा	४८ धर्मरिपा (धर्मरि)	
४९ गमार	४९ धाकरिया	
५० मेनुरा	५० मेदनीपा (हालीपा ?)	ना० सि० ६ से तु०
५१ कुमारी	५१ पंकजपा	
५२ जीवन	५२ घंटा (वज्रघंटा) पा	
५३ अघोसाधव	५३ जोगीपा (अजोगिपा)	
५४ गिरिवर	५४ चेलुकपा	
५५ सियारी	५५ गुंडरिपा (गोरुरपा)	
५६ नागवालि	५६ लुपिकपा	
५७ विभवत्	५७ निगणपा	

संख्या नाथ सिद्ध	संख्या सहजयानी सिद्ध	विशेष
५८ सारंग	५८ जयानन्त	
५९ विविकिधज	५९ चर्पटापा (पचरीपा)	ना० सि० ३१ से तु०
६० मगरधज	६० चम्पकपा	ना० सि० २६
६१ अचित	६१ भिखनपा	ना० सि० ४६ से तु०
६२ विचित	६२ भलिपा	ना० सि० ६६ से तु०
६३ नेचक	६३	ना० सि० ५१ से तु०
६४ चाटल	६४ चवरि, (जवरि) अजपालिपा	ना० सि० ४ से तु०
६५ नाचन	६५ मणिभद्रा (योगिनी)	ना० सि० ७४ से तु०
६६ भीलो	६६ मेखलापा (योगिनी)	ना० सि० १५ से तु०
६७ पाहिल	६७ कनखलापा (योगिनी)	ना० सि० १४ से तु०
६८ पासल	६८ कलकलपा	
६९ कमल-कंगारि	६९ कन्तालो (कन्थाली) पा	
७० चिपिल	७० धहुलि (रि) पा (दबड़ीपा ?)	
७१ गोविंद	७१ उधनि (उधलि) पा	
७२ भीम	७२ कपाल (कमल) पा	ना० सि० ६९ से तु०
७३ भैरव	७३ किलपा	
७४ भद्र	७४ सागरपा	
७५ भमरी	७५ सर्वभक्षपा	
७६ मुरुकुटी	७६ नागबोधिपा	ना० सि० ५६ से तु०
७७	७७ दारिकपा	ना० सि० ८ से तु०
७८	७८ पुतुलिपा	
७९	७९ पनहपा	
८०	८० कोकालिपा	
८१	८१ अनंगपा	
८२	८२ लक्ष्मीकरा	
८३	८३ समुदपा	
८४	८४ भलि (व्यालि) पा	

'श्री ज्ञानेश्वर चरित्र' में पं० लक्षण रामचन्द्र पांगारकर ने ज्ञाननाथ तक की गुरुपरम्परा इस प्रकार बताई है—

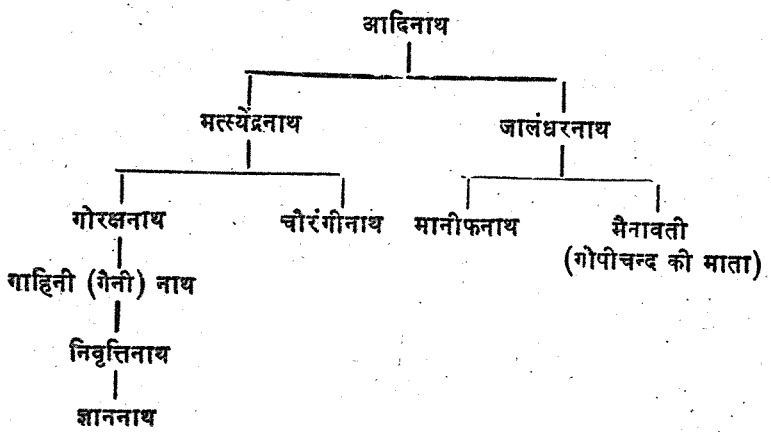

इस प्रकार यदि नवनाथों, कापालिकों, ज्ञाननाथ तक के गुरु सिद्धों और 'वर्ण-रत्नाकर' के चौरासी नाथ-सिद्धों के नाथ परंपरा में मान लिया जाय तो चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ होने के पूर्व लगभग सवा सौ सिद्धों के नाम उपलब्ध होते हैं नीचे इनकी सूची दी जा रही है। इनमें तंत्र ग्रंथों के मानव गुरुओं का उल्लेख नहीं है क्योंकि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे गुरु नाथ-सिद्ध होंगे ही। फिर नेपाली परंपरा के नाथ शिव के आनन्द और शक्ति के प्रतीक से जान पड़ते हैं, व्यक्ति विशेष नहीं। आगे उन पर विचार करने का अवसर आएगा। यद्यपि नीचे की सूची में १३७ सिद्धों के नाम हैं पर उनके से कई अभिन्न से जान पड़ते हैं। कान्ह, कन्हड़ी, करणिपा, काणफीनाथ आदि एक ही सिद्ध के नाम के उच्चारण भेद से भिन्न रूप हैं। 'हठयोग-प्रदीपिका' के ढिण्ढिणी, सहजयानी सिद्ध ढेण्ढण और 'वर्णरत्नाकर' के ढेण्टस एक ही सिद्ध हैं। 'वर्णरत्नाकर' की मेनुपुरा, मैना या मयनामती का ही नामान्तर जान पड़ता है। कालभैरवनाथ और भैरवनाथ एक ही हो सकते हैं और नागनाथ और नागार्जुन तथा नागबोध और नागावलि की विभिन्नता भी संदेह का विषय है। जहाँ संदेह ज्यादा है वहाँ हमने अलग से नाम गिनाना ही उचित समझा परन्तु इन सिद्धों में सवा सौ के करीब ऐतिहासिक व्यक्ति अवश्य हैं और तेरहवीं शताब्दी (ईसवी सन् की) के समाप्त होने के पूर्व के ही हैं। स्पष्ट ही संप्रदाय के सर्वमान्य आचार्य मत्स्येंद्रनाथ, जालंधरनाथ, गोरक्षनाथ और कानिपा हैं क्योंकि इनका नाम सब ग्रंथों में पाया जाता है। आगे इन पर विचार करके ही अन्य सिद्धों पर विचार किया जायगा।

सूची में निम्नलिखित संकेत व्यवहृत हुए हैं :

वर्ण रत्नाकर = व०	गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह = गो०
महार्णव तंत्र = म०	योगि संप्रदाया विष्कृति = यो०

हठयोग प्रदीपिका = ह० सुधाकर चन्द्रिका = सु०
ज्ञानेश्वर चरित्र = ज्ञा०

सं० नाम	आधार ग्रंथ	सं० नाम	आधार ग्रंथ
१ अक्षय	ह०	३२ गिरिवर	व०
२ अघोसाधव	व०	३३ गाहिनी नाथ	ज्ञा०, यो०
३ अचित	व०	३४ गोपीचन्द्रनाथ	यो०, गो०
४ अजपानाथ	यो०	३५ गोरक्षनाथ	सब
५ अजयनाथ	यो०	३६ गोविंद	व०
६ अतिकाल	का०	३७ घोड़ा चूली	ह०
७ अनादिनाथ	का०	३८ चर्पट	का०हा०व०गो०
८ अवद्य	का०	३९ चाटल	व०
९ आदिनाथ	सब	४० चम्पक	व०
१० उदयनाथ	सु०, गो०	४१ चाँदन	व०
११ उनमन	व०	४२ चामरी	व०
१२ एकनाथ	सु०, गो०	४३ चिपिल	व०
१३ कनखल	व०	४४ चौरंगी	ह०, व०, ज्ञा०
१४ कमलकंगारि	व०	४५ जड़भरत	म०, का०
१५ कंथाधारी	ह०	४६ ज (जा) लंधर	सब
१६ कन्हड़ी	ह०	४७ जीवन	व०
१७ करवत	व०	४८ ज्ञाननाथ	ज्ञा०
१८ काणेरी	ह०, गो०	४९ टोंगी	व०
१९ काण्डालि	व०	५० ढिण्ढिणी	ह०
२० कान्ह (करणिपा)	व० (यो०) ज्ञा०	५१ ढेण्टस	व०
२१ कामरी	व०	५२ तंतिपा	व०
२२ कापालि	ह०	५३ तारकनाथ	यो०
२३ काल	का०	५४ तुजी	व०
२४ काल भैरवनाथ	का०	५५ दण्डनाथ	सु०, गो०
२५ कुमारी	व०	५६ दत्तात्रेय	म०
२६ कूर्मनाथ	सु०, गो०	५७ दारिपा	व०
२७ कंदारिपा	व०	५८ देवदत्त	म०
२८ कोरंटक	ह०	५९ दौली	व०
२९ खण्ड कापालिक	ह०	६० धर्मपापतंग	व०
३० गगनपा	व०	६१ धोंगपा	व०
३१ गमार	व०	६२ धारंग (दूरंगम)	यो०

सं० नाम	आधार ग्रंथ	सं० नाम	आधार ग्रंथ
६३ धोबी	व०	८६ भूतनाथ	का०
६४ नागनाथ	यो०	८७ भूम्बरी	व०
६५ नागवालि	व०	८८ भैरव	का०, व०
६६ नागबोध	ह०	८९ मगरधन	व०
६७ नागार्जुन	का०, म० व०	१०० मत्स्येंद्रनाथ	व० के सिवा सब
६८ नाचन	व०	१०१ मन्थानभैरव	ह०
६९ नित्यनाथ	ह०	१०२ मय	ह०
७० निरंजन	ह०, यो०	१०३ मवह	व०
७१ निर्दय	व०	१०४ मलयार्जुन	का०
७२ निवृत्तिनाथ	ज्ञा०	१०५ महाकाल	का०
७३ नीमनाथ	यो०	१०६ माणिकनाथ	यो०
७४ मेचक	व०	१०७ मालीपाव	गो०
७५ पलिहिह	,,	१०८ मीन	ह०,व०,यो०गो०
७६ पातलाभद्र	,,	१०९ मेखल	व०
७७ पासल	,,	११० मेनुरा (मयनामती)	व० (ज्ञा०)
७८ पूज्यपाद	ह०	१११ रेवानाथ	यो०
७९ प्रभुदेव	,,	११२ विकराल	का०
८० बटुक	का०	११३ विचित	व०
८१ बाकलि	व०	११४ विंदुनाथ	व०
८२ भटी	व०	११५ विभवत्	व०
८३ भद्र (१)	व०	११६ विरूपा	व०
८४ भद्र (२)	व०	११७ विरूपाक्ष	ह०
८५ भमरी	व०	११८ विविगध्वज	व०
८६ भर्तृहरि	व०, यो०	११९ विलेशय	ह०, यो०
८७ भवनार्जि:	गो०	१२० वीरनाथ	का०
८८ भल्लटि	ह०	१२१ वैराग्य	का०
८९ भादे	व०	१२२ शंभुनाथ	यो०
९० भानु	व०	१२३ श्रीकंठ	का०
९१ भिषाल	व०	१२४ सत्यनाथ	का०, सु० गो०
९२ भीमनाथ	का०, व०	१२५ सन्तोषनाथ	सु०, गो०
९३ भीषण	व०	१२६ सवर	व०
९४ भीलो	वा०	१२७ सहस्रार्जुन	म०
९५ भुरुकुटी	व०	१२८ सारदानंद	ह०

सं० नाम	आधार ग्रंथ	सं० नाम	आधार ग्रंथ
१२६ सान्ति	व०	१३४ सुरानंद	ह०
१३० सारंग	व०	१३५ सूर्यनाथ	यो०
१३१ सिद्धपाद	ह०	१३६ हरिश्चन्द्र	का०
१३२ सिद्धबोध	ह०	१३७ हालिपा	व०, गो०
१३३ सियारी	व०		

कभी कभी परवर्ती ग्रंथों में इनके अतिरिक्त अन्य नाम भी आते हैं जो चौरासी सिद्धों में गिने गए हैं। 'प्राण संगली' नामक सिख ग्रंथ में गुरु नानक के साथ चौरासी सिद्धों के साथ साक्षात्कार का प्रसंग है। इन चौरासी सिद्धों में कई प्रकार के सिद्ध थे। कुछ सुरति-सिद्ध थे कुछ निरति-सिद्ध और कुछ कनक-सिद्ध। कुछ सिद्ध क्रोधी और तामसिक प्रकृति के भी थे। इस पुस्तक के निम्नलिखित संतों का पता चलता है—

१. परबत सिद्ध (पृ० १५४)
२. ईश्वरनाथ (पृ० १५५)
३. चरपटनाथ (पृ० १५५)
४. घुघूनाथ (पृ० १५६)
५. चम्पानाथ (पृ० १५६)
६. खिथड़नाथ (कंथड़ि ?) (पृ० १६२)
७. झंगरनाथ (पृ० १६१)
८. धूर्मनाथ (ऊरमनाथ) (पृ० १६५)
९. धंगरनाथ (पृ० १६७)
१०. मंगलनाथ (पृ० १६९)
११. प्राणनाथ (पृ० १६९)

परवर्ती ग्रंथों में सिद्धों के नाम इतने विकृत हुए हैं कि कभी कभी भ्रम होता है कि दूसरा कोई सिद्ध है। इस प्रकार नागार्जुन नागाअरजन्द हो गए हैं, नेमिनाथ नीमनाथ बन गये हैं और कंथाधारी खिथड़ हो गए हैं। संप्रदाय प्रवर्तक सिद्धों में कुछ तो पुराने हैं। कुछ नए हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिनका मूल नाम विकृत होकर कुछ का कुछ हो गया है।

३

मत्स्येंद्रनाथ कौन थे ?

नाथ-परंपरा में आदिनाथ के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण आचार्य मत्स्येंद्रनाथ ही है। हमने यह पहले देखा है कि आदिनाथ शिव का ही नामान्तर है। सो, मानव गुरुओं में मत्स्येंद्रनाथ ही इस परम्परा के सर्वप्रथम आचार्य हैं। ये गोरखनाथ के गुरु थे। नेपाली अनुश्रुति के अनुसार ये अवलोकितेश्वर के अवतार थे। नाथ परम्परा के आदि गुरु माने जाते हैं और कौलाचार के वे सिद्ध पुरुष हैं। काश्मीर के शैवागमों में भी इनका नाम बडे सम्मान के साथ लिया जाता है। वस्तुतः मध्ययुग के एक ऐसे युगसंधिकाल में मत्स्येन्द्र का आविर्भाव हुआ था कि अनेक साधन मार्गों के ये प्रवर्तयिता मान लिये गये हैं। सारे भारतवर्ष में उनके नाम की सैकड़ों दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। प्रायः हर दन्तकथा में वे अपने प्रसिद्ध शिष्य गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के साथ जड़ित हैं। यह कहना कठिन है कि इन दन्तकथाओं में ऐतिहासिक तथ्य कितना है, परन्तु नानामूलों से जो कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य पाया जाता है उनसे दन्तकथाओं की यथार्थता बहुत दूर तक प्रमाणित हो जाती हैं। इसीलिये उनके काल, साधन-मार्ग और विचार-परम्परा के ज्ञान के लिये दन्तकथाओं पर थोड़ा-बहुत निर्भर किया जा सकता है।

प्रथम प्रश्न इनके नाम का है। योगि-संप्रदाय में 'मछन्दरनाथ' नाम प्रसिद्ध है। परवर्ती संस्कृत ग्रंथों में इसका शुद्ध रूप मत्स्येन्द्रनाथ दिया हुआ है। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि साधारण योगी मत्स्येन्द्रनाथ की अपेक्षा 'मछन्दरनाथ' नाम को ही अधिक पसंद करते हैं। श्री चन्द्रनाथ योगी जैसे सुधारक मनोवृत्ति के महात्मा को बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि मत्स्येन्द्रनाथ को मच्छन्दरनाथ और गोरक्षनाथ को गोरखनाथ कहना योगि संप्रदाय के घोर पतन का सबूत है (पृ० ४४८-९)। परन्तु बहुत प्राचीन पुस्तकों में इनके इतने नाम पाये गये हैं कि इनके प्राकृत नाम की प्राचीनता निस्सन्दिग्ध रूप से प्रकट होता है और यह बात सन्दिग्ध हो जाता है कि परवर्ती ग्रंथों में व्यवहृत मत्स्येंद्रनाथ नाम ही शुद्ध और वास्तविक है। मत्स्येंद्रनाथ द्वारा रचित कई पुस्तकें नेपाल की दरबार लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। उनमें एक का नाम है 'कौल-ज्ञान निर्णय'। इसकी लिपि को देखकर स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री

ने अनुमान किया था कि वह ईसवी सन् की नवीं शताब्दी का लिखा हुआ है।[1] हाल ही में कलकत्ता विश्वविद्यालय के (अब विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के) अध्यापक डॉ० प्रबोधचंद बागची ने उस पुस्तक का तथा मत्स्येंद्रनाथ की लिखी अन्य चार पुस्तकों का बहुत सुन्दर संपादित संस्करण प्रकाशित कराया है। बाकी चार पुस्तकें ये हैं —अकुलवीरतंत्र'—ए, 'अकुलवीरतत्र'—बी, 'कुलानन्द और ज्ञानकारिका'। डॉ० बागची के अनुसंधान से ज्ञात हुआ है कि वस्तुतः इन ग्रंथों को हस्तलिपि ईसवी सन् की ग्यारहवीं शताब्दा के मध्यभाग की है, नवीं शताब्दी की नहीं। इन पुस्तकों की पुष्पिका में आचार्य का नाम कई प्रकार से लिखा गया है। नीचे वे दिये जा रहे है—

कौलज्ञाननिर्णय में—मच्छघ्नपाद, मच्छेन्द्रपाद, मत्स्येंद्रपाद और
मीनपाद
अकुलवीरतंत्र में—(ए) मीनपाद
(बी) मच्छेन्दपाद
कुलानंद में—मत्स्येंद्र
ज्ञानकारिका में—मच्छिन्द्रनाथपाद

मच्छेन्द्र, मच्छिन्द्र और मच्छेन्द आदि नाम मत्स्येंनाथ के अपभ्रंश रूप हो सकते हैं पर 'मच्छघ्न' शब्द मत्स्येंद्र का प्राकृत रूप किसी प्रकार नहीं हो सकता। इस नाम पर से हरप्रसाद शास्त्री का अनुमान है कि मत्स्येंद्रनाथ मछली मारने वाली कैवर्त्त जाति में उत्पन्न हुए थे। 'कौलज्ञान निर्णय' से भी मत्स्यघ्न नाम का समर्थन होता है। इस ग्रंथ से पता चलता है कि मत्स्येंद्रनाथ थे तो ब्राह्मण परन्तु एक विशेष कारण से उनका नाम 'मत्स्यघ्न' पड़ गया। कार्तिकेय ने 'कुलागम शास्त्र को' चुरा कर समुद्र में फेंक दिया था तब उस शास्त्र का उद्धार करने के लिये स्वयं भैरव अर्थात् शिव ने मत्स्येंद्रनाथ का अवतार धारण कर समुद्र में घुसकर उस शास्त्र का भक्षण करने वाले मत्स्य का उदर विदीर्ण करके शास्त्र का उद्धार किया। इसी कारण से वे 'मत्स्यघ्न' कहलाए।

यह ध्यान देने की बात है कि अभिनवगुप्तपाद ने भी 'मच्छन्द्र' नाम का ही प्रयोग किया है और रूपकात्मक अर्थ समझ कर उसकी व्याख्या की है। इनके मत से आतान-वितान-वृत्यात्मक जाल को छिन्न करने के कारण उनका नाम 'मच्छन्द' पड़ा।'[2] और तंत्रालोक के टीकाकार जयद्रथ ने भी इसी प्रकार का एक श्लोक उद्धृत किया है जिसके अनुसार 'मच्छ' चपल चित्तवृत्तियों को कहते हैं। ऐसी वृत्तियों को

---

१. नेपाल कैटलॉग : २ य भाग, पृ० XIX

२. रागारुणं ग्रथिविलावकीर्णं यो जालमातान वितान वृत्ति—
कलोम्भितं बाह्यपथे चकार स्यामे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः ।।१।१७
—तंत्रालाक : प्रथम भाग, पृ० २५

छेदन करने के कारण ही वे 'मच्छन्द' कहलाए।[१] कबीर संप्रदाय में अब भी 'मच्छ' शब्द मन अर्थात् चपल चित्तवृत्तियों को कहते हैं।[२] यह परंपरा अभिनवगुप्त तक जाती है। उससे पहले भी ऐसी परंपरा नहीं रही होगी यह नहीं कहा जा सकता। प्राचीनतर बौद्ध सिद्धों के पदों से इस प्रकार के प्रमाण संग्रह किए जा सके हैं कि 'मत्स्य' प्रज्ञा का वाचक था। इस प्रकार मत्स्येंद्रनाथ की जीवितावस्था में ही, मच्छन्न के प्रतीकात्मक अर्थ में उनका कहा जाना असंगत कल्पना नहीं है।

एक और प्रश्न उठता है कि मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न-भिन्न। 'हठयोग प्रदीपिका' में मीननाथ को मत्स्येंद्रनाथ से पृथक व्यक्ति बताया गया है। डा० बागची कहते हैं कि यह बात बाद की कल्पना जान पड़ती है। 'कौलज्ञान निर्णन' में कई जगह मीननाथ का नाम आने से उन्हें इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। सांप्रदायिक अनुश्रुतियों के अनुसार मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ के पुत्र थे।[३] डा० बागची इस मत को परवर्ती कल्पना मानते हैं। परन्तु सिद्धों की सूची देखने से जान पड़ता है कि यह परंपरा काफी पुरानी है। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार मीननाथ मत्स्येंनाथ के पिता थे।[४] इस प्रकार यह एक विचित्र उलझन है। (१) 'कौलज्ञान निर्णय' के अनुसार मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ से अभिन्न हैं (२) सांप्रदायिक अनुश्रुति में वे मत्स्येंद्रनाथ के पुत्र हैं, और (३) तिब्बती परंपरा में वह स्वयं मत्स्येंद्रनाथ के ही पिता हैं, फिर (४) नेपाल में प्रचलित विश्वास के अनुसार वे मत्स्येंद्रनाथ के छोटे भाई हैं !!

'वर्णरत्नाकर' में प्रदत्त नाथ सिद्धों की सूची काफी पुरानी है। इसमें प्रथम सिद्ध का नाम मीननाथ है और ४१वें सिद्ध का नाम मीन है। प्रथम सिद्ध मीननाथ निश्चय ही मत्स्येंद्रनाथ हैं। इकतालासवें मीन कोई दूसरे हैं जो मीननाथ की शिष्य परंपरा में पड़ने के कारण उनके पुत्र मान लिये गये होंगे। परन्तु 'वर्ण रत्नाकर' से स्पष्ट रूप से दो बातें मालूम होती हैं—(१) यह कि मीननाथ और मत्स्येंन्द्रनाथ एक ही प्रथम नाथ सिद्ध के दो नाम हैं और (२) यह कि 'हठयोग प्रदीपिका' में मत्स्येंद्र के अतिरिक्त भी जो एक मीन नाम आता है उसका कारण यह है कि वस्तुतः ही नाथ परम्परा में एक और भी मीन नामधारी सिद्ध हो चुके हैं'

मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ के एक होने का एक महत्वपूर्ण प्रमाण यह है कि 'तंत्रालोक' की टीका में जयद्रथ ने दो पुराने श्लोक उद्धृत किए हैं इनमें शिव ने कहा है कि मीननाथ नामक महासिद्ध 'मच्छन्द' ने कामरूप नामक महापीठ में मुझसे योग

---

१. मच्छाः पाशाः समाख्याताश्चपलाश्चित्तवृत्तयः।
छेदितास्तु यदा तेन मच्छन्दस्तेन कीर्तितः॥
२. विचारदास की टीका : पृ० ४०।
३. यो० सं० आ० : पृ० २२७ और आगे।
४. बौ० गा० दो० : पृ० ४॥ ☰ गंगा पुरातत्वांक : पृ० २२१।

पाया था।[1] निस्संदेह टीकाकार के मन में 'कौलज्ञान निर्णय' नाम ग्रंथ ही रहा होगा क्योंकि उन्होंने लिखा है कि यह मच्छन्द 'सकुल कुल शास्त्रों के अवतारक रूप में प्रसिद्ध हैं''[2] यह लक्ष्य करने की बात है कि 'कौलज्ञान की पुष्पिका' में बराबर मच्छन्द या मत्स्येंद्रनाथ को 'योगिनी कौलज्ञान' का अवतारक बताया गया है।[3] इस प्रकार यह निर्विवाद है कि प्राचीन काल में मत्स्येंद्रनाथ का नाम ही मीन या मीननाथ माना जाता था।

ये मत्स्येंद्रनाथ कौन थे और किस कुल तथा देश में उत्पन्न हुए थे ? इनके रचित ग्रन्थ क्या हैं ? इनका साधन मार्ग क्या था और कैसा था ? इत्यादि प्रश्न सहज-समाधेय नहीं हैं। सारे देश में इनके तथा इनके गुरु भाई जालंधरनाथ और शिष्य गोरक्षनाथ के सम्बन्ध में इतनी तरह की दन्तकथाएं प्रचलित हैं कि उनके आधार पर इतिहास को खोज निकालना काफी कठिन है। फिर भी सभी परम्पराएं कुछ बातों में मिलती हैं इसीलिये उन पर से ऐतिहासिक कंकाल का अनुमान हो सकता है।

किसी-किसी पंडित ने बौद्ध सहजयानियों के आदि सिद्ध लुईपाद और मत्स्येंद्र-नाथ को एक ही व्यक्ति बताने का प्रयत्न किया है। लुई शब्द को लोहित (=रोहित =मत्स्य) शब्द का अपभ्रंश मान कर इस मत की स्थापना की गई है। इस कल्पना का एक और कारण यह है कि तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार लुईपाद का एक और नाम मत्स्यान्त्राद (=मछली की अंतड़ी खाने वाला) दिया हुआ है। यह नाम मच्छघ्न नाम से मिलता है। इस प्रकार उपर्युक्त कल्पना को बल मिलता है। यदि यह कल्पना सत्य हो तो मत्स्येंद्रनाथ का समय आसानी से मालूम हो सकता है। लुई-पाद के एक ग्रथ में दीपंकर श्री ज्ञान ने सहायता दी थी। ये दीपंकर श्रीज्ञान सन् १०३८ ई० में ५८ वर्ष की उमर में विक्रमशिला से तिब्बत गए थे।[6] अतएव लुईपाद का समय इसी के आस पास होगा। परन्तु कई कारणों से लुईपाद और मत्स्येंद्रनाथ के एक व्यक्ति होने में संदेह है। हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि नेपाल के बौद्ध लोग गोरक्षनाथ पर तो बहुत नाराज हैं पर मत्स्येंद्रनाथ को अवलोकितेश्वर का अवतार

---

१. भैरव्या भैरवात् प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन बरानने।
कामरूपे महापीठे मच्छन्देन महात्मना॥
—तंत्रालोक टीका : पृ० २४

२. स च (मच्छन्दः) सकलकुलशास्त्रावतारकतया प्रसिद्धः।—वही

३. तु०—पदावतारितं ज्ञानं कामरूपी त्वया मया।
—कौ० ज्ञान० नि० : १६-२१

४. राहुल जी के मत से सहजयानियों के आदि सिद्ध सरह थे, लुई नहीं।

५. बौ० गा० दो० : पृ० १५।

६. बौ० गा० दो० : पृ० १५।

मानते हैं। सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ ने लिखा है कि गोरक्षनाथ पहले बौद्ध थे। उस समय उनका नाम अनगवज्र था (यद्यपि शास्त्री जी को कोई विश्वसनीय प्रमाण मिला है कि गोरक्षनाथ का पुराना नाम अनांगवज्र नहीं बल्कि रमणवज्र था।) इसलिये नेपाली बौद्ध उन्हें धर्मत्यागी समझ कर घृणा करते हैं। परन्तु मत्स्येंद्रनाथ पर जब उनकी श्रद्धा है तो मानना पड़ेगा कि धर्मत्यागी नहीं हो सकते। शास्त्रीजी का अनुमान है कि मत्स्येंद्रनाथ कभी बौद्ध थे ही नहीं, क्योंकि मत्स्येंनाथ का पूर्व नाम मच्छघ्न था अर्थात् वे मछली मारने वाले कैवर्त थे। बौद्धों के स्मृतिग्रंथों में लिखा है कि जो लोग निरन्तर प्राणि-हत्या करते हैं उनको—जैसे जाल फेंकने वाले मल्लाह, कैवर्त आदि को—बौद्धधर्म में दीक्षित नहीं करना चाहिए। इसलिये मच्छघ्ननाथ बौद्ध नहीं हो सकते। वे नाथ-पंथियों के ही गुरु थे फिर भी नेपाली बौद्धों के उपास्य हो सके हैं।[1] शास्त्रीजी की युक्ति संपूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं मालूम होती क्योंकि बौद्ध सिद्धों में कम से कम एक मीनपा ऐसे अवश्य हैं जिनकी जाति मछुआ है।[2] परंतु आगे हम जो विचार करने जा रहे हैं उससे इतना निश्चित है कि शास्त्रीजी का यह मन्तव्य कि मत्स्येंद्रनाथ कभी बौद्ध थे ही नहीं ठीक है। तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ के अनुसार गोरक्षनाथ पहले बौद्ध तांत्रिक ही थे पर बारहवीं शताब्दी में सेन राजवंश के अंत के साथ वे शिव (ईश्वर) के उपासक हो गए क्योंकि वे मुसलमान विजेताओं का विरोध नहीं करना चाहते थे।[3]

'गोरक्ष शतक' के दूसरे श्लोक में मीननाथ को अपना गुरु मानकर गोरक्षनाथ ने स्तुति की है। वही श्लोक 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' (पृ० ४०) में 'विवेक मार्तण्ड' का कहकर उद्धृत है। इसमें मीननाथ की स्तुति है। प्रसंग से ऐसा जान पडता है कि ये मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ ही हैं। इसमें कहा गया है कि जिन्होंने मूलाधारबंध उड्डियानबंध, जालंधरबंध आदि योगाभ्यास से हृदय-कमल में निश्चय दीप की ज्योति सरीखी परमात्मा की कला का साक्षात्कार करके युग-कल्प आदि के रूप में चक्कर काटने वाले काल के रहस्यों को तथा समस्त तत्वों को योगाभ्यास से जय कर लिया था और स्वयं ज्ञान और आनंद के महासमुद्र श्री आदिनाथ का स्वरूप हो गए थे उन श्री मीननाथ को प्रणाम है।[4] उसी ग्रंथ में मीननाथ का कहा हुआ एक श्लोक है जिसमें बताया

---

१. बौ० गा० दो० : पृ० १६।

२. राहुल सांकृत्यायन : गंगा पुरातत्वांक, पृ० २२१।

३. (१) गेशिस्टेदे स बुधिस्म ट्रा० इन-इण्डिएन, ट्रा० शीफनेर० सेंट पीटर्सबर्ग सन् १८६८, पृ० १७४, २५५, ३२३।
   (२) लेवी, ल नेपाल : पृ० ३५५ और आगे।
   (३) ग्रियर्सन इ० रे० ए० : पृ० ३२८।

४. अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिका स्वधारवेधादिभि-
   र्यो योगीयुगकल्पकालकलनात्वं च यो गीयते।

गया है कि योगी लोग जिस शिव की उपासना करते हैं उनके कोपानल से कामदेव जलकर भस्म हो गया था। इस पर से ग्रंथ संग्रहीता ने निष्कर्ष निकाला है कि योगी लोग कामभाव के विरोधी हैं और उनका मत पूर्ण ब्रह्मचर्य पर आधारित है।[1] स्पष्ट ही स्मर दीपिका के ग्रंथकार मीननाथ[2] यह मीननाथ नहीं हो सकते क्योंकि दोनों के प्रतिपाद्य परस्पर-विरुद्ध हैं। वस्तुतः स्मर-दीपिकाकार कोई दूसरे मीननाथ हैं और नाथ मार्ग से उनका कोई सम्बद्ध नहीं है। यह ध्यान देने की बात है कि 'गोरक्ष शतक' के टीकाकार लक्ष्मीनारायण भी मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ को एक ही मानते हैं।[3]

नेपाल दरबार लाइब्रेरी में 'नित्याह्निकतिलकम्' नामक पुस्तक है। इसमें एक जगह पचीस कौल सिद्धों के नाम, जाति, जन्म-स्थान, चर्यानाम, गुप्तनाम, कीर्ति-नाम और उनकी शक्तियों के नाम दिए हुए हैं। डा० बागची ने 'कौल ज्ञान निर्णय'

ज्ञानान्मोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथं स्वयं।
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्री मीननाथभजे॥

'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में यह श्लोक अशुद्ध रूप में उद्धृत है। इसका शुद्ध रूप पं० महीधर शर्मा की पुस्तक में उपलब्ध है। तदनुसार द्वितीय पंक्ति के 'यो गीयते' के स्थान में 'जेगीयते' पाठ होना चाहिए। तृतीय पंक्ति के आरंभ में 'ज्ञानामोद-महीदधिः' होना चाहिये और 'आदिनाथ के स्थान में 'आदिनाथः' पाठ होना चाहिए (—गो० प०, पृ० ७) इसका यही शुद्ध रूप 'गोरक्ष-शतक' में भी मिलता है (ब्रिग्स, पृ० २८४)।

१. परमहंसास्तु कामंनिषेधयन्ति स निषेधो न भवत्येवम्। कथम्? तदुक्तं श्री मीन-नाथेन—

हरकोपानलेनैव भस्मीभूतः कृतः स्मरः।
अर्द्धगौरीशरीरो हि तेन तस्मै नमोऽस्तु ते।
अतो महासिद्धा विषयरीत्या तु त्यागमेव कुर्वन्ति॥

—गो० सि० सं०, पृ० ६६-६७

२. 'नागर सर्वस्व' (पद्मश्री-विरचित) बंबई १८२१ की टिप्पणी में पं० तनसुखराम शर्मा ने मीननाथ नामक एक कामशास्त्रीय आचार्य की पुस्तक 'स्मर दीपिका' से अनेक वचन उद्धृत किए हैं।

३. लेवी (ल नेपाल; जि० १, पृ० १५५) ने लिखा है कि श्रीनाथ महाराज जोशी साखर (सार्थ ज्ञानेश्वरी, १८-१७५४) ने मीननाथ का अनुवाद मत्स्येंद्रनाथ किया है। इस पर टीका करते हुए ब्रिग्स ने (पृ० २३०) लिखा है कि बंगाल में मीन-नाथ मत्स्येंद्रनाथ से भिन्न माने जाते हैं। कहना व्यर्थ है कि यह बात आंशिक रूप में ही सत्य है।

की भूमिका में इस सूची को उद्धृत किया है। इस सूची में एक नाम मत्स्येंद्रनाथ भी है। इसके अनुसार मत्स्येंद्रनाथ का विवरण इस प्रकार है—

नाम—विष्णुशर्मा

जाति—ब्राह्मण

जन्मभूमि—वारणा (बंग देश)

चर्यानाम—श्री गौडीशदेव

पूजानाम—श्री पिप्लीशदेव

गुप्तनाम—श्री भैरवानन्द नाथ

कीर्तिनाम—तीन थे। ये भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न सिद्धियों को दिखाने से प्राप्त हुए थे। प्रथम कीर्तिनाम वीरानंदनाथ था, पर जब इंद्र से अनुगृहीत हुए तब इन्द्रानंददेव हुआ ; फिर जब मर्कट नदी में बैठ कर समस्त मत्स्यों को कर्षित किया तो मत्स्येंद्रनाथ नाम पड़ा। यह कीर्तिनाम ही देश-विश्रुत हुआ है।

शक्ति नाम—इनकी शक्ति का नाम श्री ललिताभैरवी अम्बा पापू था। चंद्रद्वीप के बारे में तरह-तरह के अटकल लगाए गए हैं। किसी के मत से वह कलकत्ते के दक्षिण में अवस्थित सुंदर वन है (क्योंकि सुन्दर वस्तुतः 'चंद्र' का ही परवर्ती रूपान्तर है)। और किसी किसी के मत से नवाखाला जिले में। पागलबाबा ने मुझे बताया था कि चद्रद्वीप कोई आसाम का पहाड़ी स्थान है जो नदी के बहाव से घिरकर द्वीप जैसा बन गया है। अब भी योगी लोग उस स्थान पर तीर्थ करने जाते हैं। चद्रद्वीप कामरूप के आस-पास ही कोई जगह होगी क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि मत्स्यद्रनाथ ने कामरूप ने में साधना की थी। तंत्रालोक की टीका से भी इसी अनुमान की पुष्टि होती है। नदी के बहाव से घिरे हुए स्थान को पुरानजमाने में द्वीप कहते थे। 'नवद्वीप' नामक प्रसिद्ध विद्यापीठ-नगर इसी प्रकार के बहावों के मध्य में स्थित नौ छोटे-छोटे टापुओं (द्वीपों) को मिला कर बसा था। 'रत्नाकर जो पम कथा' नामक भाट ग्रंथ से भी चंद्रद्वीप का लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी के भीतर होना पुष्ट होता है (गंगा, पुरातत्वांक, पृ० २२४) परन्तु 'कोलज्ञान निर्णय' १६वें पटल से जान पड़ता है कि चंद्रद्वीप कहीं समुद्र के आस-पास था। 'योगिसंप्रदाय विष्कृति' (पृ० २२) में चंद्रगिरि नामक स्थान को गोरक्षनाथ की जन्मभूमि कहा गया है। यह स्थान गोदावरी गंगा के समीपवर्ती प्रदेश में बताया गया है।

४

मत्स्येन्द्रनाथ-विषयक कथाएँ और उनका निष्कर्ष

मत्स्येंद्रनाथ-विषयक मुख्य कहानियाँ नीचे संग्रह की जा रही हैं—

१. कौलज्ञान निर्णय (१६-२६-३६)

भैरव और भैरवी चंद्रद्वीप में गए हुए थे। वहाँ कार्तिकेय उनके शिष्य रूप में पहुँचे। अज्ञान के प्राबल्य से उन्होंने महान् 'कुलागम शास्त्र' को समुद्र में फेंक दिया। भैरव ने समुद्र में जाकर मछली का पेट फाड़ कर उस शास्त्र का उद्धार किया इस कार्य से कार्तिकेय बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने एक बड़ा-सा गड्ढा खोदा और छिपकर दुबारा उस शास्त्र को समुद्र में फेंक दिया। इस बार एक प्रचण्डतर शक्तिशाली मत्स्य ने उसे खा लिया। भैरव ने शक्ति-तेज से एक जाल बनाया और उस मत्स्य को पकड़ना चाहा। पर वह प्रायः उतना ही शक्ति-सम्पन्न था जितना स्वयं भैरव थे। हार कर भैरव को ब्राह्मण वेश त्याग करना पड़ा। उस महामत्स्य का उदर फिर से विदीर्ण करके उन्होंने 'कुलागम शास्त्र' का उद्धार किया।

२. बंगला में मीननाथ

(मत्स्येंद्रनाथ) के उद्धार के संबंध में दो पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। एक फयजुल्ला का 'गोरक्षविजय' और दूसरी श्यामादास का 'मीन चेतन'। दोनों पुस्तकें वस्तुतः एक ही हैं। इनमें जो कहानी दी हुई है उसे श्री सुकुमार सेन के बंगला साहित्य के इतिहास, पृ० ६३७ से संक्षिप्त रूप में संग्रह किया जा रहा है—

आद्य और आद्या ने पहले देवताओं को सृष्टि की। बाद में चार सिद्धों की उत्पत्ति हुई। पश्चात् एक कन्या भी उत्पन्न हुई, नाम रखा गया, गौरी। आद्य के आदेश से शिव ने गौरी से विवाह किया और पृथ्वी पर चले आए। चारों सिद्धों ने, जिनके नाम मीननाथ गोरक्षनाथ, हाड़फा (जालंधरिनाथ) और कानफा (कानूपा कृष्णपाद) थे, वायुमात्र के आहार से, योगाभ्यास आरंभ किया। गोरक्षनाथ मीननाथ के सेवक हुए और कानपा (कानफा) हाड़िफा (हाड़िपा) के। उधर एक दिन गौरी ने शिव के गले में मुण्डमाला देखकर उसका कारण पूछा। शिव ने बताया कि वस्तुतः वे मुण्ड गौरी के हा हैं। गौरी हैरान! क्या कारण कि वे बराबर मरती रहती हैं और

शिव कभी नहीं मरते। पूछने पर शिव ने बताया कि यह गुप्त रहस्य सबके सुनने योग्य नहीं है। चलो हम लोग क्षार सागर में 'टंग' (=डोंगी) पर बैठ कर इस ज्ञान के विषय में वार्तालाप करें। दोनों हो क्षीर सागर पहुँचे, इधर श्री मीननाथ मछली बन कर टंग के नीचे बैठ गए। देवी को सुनते सुनते जब नींद आ गई तब भी मीननाथ हुँकारी भरते रहे। इस आवाज से जब देवी की निद्रा टूटी, तो वे कह उठीं कि मैंने तो महाज्ञान सुना ही नहीं। शिव विचारने लगे कि यह हुँकारी किसने भरी। देखते हैं तो 'टंग' के नीचे मीननाथ हैं। उन्होंने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि तुम एक समय महाज्ञान भूल जाओगे।

आदिगुरु शिव कैलास पर्वत पर चले गए और वहीं रहने लगे। गौरी ने उनसे बार-बार आग्रह किया कि वे सिद्धों को विवाह करके वंश चलाने का आदेश दें। शिव ने कहा कि सिद्ध लोगों में काम-विकार नहीं है। गौरी ने कहा भला यह भी सम्भव है कि मनुष्य के शरीर में काम विकार हो ही नहीं, आप आज्ञा दें तो मैं परीक्षा लूँ। शिव ने आज्ञा दे दी। चारों सिद्ध चार दिशाओं में तप कर रहे थे—पूरब में हाड़िफा, दक्षिण में कानफा, पश्चिम में गोरक्ष और उत्तर में मीननाथ। देवी को परीक्षा का अवसर देने के लिए शिव ने ध्यान बल से चारों सिद्धों का आवाहन किया। चारों उपस्थित हुए। देवी ने भुवनमोहिनी रूप धारण करके सिद्धों को अन्न परोसा। चारों ही सिद्ध उस रूप पर मुग्ध हुए। मीननाथ ने मन ही मन सोचा कि यदि ऐसी सुंदरी मिले तो आनन्द केलि से रात काटूँ। देवी ने उन्हें शाप दिया कि तुम महाज्ञान भूल कर कदली देश में सोलह सौ सुन्दरियों के साथ कामकौतुक में रत होंगे। हाड़िफा ने ऐसी सुन्दरी का झाड़ू दार होने में भी कृतार्थ होने की अभिलाषा प्रकट की और फल-स्वरूप मयनामती रानी से घर में झाड़ूदार होने का शाप पाया। हाड़िफा के पुत्र गाधूर सिंह (पुस्तक में ये अचानक आते हैं) ने इस सुन्दरी को पाने के लिए हाथ-पैर कटा देने पर भी जीवन को सफल माना और बदले में कामार्त सौतेली माँ से अपमान पाने का शाप मिला।[1] कानफा ने मन ही मन सोचा की ऐसी सुन्दरी मिले तो प्राण देकर भी कृतार्थ होऊँ और इसीलिए देवी ने उन्हें शाप दिया कि तुरमान देश में डाहुका (?) होओ। पर गोरक्ष ने सोचा कि ऐसी सुन्दरी मेरी माता हो तो गोद में बैठकर स्नेह पाऊँ और दूध पाऊँ। गोरक्षनाथ परीक्षा में खरे उतरे और वर भी पाया, पर देवी ने उनकी कठोरतर परीक्षा लेने का संकल्प किया। शापानुसार सभी तित्तत्स्थानों में जाकर फल भोगने लगे। गोरक्षनाथ एक बार बकुल वृक्ष के नीचे बैठे समाधिस्थ हुए थे। देवी ने उन्हें नानाभाव से योगभ्रष्ट करना चाहा पर वे अन्त तक खरे उतरे। वे रास्ते में नग्न सो गईं, गोरक्ष ने विल्व पत्र से उनका शरीर ढँक दिया, मक्खी बन कर गोरक्ष के उदर में प्रविष्ट हो पीड़ा देने लगी। गोरक्ष ने श्वास रुद्ध करके उन्हें बुरी तरह छका दिया। अन्त में देवी राक्षसी बनकर मनुष्य बलि लेने लगीं। शिवजी

---

१. संभवतः चौरंगीनाथ से तात्पर्य है।

के द्वारा अनुरुद्ध होकर गोरक्ष ने देवी का उद्धार किया और उनके स्थान पर एक मूर्ति प्रतिष्ठित की। प्रवाद है कि कलकत्ते में काली रूप से पूजी जाने वाली मूर्ति वही मूर्ति है। देवी ने प्रसन्न होकर सुन्दर स्त्रीरत्न पाने का वर देकर गोरक्ष को अनुगृहीत किया। देवी के वर की मान-रक्षा के लिए शिव ने माया से एक कन्या उत्पन्न की जिसने गोरक्षनाथ को पति रूप में वरण किया। गोरख उसके घर में जाकर छः महीने के बालक बन गये और दूध पीने के लिए मचलने लगे। कन्या बड़े फेर में पड़ी। गोरक्षनाथ ने उनसे कहा कि मुझमें काम विकार तो होने से रहा पर तुम हमारा कोपीन या करपटी धोकर उसका पानी पी जाओ, तुम्हें पुत्र होगा। आदेश के अनुसार कन्या ने करपटी धोकर जलपान कर दिया। जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम कर्पटीनाथ पड़ा।

इसके बाद गोरक्षनाथ बकुल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हुए। उधर कानपा ठीक उनके सिर पर से उडते हुए आकाश मार्ग से कहीं जा रहे थे। छाया देखकर गोरक्ष ने सिर ऊपर उठाया और क्रोधवश अपना खड़ाऊँ फेंका। खड़ाऊँ ने कानपा को पकड़ कर नीचे किया। गोरक्षनाथ के सिर पर से उड़ने के अविचार का फल उन्हें हाथों हाथ मिला। पर कानपा ने व्यंग्य करते हुए कहा कि बड़े सिद्ध बने हो, कुछ गुरु का भी पता है कि वे कहाँ हैं। कदली देश में महाज्ञान भूलकर स्त्रियों के साथ वे विहार कर रहे हैं। उनकी शक्ति समाप्त हो गई। यमराज के कार्यालय में देख कर आ रहा हूँ कि उनकी आयु के तीन ही दिन बाकी हैं। बड़े सिद्ध हो तो जाओ, गुरु को बचाओ। गोरखनाथ ने कहा – मुझे तो समझा रहे हो। कुछ अपने गुरु की भी खबर है तुम्हें? मेहरकुल की महाज्ञानशीला रानी मयनामती के पुत्र गोपीचन्द ने उन्हें मिट्टी में गड़वा रखा है इस प्रकार अपने-अपने गुरु की बात जानकर दोनों सिद्ध उनके उद्धार के लिये अग्रसर हुए। पहले तो गोरक्षनाथ ने यमराज के कार्यालय में जाकर गुरु की आयु-क्षीणता को ही मिटा दिया फिर उसी मौलसिरी के नीचे लौट आए और लंग और महालंग नामक दो शिष्यों को लेकर गुरु के उद्धार के लिए कदली वन में प्रविष्ट हुए। वेश उन्होंने ब्राह्मण का बनाया। ब्राह्मण देखकर लोग उन्हें प्रणाम करने लगे, गोरक्ष-नाथ को भी आशीर्वाद देना पड़ा। पर यह आशीर्वाद पत्राधारी ब्राह्मण का तो था नहीं। सिद्ध गोरखनाथ के मुँह से निकला था। फल यह होने लगा कि सब पापी-तापी दुःख मुक्त होने लगे। गोरखनाथ ने इस वेश को ठीक नहीं समझा। उन्होंने योगी का वेश धारण किया। कदली देश के एक सरोवर के तट पर बकुल वृक्ष के नीचे समा-सीन हुए। उस सरोवर से एक कदली नारी आई थी। वह गोरखनाथ को देखकर मुग्ध हो गई। उसी से गोरखनाथ को पता लगा कि उनके गुरु मीननाथ सोलह सौ सेविकाओं द्वारा परिवृता मंगला और कमला नामक पटरानियों के साथ विहार कर रहे हैं। वहाँ योगी का जाना निषिद्ध है। जाने पर उनको प्राणदण्ड होगा। केवल नर्तकियाँ ही मीननाथ का दर्शन पा सकती हैं। गुरु के उद्धार के लिए गोरखनाथ ने नर्तकी का रूप धारण किया पर द्वारों के मुख से इस अपूर्व सुन्दरी की रूप सम्पत्ति की

बात सुनकर रानियों ने मीननाथ के सामने उसे नहीं आने दिया। अन्त में गोरखनाथ द्वार से ही मर्दल की ध्वनि की। आवाज सुनकर मीननाथ ने नर्तकी को बुलाया। मर्दल ध्वनि के साथ गोरखनाथ ने गुरु के पूर्ववर्ती बातों का स्मरण कराया और महाज्ञान का उपदेश दिया। सुनकर मीननाथ को चैतन्य हुआ। रानियों ने बिन्दुनाथ पुत्र को लेकर क्रंदन करके मीननाथ को विचलित करना चाहा पर गोरखनाथ ने बिंदुनाथ को मृत बनाकर और बाद में जीवित करके फिर उन्हें तत्त्वज्ञान दिया। कदली नारियों ने भी गोरखनाथ का प्राण लेने का षड्यन्त्र किया। सो गोरखनाथ ने उन्हें शाप दिया, वे चमगादड हो गईं। फिर गुरु और बिंदुनाथ को लेकर गोरखनाथ अपने स्थान विजयनगर में लौटे।

३. लेबीनेल नेपाल

जि० १ पृ० ३०७-३५५ में नेपाल में प्रचलित दो कहानियों का संग्रह किया है। ग्रियर्सन ने इ० रे० ए० में और बागची ने कौल ज्ञान निर्णय की भूमिका में इन कहानियों का सार दिया है। यो० सं० आ० में भी यह कहानी कुछ परिवर्तित रूप में पाई जाती है। नीचे इन तीनों कहानियों का संग्रह किया जा रहा है—

(क) नेपाल में प्रचलित बौद्धिकता—बौद्ध कथा में मत्स्येंद्रनाथ को अवलोकितेश्वर समझा गया है। मत्स्येंद्रनाथ एक पर्वत पर रहते थे जिस पर चढ़ना कठिन था। गोरखनाथ उनके दर्शन के लिए गये हुए थे पर पर्वत पर चढ़ना दुष्कर समझकर उन्होंने एक चाल चली। नौ नागों को बाँधकर वे बैठ गये जिसका परिणाम यह हुआ कि नेपाल में बारह वर्ष तक वर्षा नहीं हुई। राजा नरेंद्रदेव के गुरु बुद्धदत्त कारण समझ गये और अवलोकितेश्वर को ले आने का संकल्प करके कपोतक पर्वत पर गये। उनकी सेवा से प्रसन्न होकर अवलोकितेश्वर ने उन्हें एक मंत्र दिया और कहा कि इसके जप से वे आकृष्ट होकर जपकर्ता के पास आ जायगे। घर लौटकर बुद्धदत्त ने मंत्र जप का अनुष्ठान किया। मंत्र शक्ति से आकृष्ट होकर अवलोकितेश्वर मृग बन कर कमण्डलु में प्रविष्ट हुए। उस समय राजा नरेंद्रदेव सो रहा था। बुद्धदत्त ने लात मारकर उसे जगाया और इशारा किया कि कमण्डलु का मुख बन्द कर दे। वैसा करने पर अवलोकितेश्वर नेपाल में ही बंधे रह गये और नेपाल में प्रचुर वर्षा हुई। तभी से बुगम नामक स्थान में आज भी मत्स्येंद्रनाथ की यात्रा होती है।[1]

(ख) बुद्धपुराण नामक ग्रन्थ में ब्राह्मणों में प्रचलित कहानी है—महादेव ने एक बार पुत्राभिलाषिणी किसी स्त्री को खाने के लिये भभूत दी। अविश्वास होने के कारण उस स्त्री ने उसे गोबर में फेंक दिया। बारह वर्ष के बाद जब वे उस तरफ लौटे तो उस स्त्री से बालक के बारे में पूछा। स्त्री ने कहा कि उसने उस भभूत को गोबर

---

१. और भी देखिए : डी० राइट : हिस्टरी आफ नेपाल : कैम्ब्रिज, १८७७, पृ० १४० और आगे।

में फेंक दिया था। गोबर में देखा गया तो बारह वर्ष का दिव्य बालक खेलता हुआ पाया गया। महादेव ही मत्स्येंद्र थे और बालक गोरक्षनाथ। मत्स्येंद्र नाथ ने उसे शिष्य रूप में साथ रख लिया। एक बार गोरक्षनाथ नेपाल गए वहाँ पर लोगों ने उनका उचित सम्मान नहीं किया फलतः रुष्ट होकर गोरक्षनाथ बादलों को बाँध कर बैठ गए और नेपाल में बारह वर्ष का घोर अकाल पड़ा। नेपाल के सौभाग्य से मत्स्येंद्रनाथ उधर से पधारे और गुरु को समागत देखकर गोरक्षनाथ को अभ्युत्थान आदि से उनका सम्मान करना पड़ा। उठते ही बादल छूट गए और प्रचुर वर्षा हुई इसीलिये मत्स्येन्द्रनाथ के उस उपकार की स्मृतिरक्षा के लिये उत्सव यात्रा प्रवर्तित हुई।

(३) 'योगि संप्रदाया विष्कृति' में कहानी का प्रथम भाग (अध्याय ३ में) कुछ अन्तर के साथ दिया हुआ है। पुत्र-लाभ की कामना करनेवाली सरस्वती नामक ब्राह्मणी ने जो गोदावरी गंगा के समीपवर्ती चंद्रगिरि नामक स्थान के ब्राह्मण सुराज की पत्नी थी भभूत को फेंक नहीं दिया था बल्कि खा गई थी और उसी के गर्भ में गोरक्षनाथ आविर्भूत हुए थे। कहानी का दूसरा भाग भी परिवर्तित रूप में पाया जाता है (अध्याय ४६)। इस ग्रंथ के अनुसार नेपाल में एक मत्स्येन्द्री जाति थी जिस पर तत्कालीन राजा और राजपुरुष लोग अत्याचार कर रहे थे। यह जाति गोरक्षनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की पूजा करती थी। उनकी करुण कहानी सुनकर ही गोरक्षनाथ नेपाल के राजा को दंड देने के लिये तीन वर्ष तक अकाल उत्पन्न कर दिया था। राजा के गलती स्वीकार करते और मत्स्येन्द्रियों पर अत्याचार न करने का अश्वासन देने के बाद गुरु गोरक्षनाथ ने कृपा की और प्रचुर वर्षा हुई। राजा ने मत्स्येन्द्रनाथ के सम्मान में शानदार यात्रा प्रवर्तित की, पर असल में वह दिखावा भर था। अपने पुराने दुष्कृत्यों को वह दुहराता ही रहा। लाचार होकर गुरु गोरक्षनाथ ने वसन्त नामक अपने अकिंचन शिष्य को मिट्टी के पुतले बनाने का आदेश दिया। गुरु की कृपा से ये पुतले सैनिक बन गये। इन्हीं को लेकर वसन्त ने महीद्रदेव पर चढ़ाई की। बाद में पराजित महींद्रदेव ने वसन्त को राज्य का उत्तराधिकारी स्वीकार किया और इस प्रकार सं० ४२० में गोरखा राज्य प्रतिष्ठित हुआ।

४. योगि संप्रदाया विष्कृति में मत्स्येंद्रनाथ संबंधी कथाएँ

नारदजी से पार्वती को यह रहस्य मालूम हुआ कि शिवजी ने गले में जो मुण्ड-माल धारण किया है, वह उनके ही पूर्व जन्मों के कपाल हैं; अमरकथा न जानने के कारण ही वे मरती रहती हैं और उसके जानने के कारण ही शिव अमर बने हुए हैं। पार्वती के अत्यन्त आग्रह पर शिवजी ने अमरकथा सुनाने के लिए समुद्र में निर्जन स्थान चुना। इधर कवि नारायण मत्स्येन्द्रनाथ के रूप में एक भृगुवंशीय ब्राह्मण के घर अवतरित हुए थे। पर गंडन्त योग मे पैदा होने के कारण उस ब्राह्मण ने उन्हें समुद्र में फेंक दिया। एक मछली उन्हें बारह वर्ष तक उन्हें निगले रही और वे उसके पेट मे ही बढ़ते रहे। पार्वती को सुनाई जाने वाली अमरकथा को मछली के पेट से इस

बालक ने सुना और बाद में शिवजी द्वारा अनुगृहीत और उद्धत होकर महासिद्ध हुआ (अध्याय २)। इस बालक ने (मत्स्येन्द्र ने) अपनी अपूर्व सिद्धि के बल से हनुमान, वीरवैताल, वीरभद्र, भद्रकाली, वीरभद्र और चामुण्डा देवी को पराजित किया (अध्याय ५-१०) परन्तु दो बार यह गृहस्थी के चक्र में फंस गये। प्रथम बार तो प्रयागराज के राजा के मरने से शोकाकुल जनसमूह को देखकर गोरक्षनाथ ने ही उनसे राजा के मृत शरीर में प्रवेश करके लोगों को सुखी करने का अनुरोध किया और मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने मृत शरीर की बारह वर्ष तक रक्षा करने की अवधि दे कर राजा के शरीर में प्रवेश किया। बारह वर्ष तक वे सानन्द गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते रहे। किसी प्रकार रानियों को रहस्य मालूम हो गया और उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ के मृत शरीर को नष्ट कर देना चाहा। पर वीरभद्र उस शरीर को ले गये और वह नष्ट होने से बच गया। अपने पुराने वैर के कारण वीरभद्र उस शरीर को लौटाना नहीं चाहते थे, परन्तु गोरक्षनाथ की अद्भुत शक्ति के सामने उन्हें झुकना पड़ा और मत्स्येन्द्रनाथ को फिर अपना शरीर प्राप्त हुआ। इसी समय मत्स्येन्द्रनाथ के माणिकनाथ नामक पुत्र उत्पन्न हुए जो बाद में चलकर बहुत बड़े सिद्ध योगी हुए। एक दूसरी बार त्रियादेश (अर्थात् सिंहल देश) की रानी ने अपने रुग्ण-क्षीण पति से असन्तुष्ट होकर अन्य योग्य पुरुष की कामना करती हुई हनुमान जी की कृपा प्राप्त की। हनुमान जी ने स्वयं गृहस्थी के बंधन में बंधना अस्वीकार किया, पर मत्स्येन्द्रनाथ को ले आ दिया। रानियों ने राज्य में योगियों को आना निषेध कर दिया था। गोरक्षनाथ गुरु का उद्धार करने आये तो हनुमानजी ने बाधा दी। व्यर्थ का झगड़ा मोल न लेकर गोरखनाथ ने बालक-वेश बना राज्य में प्रवेश किया। उसी समय कलिंगा नामक अपूर्व नृत्य-चतुरा वेश्या मत्स्येन्द्रनाथ के अन्तःपुर में नाचने जा रही थी। गोरक्षनाथ ने साथ चलना चाहा और स्त्रीवेश बनाने और तबला बजाने में अपनी निपुणता का परिचय देकर उसे साथ ले चलने को राजी किया। रात को अन्तःपुर में कलिंगा का मनोहर नृत्य हुआ और मत्स्येंद्रनाथ मुग्ध हो रहे। गोरक्षनाथ ने मंत्र-बल से तबलची के पेट में पीड़ा उत्पन्न कर दी और इस प्रकार कलिंगा ने निरुपाय होकर उनसे तबला बजाने का अनुरोध किया। अवसर देखकर गोरखनाथ ने तबले पर 'जागो गोरखनाथ आ गया' की ध्वनि की और गुरु को चैतन्य-लाभ कराया। रानी ने बहुत प्रकार से गोरक्षनाथ को वश करना चाहा और मत्स्येन्द्रनाथ भी वह सुख छोड़कर अन्यत्र जाने में बहुत पशोपेश करते रहे पर अन्त तक गोरक्षनाथ उन्हें क्षणभंगुर विषय-सुख से विरक्त करने में सफल हुए। इसी समय मत्स्येन्द्रनाथ के दो पुत्र हुए थे—परशुराम और मनीराम, जो आगे चलकर बड़े सिद्ध हुए। (अध्याय २३) यह कथा सुधाकर चंद्रिका (पृ० २४०) में संक्षिप्त रूप में दी हुई है। इसके अनुसार गोरखनाथ ने तबले से यह ध्वनि निकाली थी 'जाग मछंदर गोरख आया।'

५. नाथचरित्र की कथा

पं० विश्वेश्वरनाथ जी रेउ ने सरदर म्यूजियम, जोधपुर ने सन् १९३७ ई०

में 'नाथ चरित्र' 'नाथ पुराण' और 'मेघमाला' नामक पुस्तकों से और उनके आधार पर बने हुए चित्रों से नाथ-परंपरा की कुछ कथाएँ संगृहीत की हैं। 'नाथचरित्र' नामक ग्रंथ आज से लगभग सौ-सवा सौ वर्ष पहले महाराजा मानसिंह के समय में संग्रह किया गया था, जो किसी कारण-वश पूरा नहीं हो सका। इस पुस्तक पर महाराजा मानसिंह की एक संस्कृति टीका भी प्राप्त हुई है। प्रथम दो पुस्तक मारवाड़ी भाषा में हैं और अन्तिम (मेघमाला) संस्कृत में। इस संग्रह से मत्स्येन्द्रनाथ संबंधी दो कथाएँ उद्धृत की जा रही हैं।

(१) एक बार मत्स्येन्द्रनाथ संसार पर्यटन को निकले। मार्ग में जिस समय वह एक नगर में पहुँचे, उस समय वहाँ के राजा का स्वर्गवास हो गया और उसके नौकर उसके शरीर को वैकुंठी में रखकर जलाने को चले। इस पर मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने शरीर की रक्षा का भार अपने साथ के शिष्यों को सौंप कर 'परकाय प्रवेश' विद्या के बल से उस राजा के शरीर में प्रवेश किया। इससे वह राजा जी उठा और उसके साथ वाले सब हर्ष मनाने लगे। इस प्रकार राज-शरीर में रहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने बहुत समय तक भोग-विलास का आनन्द लिया। इसी बीच एक पर्व के अवसर पर हरद्वार में योगी लोग इकट्ठे हुए। वहाँ पर मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरक्षनाथ और कनीपाव के बीच विवाद हो गया और कनीपाव ने गोरक्ष को उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के भोग विलास में फँसे रहने का ताना दिया। यह सुन गोरक्ष राजा के शरीर में स्थित मत्स्येन्द्रनाथ के पास गए और उन्हें समझा कर वहाँ से चलने को तैयार किया। यह हाल जान रानी परिमला, जो विमलादेवी का अवतार थी, बहुत चिन्तित हुई। इस पर मत्स्येन्द्र ने रानी से फिर मिलने की प्रतिज्ञा की। अन्त में मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के जाने पर रानी ने अग्नि प्रवेश कर वह शरीर त्याग दिया और कुछ काल बाद एक राजा के यहाँ जयन्ती नामक कन्या के रूप में जन्म लिया। उसके बड़े होने पर पूर्व प्रतिज्ञानुसार मत्स्येन्द्र वहाँ पहुँचे और उससे विवाह कर कदलीवन में उसके साथ विहार करने लगे। देवताओं और सिद्धों ने वहाँ जाकर उनकी स्तुति की और नाथजी ने पहुँच कर मत्स्येन्द्र और जयन्ती को आशीर्वाद दिया।

(२) एक बार मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप देश में जाकर तप करने लगे। परन्तु जब वहाँ का राजा मर गया, तब उन्होंने मृत राजा के शरीर में प्रवेश कर उसकी मंगला नामक रानी के साथ विहार किया। इसी प्रकार उन्होंने उस राजा की अन्य रानियों के साथ भी आनन्दोपभोग किया। इससे उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए। कुछ काल बाद मंगला आदि रानियों ने मत्स्येन्द्र को पहचान लिया। अन्त में गोरक्षनाथ वहाँ आ पहुँचे और अपने गुरु मत्स्येन्द्र और उनके दोनों पुत्रों को लेकर वहाँ से चल दिए। परन्तु बहुत काल तक भोगासक्त रहने के कारण मत्स्येन्द्र का मन अभी तक सुवर्ण और रत्नादि में फँसा हुआ था। यह देख गोरक्ष ने मार्ग के एक पर्वत-शिखर को अपनी सुराही के जल छींटा देकर सुवर्ण का बना दिया। अपने शिष्य की इस सिद्धि को देख मत्स्येन्द्र ने अपने गले के आभूषण वगैरह तोड़ कर फेंक दिए। इसके बाद गोरक्ष-

नाथ ने सुवर्ण को कलह का मूल समझा, सुराही के जल से सुवर्ण शिखर को स्फेटिक का बना दिया। परन्तु इससे भी उसको सन्तोष न हुआ। इसलिये उसने तीसरी बार सुराही का जल लेकर, उसे गेरू (गैरिक) का बना दिया।

आगे पहुँचने पर मत्स्येन्द्र ने अपने दोनों पुत्रों को पास के एक नगर में भिक्षा माँग लाने के लिये भेजा। उनमें से एक तो पवित्र भिक्षा न मिलने से खाली हाथ लौट आया, और दूसरा एक चमार के दिए उत्तम भोज्य पदार्थों को ले आया। यह देख मत्स्येन्द्र ने पहले पुत्र को पार्श्वनाथ होने का वर दिया और दूसरे कों श्वेताम्बरी जैन होने का शाप दिया। इसके बाद वे सब कदलीवन को गये, और वहाँ पर मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के बीच अनेक विषयों पर वार्तालाप होता रहा।

निष्कर्ष

गोरक्षनाथ और मत्स्येंद्रनाथ विषयक समस्त कहानियों के अनुशीलन से कई बातें स्पष्ट रूप से जानी जा सकती हैं। प्रथम यह कि मत्स्येन्द्रनाथ और जालंधरनाथ समसामयिक थे। दूसरी यह कि मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु थे और जालंधरनाथ कानुपा या कृष्णपाद के गुरु थे। तीसरी यह कि मत्स्येंद्रनाथ कभी योग-मार्ग के प्रवर्तक थे फिर संयोगवश एक ऐसे आचार में सम्मिलित हो गए थे जिसमें स्त्रियों के साथ अबाध संसर्ग मुख्य बात थी—संभवतः यह वामाचारी साधना थी। चौथी यह कि शुरू से ही जालंधरनाथ और कानिपा की साधना-पद्धति मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ की साधना-पद्धति से भिन्न थी। यह स्पष्ट है कि किसी एक का समय भी मालूम हो जाय तो बाकी कई सिद्धों के समय का पता आसानी से लग जायगा। समय मालूम करने के लिये कई युक्तियाँ दी जा सकती हैं। एक एक कर हम उन पर विचार करें।

(१) सबसे प्रथम तो मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा लिखित 'कौलज्ञान निर्णय' ग्रन्थ का लिपि-काल निश्चित रूप से सिद्ध कर देता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती हैं।

(२) हमने ऊपर देखा है कि सुप्रसिद्ध काश्मीरी आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने 'तंत्रालोक' में मच्छंद विभु को नमस्कार किया है। ये 'मच्छंद विभु' मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं, यह भी निश्चित हैं। अभिनवगुप्त का समय निश्चित रूप से ज्ञात है। उन्होंने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की बृहतीवृत्ति' सन् १०१५ ई० में लिखी थी और क्रमस्तोत्र की रचना सन् ९९९ ई० में की थी। इस प्रकार अभिनवगुप्त सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी के अन्त में और ग्यारहवीं शताब्दी के आदि में वर्तमान थे।[1] मत्स्येन्द्रनाथ इससे पूर्व ही आविर्भूत हुए होंगे।

(३) पंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'गंगा के पुरातत्वांक' में ८४ वज्रयानी सिद्धों की सूची प्रकाशित कराई है। इसे देखने से मालूम होता है कि मानपा नामक

---

१. एस० के० दे; संस्कृत पोएटिक्स : जिल्द १, पृ० १०५।

सिद्ध जिन्हें तिब्बती परम्परा में मत्स्येंद्रनाथ का पिता कहा गया, पर जो वस्तुतः मत्स्येन्द्रनाथ से अभिन्न हैं, राजा देवपाल के राज्य-काल में हुए थे। राजा देवपाल ८०९-४९ ई० तक राज्य करते रहे ('चतुराशीति सिद्ध प्रवृत्ति', तनजूर ८६।१। कार्डियर पृ० २४७) इससे यह सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ नवीं शताब्दी के मध्य भाग में और अधिक से अधिक अन्त्य भाग तक वर्तमान थे।

(७) गोविन्दचन्द्र या गोपीचन्द्र का सम्बन्ध जालंधरपाद से बताया जाता है। वे कानफा के शिष्य होने से जालंधरपाद की तीसरी पुश्त में पड़ते हैं। इधर तिरुमलय की शैललिपि से यह तथ्य उद्धार किया जा सका है कि दक्षिण के राजा राजेंद्रचोल ने माणिकचंद्र के पुत्र गोविन्दचंद्र को पराजित किया था। बंगला में 'गोविन्दचन्द्रेर गान' नाम से जो पोथी उपलब्ध हुई है उसके अनुसार भी गोविन्दचंद्र का किसी दाक्षिणात्य राजा का युद्ध वर्णित है। राजेन्द्र चोल का समय १०६३ ई०—१११२ ई० है।[1] इससे अनुमान किया जा जाता है कि गोविन्दचंद्र ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य-भाग में वर्तमान थे। यदि जालंधरपाद उनसे सौ वर्ष पूर्ववर्ती हों तो भी उनका समय दसवीं शताब्दी के मध्य भाग में निश्चित होता है। मत्स्येंद्रनाथ का समय और भी पहले निश्चित हो चुका है। जालंधरपाद उनके समसामयिक थे इस प्रकार उनकी कष्ट-कल्पना के बाद भी इस बात से पूर्ववर्ती प्रमाणों की अच्छी संगति नहीं बैठती।

(५) वज्रयानी सिद्ध कण्हपा ने स्वयं अपने गानों में जालंधरपाद का नाम लिया है। तिब्बती परम्परा के अनुसार ये भी राजा देवपाल (८०९-८४९ ई०) के समकालीन थे।[2] इस प्रकार जालंधरपाद का समय इनसे कुछ पूर्व ही ठहरता है।

(६) कन्थड़ी नामक एक सिद्ध के साथ गोरखनाथ का संबंध बताया जाता है। प्रबंध चिन्तामणि में एक कथा आती है कि चौलुक्य राजा मूलराज ने एक मूलेश्वर नाम का शिवमंदिर बनवाया था। सोमनाथ ने राजा के नित्य-नियत बंदनपूजन से सन्तुष्ट होकर अणहिल्लपुर में अवतीर्ण होने की इच्छा प्रकट की। फलस्वरूप राजा ने वहाँ त्रिपुरुषप्रासाद नामक मंदिर बनवाया। उसका प्रबंधक होने के लिये राजा ने कंथड़ा नामक शैवसिद्ध से प्रार्थना की। जिस समय राजा उस सिद्ध से मिलने गया उस समय सिद्ध को बुखार था, पर अपने बुखार को उसने कंथा में संक्रमित कर दिया। कंथा काँपने लगी। राजा ने कारण पूछा तो उसने बताया कि उसी ने कंथा में ज्वर संक्रमित कर दिया है। बड़े छल-बल से उस निस्पृह तपस्वी को राजा ने मंदिर का प्रबंधक बनवाया।[3] कहानी के सिद्ध के सभी लक्षण नाथपंथी योगी के हैं। इस-लिये यह कथड़ी निश्चय ही गोरखनाथ के शिष्य ही होंगे। 'प्रबंध चिन्तामणि' की सभी प्रतियों में लिखा है कि मूलराज ने संवत् ९९३ की आषाढ़ी पूर्णिमा को राज्य-

---

१. दीनेशचंद्र सेन : वंगभाषा ओ साहित्य।
२. गंगापुरातत्वांक : पृ० २५४।
३. प्र० वि०, पृ० २२-२३।

भार ग्रहण किया था। केवल एक प्रति में ८८८ संवत् है।[1] इस हिसाब से जो काल अनुमान किया जा सकता है, वह पूर्ववर्ती प्रमाणों मे निर्धारित तिथि के अनुकूल ही है। ये ही गोरक्षनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ का काल-निर्णय करने के ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक आधार हैं। परन्तु प्रायः दन्तकथाओं और साम्प्रदायिक परम्पराओं के आधार पर भी काल-निर्णय का प्रयत्न किया जाता है। इन दन्तकथाओं से सम्बद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों का काल बहुत समय जाना हुआ रहता है। बहुत से ऐतिहासिक व्यक्ति गोरक्षनाथ के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। उनके समय की सहायता से भी गोरक्षनाथ के समय का अनुमान किया जा सकता है। ब्रिग्स ने इन दन्तकथाओं पर आधारित काल को चार मोटे विभागों में इस प्रकार बाँट लिया है :—

(१) कबीर, नानक आदि के साथ गोरक्षनाथ का संवाद हुआ था, इस पर दन्तकथाएँ भी हैं और पुस्तकें भी लिखी गई हैं। यदि इन पर से गोरक्षनाथ का काल-निर्णय किया जाय, जैसा कि बहुत से पडितों ने किया भी है, तो चौदहवीं शताब्दी के ईषत् पूर्व या मध्य में होगा। (२) गूंगा की कहानी, पश्चिमी नाथों की अनुश्रुतियाँ, बंगाल की शैवपरम्परा और धर्मपूजा का संप्रदाय दक्षिण के पुरातत्व के प्रमाण, ज्ञानेश्वर की परंपरा आदि को प्रमाण माना जाय तो यह काल १२०० ई० के उधर ही जाता है। तेरहवीं शताब्दी में गोरखनाथ का मत ढहा दिया गया था, इसका ऐतिहासिक सबूत है। इसलिये निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ १२०० ई० के पहले हुए थे। इस काल के कम से कम एक सौ वर्ष पहले तो यह काल होना ही चाहिए (३) नेपाल के शैव बौद्ध परम्परा के नरेंद्रदेव, उदयपुर के बाप्पा रावल उत्तर-पश्चिम के रसालू और होदी, नेपाल के पूर्व में शकराचार्य स भेंट आदि पर आधारित काल ८वीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल का निर्देश करते हैं। (४) कुछ परंपराएँ इससे भी पूर्ववर्ती तिथि की ओर संकेत करती हैं। ब्रिग्स दूसरे नंबर के प्रमाणों पर आधारित काल को उचित काल समझते हैं, पर साथ ही यह स्वीकार करते हैं कि यह अन्तिम निर्णय नहीं है। जब तक और कोई प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक वे गोरक्षनाथ के विषय में इतना ही कह सकते हैं कि गोरक्षनाथ १२०० ई० से पूर्व, संभवतः ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में, पूर्वी बंगाल मे प्रादुर्भूत हुए थे।[2] परन्तु सब मिलाकर वे निश्चित रूप से जोर देकर कुछ नहीं कहते और जो काल बताते हैं उसे क्यों अन्य प्रमाणों से अधिक युक्तिसंगत माना जाय, यह भी नहीं बताते। हम आगे 'संप्रदाय भेद' नामक अध्याय में तिथि की इस बहुरूपता के कारण का अनुसंधान करेंगे।

हमें ऊपर के प्रमाणों के आधार पर नाथमार्ग के आदि प्रवर्तकों का समय नवीं शताब्दी का मध्य-भाग ही उचित जान पड़ता है। इस मार्ग में इसके पूर्ववर्ती सिद्ध भी

---

१. वही, पृ० २०।

२. ब्रिग्स, पृ० २४३-४४।

बाद में चल कर अन्तर्भुक्त हुए हैं और इसलिये गोरक्षनाथ के संबंध में ऐसी दर्जनों दन्त-कथाएँ चल पड़ी हैं, जिनको ऐतिहासिक तथ्य मान लेने पर तिथि संबंधी झमेला खड़ा हो जाता है। आगे हम इसकी युक्ति-संगति बैठा सकेंगे।

मत्स्येंद्रनाथजी जिस कदली देश या स्त्रीदेश में नये आचार में जा फँसे थे; वह कहाँ हैं ? 'मीनचेतन' और 'गोरक्षविजय' में उसका नाम कदली देश बताया गया है और 'योगिसंप्रदायाविष्कृति' में 'त्रियादेश' अर्थात् सिंहल द्वीप कहा गया है। सिंहल देश ग्रंथकार की व्याख्या है। भारतवर्ष में स्त्रीदेश नामक एक स्त्रीप्रधान देश की ख्याति बहुत पुराने जमाने से है। नाना स्थानों के रूप में इसे पहचानने की कोशिश की गई हैं। हिमालय के पार्वत्य अंचल में ब्रह्मपुर के उत्तरी प्रदेश की जो वर्तमान गढ़वाल और कुमायूँ के अन्तगत पड़ता है, पुराना स्त्रीराज्य बताया गया है। सातवीं शताब्दी में इसे 'सुवर्ण-गोत्र' कहते थे (विक्रमांक चरित्र १८५७, गरुड़ पुराण ५५ अ०)। कहते हैं इस देश की रानी प्रमीला ने अर्जुन से साथ युद्ध किया था[1] (जैमिनि भारत अ० २२)। कभी-कभी कुलून देश (कुल्लू) को भी स्त्रीदेश कहा गया है। हुएन्तसंग ने सतलज के उद्गम-स्थान के पास किसी स्त्री-राज्य का संधान पाया था। आटकिन्सन के 'हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स', से भी यह तथ्य प्रमाणित हुआ है। किसी-किसी पंडित ने कामरूप को ही स्त्रीदेश कहा है। शोरग ने 'वेस्टर्न टिबेट' नामक पुस्तक में (पृ० ३३८) तिब्बत के पूर्वी छोर पर बसे किसी स्त्रीराज्य का जिक्र किया है, जहाँ की जनता बराबर किसी स्त्री को ही अपनी शासिका चुनती है,[2] यह लक्ष्य करने की बात है कि 'गोरक्ष विजय' में स्त्रीदेश न कह कर कदली देश कहा गया है। 'महाभारत' में कदली-वन की चर्चा है (बन पर्व १४६ अ०)। कहते हैं कि इस कदली देश में अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान, विभीषण, कृपाचार्य, और परशुराम ये सात चिरजीवी सदा निवास करते हैं। हनुमान जी ने भीमसेन जी से कहा था कि इसके बाद दुराराह पर्वत है, जहाँ सिद्ध लोग ही जा सकते हैं। मनुष्य की गति वहाँ नहीं है (वनपर्व १४६, ८२-८३)। पं० सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है कि देहरादून से लेकर हृषीकेश बदरिकाश्रम और उसके उत्तर के हिमालय प्रान्त सब कजरीबन (कदली बन) कहे जाते हैं।[3] 'पदमावत में लिखा है कि गोपीचंद जोगी होकर कजरीवन (कदली वन) में चले गये थे।[4] इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि यह हिमालय के पाद देश में अवस्थित कुमायूँ गढ़वाल के अन्दर पड़ने वाला प्रदेश है। 'योनि संप्रदाया-

---

१. नंदलाल दे : जिओग्राफिकल डिक्शनरी, पृ० १८४।
२. जिओग्राफिकल डिक्शनरी, पृ० १८४।
३. सु० च०, पृ० २५२-३।
४. जउ भल होत राज अउ भोगू। गोपीचंद नहिं साधत जोगू॥
उहउ सिसिर जउ देख परेवा। तजा राज कजरी बन सेवा।
—जागी खंड, पृ० २८४।

विष्कृति' में जिस परम्परा का उल्लेख है उसमें भी हनुमान का नाम आता है। हनुमान जी कदलीवन में ही रहते हैं, इसलिये इसी कदलीवन को वहाँ गलती से सिंहल-दीप समझ लिया गया है। परन्तु त्रियादेश कह कर संदेह का अवकाश कहीं रहने दिया गया है। एक और विचार यह है कि स्त्रीदेश कामरूप ही है। 'कामसूत्र की जयमंगला टीका' में लिखा है कि वज्रावर्तस देश के पश्चिम में स्त्री राज्य है। पं० तनसुखराम ने 'नगरसर्वस्व' नामक बौद्ध कामशास्त्रीय ग्रंथ की टिप्पणी में लिखा है कि यह स्थान भूतस्थान अर्थात् भोटान के पास कहीं है।[1] इस पर से भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि कदलीदेश आसाम के उत्तरी इलाके में है। 'तंत्रालोक की टीका' और 'कौल ज्ञान निर्णय' से यह स्पष्ट है कि मत्स्येंद्रनाथ ने कामरूप में ही कौल साधना की थी। इस लिये कदलीवन या स्त्रीदेश से वस्तुतः कामरूप ही उद्दिष्ट है। कुलूत, सुवर्ण गोत्र, भूतस्थान, कामरूप में भिन्न-भिन्न ग्रंथकारों के स्त्रीराज्य का पता बताना यह साबित करता है कि किसी समय हिमालय के पार्वत्य-अंचल में पश्चिम से पूर्व तक एक विशाल प्रदेश ऐसा था जहाँ स्त्रियों की प्रधानता थी। अब भी यह बात उत्तर भारत की तुलना में, बहुत दूर तक ठीक है।

इन सारे वक्तव्यों का निष्कर्ष यह है कि मत्स्येंद्रनाथ चंद्रगिरि नामक स्थान में पैदा हुए थे जो कामरूप से बहुत दूर नहीं था और या तो बंगाल के समुद्री किनारे पर कहीं था, या जैसा कि तिब्बती परम्परा से स्पष्ट है; ब्रह्मपुत्र से घिरे हुए किसी द्वीपाकार भूमि पर अवस्थित था। इतना निश्चित है कि वह स्थान पूर्वी भारतवर्ष में कामरूप के पास कहीं था। इनका प्रादुर्भाव नवीं शताब्दी में किसी समय हुआ था। शुरू शुरू में वह एक प्रकार की साधना का व्रत ले चुके थे, परन्तु बाद में किसी ऐसे आचार में जा फँसे थे जिसमें स्त्रियों का साहचर्य प्रधान था और यह आचार ब्रह्मचर्य-मय जीवन का परिपंथी था। वे जिस स्थान में इस प्रकार के नये आचार में व्रती हुए थे वह स्थान स्त्रीदेश या कदलीदेश था जो कामरूप ही हो सकता है। इस मायाजाल से उनका उद्धार उन्हीं के प्रधान शिष्य गोरक्षनाथ ने किया और एक बार वे फिर अपने पुराने मार्ग पर आ गए। अब विचारणीय यह है कि मत्स्येंद्रनाथ का मत क्या था और क्या उस मत की जानकारी से हमें ऊपर की दन्तकथाओं को समझने में मदद मिलती है? आगे के अध्याय में हम इसी बात को समझने का प्रयत्न करेंगे।

---

१. नागरसर्वस्व, पृ० ६७।

५

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतारित कौलज्ञान

१. कौलज्ञान निर्णय

'कौलज्ञान निर्णय' के अनुसार मत्स्येंद्रनाथ कौल मार्ग के प्रथम प्रवर्तक हैं। 'तंत्रालोक-की टीका' (पृ० २४) में उन्हें सकल-कुल-शास्त्र का अवतारक कहा गया है। कुल-शास्त्र और कौल ज्ञान वस्तुतः समानार्थक शब्द हैं। यरन्तु 'कौलज्ञान निर्णय' में ही ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनसे मालूम होता है कि यह कौलज्ञान एक कान से दूसरे कान तक चलता हुआ दीर्घकाल से (६-६) और परम्परा-क्रम से चला आ रहा था (१४-६) ग्रन्थ में कई कौल-संप्रदायों की चर्चा भी है। चौदहवें पटल में रोमकूपादि कौल (१४-३२) वृषणोत्थ कौलिक (१४-३३), वह्निकौल (१४-३४) कौल सद्भाव (१४-३७) और पदोत्तिष्ठ कौल शब्द आए हैं। विद्वानों ने इनका संप्रदायपरक तात्पर्य बताया है।[1] परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि ये शब्द संप्रदायपरक न हो कर 'सिद्धिपरक' हैं। यद्यपि चौदहवाँ पटल 'देव्युवाच' से शुरू होता है, पर सारा पटल देवा की उक्ति के रूप में नहीं है, बल्कि-भैरव के उत्तर के रूप में है, क्योंकि इसमें देवी को संबोधन किया गया है। उत्तर देने के ढंग से लगता है कि भैरव (=शिव) ऐसे ध्यान की विधि बता रहे हैं, जिसमें मंत्र, प्राणायाम और चक्रध्यान की जरूरत नहीं होती और फिर भी वह परम सिद्धिदायक होता है।[2] इस पटल की पुष्पिका से भी पता चलता है कि यह ध्यान-योग मुद्रा का प्रकरण है। इसीलिये मुझे ये शब्द सिद्धिपरक जान पड़ते हैं। ये संप्रदायवाचक नहीं हैं। परन्तु सोलहवें पटल में लिखा है :—

भक्तियुक्ताः समत्वेन सर्व श्रुन्वन्तु कौलिकम् ॥४६॥
महाकौलात् सिद्धकौलं सिद्धकौलात् मसादरम् (?)
चतुर्युगविभागेन अवतारं चोदितं मया ॥४७॥

---

१. बागची : कौ० ज्ञा० नि०, भूमिका पृ० ३३-३५; शुद्धिपत्र में रोमकूदादि कौलिक को छोड़ देने को कहा गया है।

२. उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ५३८।

ज्ञानादौ निर्णितः कौलं द्वितीये महत्संज्ञकम् ।
तृतीये सिद्धामृतं नाम कलौ मत्स्योदरं प्रिये ॥४८॥
ये चास्मिन्निर्गता देवि वर्णयिष्यामि तेऽखिलम् ।
एतस्माद् योगिनीकौलात् नाम्ना ज्ञानस्य निर्णितौ ॥४९॥

इन श्लोकों से जान पड़ता है कि आदि युग में जो कौलज्ञान था वह द्वितीय अर्थात् त्रेता युग में 'महत्कौल, नाम से परिचित हुआ, तृतीय अर्थात् द्वापर ने 'सिद्धामृत' नाम से और इस कलिकाल में 'मत्स्योदर कौल' नाम से प्रकट हुआ है। प्रसंग से ऐसा लगता है कि ४८वें श्लोक में पंचमी विभक्ति का प्रयोग 'अनन्तर' अर्थ में हुआ है। इस श्लोक का 'मसादरम्' पद शायद 'मत्स्योदरम्' का गलत रूप है और ४६वें श्लोक के श्रृण्वन्तु क्रिया का कर्म है। संक्षेप में इन श्लोकों का अर्थ यह हुआ कि भक्ति-युक्त होकर सब लोग उस तत्त्व को समानभाव से सुनें (जिसे भैरव ने अब तक सिर्फ पार्वती और षडानन आदि को ही सुनाया है)—महाकौल के बाद सिद्धकौल और सिद्ध कौल के बाद मत्स्योदर का अवतार हुआ। इस प्रकार चार युगों में शिव ने चार अवतार धारण किए। प्रथम युग में उनके द्वारा निर्णीत ज्ञान का नाम था 'कौलज्ञान', द्वितीय में निर्णीत ज्ञान का नाम 'सिद्धकौल', तृतीय में निर्णीत ज्ञान का नाम 'सिद्धामृत' और चतुर्थ-युग में अवतारित ज्ञान का नाम 'मत्स्योदर' है। इनसे (=मत्स्योदर) विनिर्गत ज्ञान का नाम योगिनीकौल है।

इसी प्रकार इक्कीसवें पटल में अनेक कौल-मार्गों का उल्लेख है। इन श्लोकों पर से डॉ० बागची अनुमान करते हैं कि मत्स्येंद्रनाथ सिद्ध या सिद्धामृत मार्ग के अनुवर्ती थे और उन्होंने योगिनीकौल मार्ग का प्रवर्तन किया था। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि नाथपंथी लोग अपने को सिद्धमार्ग का अनुयायी कहते हैं और परवर्ती साहित्य में 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग नाथपंथी साधुओं के लिये हुआ है। यह स्पष्ट है कि द्वापर युग का सिद्धमार्ग उस श्रेणी का नहीं था जिसे बाद में मत्स्येंद्रनाथ ने अपने कौलज्ञान के रूप में अवतारित किया। दन्तकथाओं से यह स्पष्ट है कि मत्स्येंद्रनाथ अपना असली मत छोड़कर कदली देश की स्त्रियों की माया में फँस गए थे। ये कदली-स्त्रियाँ योगिनी थीं, यह बात 'गोरक्ष विजय' आदि ग्रंथों से स्पष्ट है। 'कौलज्ञान निर्णय' से भी इस बात की पुष्टि होती है कि जिस साधनमार्ग-परक शास्त्र की चर्चा इस ग्रंथ में हो रही है वह शास्त्र कामरूप की योगिनियों के घर-घर में विद्यमान था और मत्स्येंद्रनाथ उसी कामरूपी स्त्रियों के घर से अनायासलब्ध शास्त्र का सार संकलन कर सके थे।[1] तंत्रालोक की टीका के जो श्लोक हमने पहले उद्धृत किए हैं, उनसे भी पता चलता है कि मत्स्येंद्रनाथ ने कामरूप में साधना की थी। कामरूप की योगिनियों के मायाजाल से गोरक्षनाथ ने मत्स्येंद्रनाथ का उद्धार किया था, यह भी दन्तकथाओं

---

१. तस्य मध्ये इमं नाथ सारभूतं समुद्धृतं ।
कामरूपे इदं शास्त्रं योगिनीनां गृहे गृहे ॥२२।१०।

से स्पष्ट है। 'योगिसंप्रदायाविष्कृति' में एक प्रसंग इस प्रकार का भी है कि वाममार्गी लोग गोरक्षनाथ को अपने मार्ग में ले जाना चाहते थे।[1] बाद में क्या हुआ, इस विषय में उक्त ग्रंथ मौन है। परन्तु सारी बातों पर विचार करने से यह अनुमान पुष्ट होता है कि मत्स्येंद्रनाथ पहले सिद्ध या सिद्धामृत मार्ग के अनुयायी थे, बाद में कामरूप में वाममार्गी साधना में प्रवृत्त हुए और वहाँ से कौलज्ञान अवतारित किया और इसके पश्चात् अपने प्रवीण शिष्य गोरक्षनाथ के द्वार उद्‌बुद्ध होकर फिर पुराने रास्ते पर आ गए।

ध्यान देने की बात यह है कि 'कुल' शब्द का प्रयोग भारतीय साधना-साहित्य में बहुत हुआ है, परन्तु सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी के पहले इस प्रकार के अर्थ में कदाचित ही हुआ है। बौद्ध तांत्रिकों में संभवतः डोम्बी हेरुक ने ही इस शब्द का प्रयोग इससे मिलते-जुलते अर्थ में दिया है। साधनमाला में एक साधना के प्रसंग में उन्होंने कहा है कि कुल-सेना से ही सर्व-काम-प्रदायिनी शुभ सिद्धि प्राप्त होती है।[2] इस शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि पाँच ध्यानी बुद्धों से पाँच कुलों की उत्पत्ति हुई है। अक्षाभ्य से वज्र कुल, अमिताभ से पद्म कुल, रत्नसंभव से भाव-रत्न-कुल वैरोचन से चक्र-कुल और अमोघसिद्धि से कर्म-कुल उत्पन्न हुए थे।[3] प्रो० विनयतोष भट्टाचार्य ने डोम्बो हेरुक का काल सन् ७७७ ई० माना है। 'कौलज्ञान निर्णय, से इस प्रकार की कुलकल्पना का कोई आभास नहीं मिलता। परन्तु इतना जरूर लगता है कि शुरू शुरू में वे सिद्ध मार्ग या सिद्धकौल मार्ग के उपासक थे। कौल-ज्ञान उनके परवर्ती, और संभवतः मध्यवर्ती जीवन का ज्ञान है।

प्रश्न यह है कि वह सिद्धमत क्या था जिसके अनुयायी मत्स्येंद्रनाथ थे और जिसे छोड़कर उन्होंने अन्य मार्ग का अवलंबन किया था? दन्तकथाओं से अनुमान होता है कि वह मार्ग पूर्ण ब्रह्मचर्य पर आश्रित था, देवी अर्थात् शक्ति उसकी प्रति-द्वन्दिनो थीं और उसे स्त्रीसंग पूर्णरूप से वर्जित था। गोरक्षनाथ ने कामरूप से मत्स्येंद्र-नाथ का उद्धार करके उन्हें इसी मत में फिर लौटा लिया था।

'कौलज्ञान निर्णय' में निम्नलिखित विषयों का विस्तार है—सृष्टि, प्रलय, मानस लिंग का मानसापचार से पूजन, निग्रह-अनुग्रह-क्रामण-हरण, प्रतिमाजल्पन, घट पाषाण-स्फोटन आदि सिद्धियाँ, भ्रान्तिनिरसन ज्ञान, जीवस्वरूप, जरामरण, पलित (केशों का पकना) का निवारण, अकुल से कुल की उत्पत्ति तथा कुल का पूजनादि

---

१. यो० सं० आ० ४६ अध्याय।

२. कुलसेवात् भवेत् सिद्धिः सर्वकाम प्रदा शुभा।

३. अक्षाभ्यवज्रमित्युक्तं अमिताभः पद्ममेव च।
रत्नसंभवोः भावरत्नः वैरोचनस्तथागतः॥
अमोघः कर्मभित्युक्तं कुलान्येतानि संक्षिपेत्।

४. साधनमाला, प्रस्तावना, पृ० ४०-४१।

गुरुपंक्ति, सिद्धपंक्ति और योगिनी पंक्ति, चक्रध्यान, अद्वैतचर्या, पात्रचर्या, न्यासविधि शीघ्र सिद्धि देनेवाली ध्यानमुद्रा, महाप्रलय के समय भैरव की आत्मरक्षा, भक्ष्यविधान तथा कौलज्ञान का अवतारण, आत्मवाद, सिद्धपूजन और कुलद्वीप विज्ञान, देहस्थ चक्र-स्थिता देवियाँ, कपाल भेद; कौलमार्ग का विस्तार योगिनी संचार और देहस्थ सिद्धों का पूजा।

इन विषयों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि कौलज्ञान सिद्धिपरक विद्या है और यद्यपि शास्त्र में अद्वैत भाव की चर्चा है, पर मुख्यत: यह उन अधिकारियों के लिये लिखा गया है जो कुल और अकुल—शक्ति और शिव—के भेद को भूल नहीं सके हैं। इसके विपरीत 'अकुलवीर तंत्र' का अधिकार वह है जिसे अद्वैत ज्ञान हो गया है और जो अच्छी तरह समझ चुका है कि कुल और अकुल में कोई भेद नहीं है, शक्ति और शिव अविच्छिन्नभाव से विराज रहे हैं। यद्यपि कौलज्ञान निर्णय हृदय स्थित अनेक पद्म-चक्रों की चर्चा करता है, पर यह लक्ष्य करने की बात है कि 'कुण्डली' शब्द भी उसमें नहीं आया है। कुण्डलीयोग या कुण्डलिनीयोग परवर्ती नाथपंथियों की सर्वमान्य साधना है। फिर 'समरस' या 'सामरस्य' की भी कोई चर्चा नहीं है। केवल 'अकुल-वीर तंत्र में ये दोनों शब्द आते हैं। वहाँ कुण्डली और सहज, ये दोनों योग कौल मार्ग में विहित है, ऐसा स्पष्ट लिखा है। 'कुण्डली' कृत्रित (कृतक) अर्थात् दुरूह साधना से प्राप्त योग है और सहज, समरस में स्थिति-बल प्राप्य योग है (अकुलवार तंत्र, बी० ४३) कुण्डली योग में द्वैतभाव (प्रेय-प्रेरकभाव) बना रहता है और सहज में वह लुप्त हो गया होता है (४४)। 'कौलावली निर्णय' में इसी प्रेम-प्रेरक भाव के मध्यम अधिकारी के लिये चक्रध्यान की साधना विहित है, पर 'अकुलवीरतंत्र' में उस सहज-साधना की चर्चा है जो प्रेय-प्रेरक रूप द्वैत भावना के अतीत है। इसमें ध्यान-धारणा-प्राणायाम की जरूरत नहीं, (अ० वी० तंत्र—बी० ११०), इड़ा-पिंगला और चक्रध्यान अनावश्यक हैं (१२३-१२५)। यह सहज समर सानंद का प्रदाता अकुल-वीर मार्ग है—कौलमार्ग की समस्त विधियाँ यहाँ अनावश्यक हैं। इस तंत्र का स्वर 'गोरक्षसंहिता' से पूरी तरह मिलता है। क्या 'कौलज्ञाननिर्णय' मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा प्रवर्तित योगिनीकौल का द्योतक है और 'अकुलवीर तंत्र, उनके पूर्व परित्यक्त और बाद में स्वीकृत सिद्ध मत का ? दानों को मिलाने पर यह धारणा दृढ़ ही होती है।

फिर यह भी प्रश्न होता है कि बौद्ध सहजयानी और वज्रयानी सिद्धों से इस मत का क्या संबंध था। डा० बागची ने 'कौलज्ञान निर्णय' की भूमिका में बताया है कि बौद्ध सिद्धों को कई बातों से 'कौलज्ञान निर्णय' की कई बातें मिलती हैं। (१) सहज पर जोर देना, (२) बाह्याचार का विरोध, (३) कुलक्षेत्र और पीठों की चर्चा, (४) वज्रीकरण का प्रयोग, (५) पंचपवित्र आदि बौद्ध पारिभाषिक शब्द सूचित करते है कि इस साधना का सम्बन्ध बौद्ध साधना से था अवश्य। इस बात मे ता कोई सन्देह हो नहीं कि जिन दिनों मत्स्येन्द्रनाथ का प्रादुर्भाव हुआ था उन दिनों बौद्ध और ब्राह्मण तन्त्रों में बहुत-सी बातें मिलती-जुलती रही होंगी। एक दूसरे पर प्रभाव भी जरूर

पड़ना रहता होगा। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि मत्स्येन्द्रनाथ तिब्बती परंपरा में भी बहुत बडे सिद्ध माने जाते हैं और नेपाल के बौद्ध तो उन्हें अवलोकितेश्वर का अवतार ही मानते हैं। इसलिए उनकी प्रवर्तित साधना में ऐसी कोई बात जरूर रही होगी जिसे लोग विशुद्ध बौद्ध समझ सकते। ऊपर की पाँच बातें बौद्ध तन्त्रों में भूरिशः आती हैं, पर ब्राह्मण तंत्रों प भी उन्हें खोज निकालना कठिन नहीं है। यह कह सकना बहुत कठिन है कि जिन तंत्रों में या उपनिषदों में ये शब्द आए हैं वे बौद्ध तंत्रों के बाद के हो हैं। कई ग्रंथ नये भी हैं और कई पुराने भी। इन विषयों की जो चर्चा हुई है वह इतनी अपर्याप्त है कि उस पर से कुछ निश्चयपूर्वक कहना साहसमात्र है। परन्तु नाथ-परंपरा की सभी पुस्तकों के अध्ययन से ऐसा ही लगता है कि पुराना सिद्ध मार्ग मुख्य रूप से योगपरक था और पंच मकारों या पंचपवित्रों की व्याख्या उसमें सदा रूपक के रूप से ही हुआ करती थी। यह उल्लेख योग्य बात है कि 'कौलज्ञान निर्णय' में जो परंपरा बताई गई है वहाँ शिव (भैरव) के विभिन्न युग के कई अवतारों का उल्लेख तो है पर कहीं भी बुद्ध या बोधिसत्व अवतार का नाम नहीं है। अवलोकितेश्वर के अवतार का भी उसमे पता नहीं है। इसके विरुद्ध सहज यानी सिद्धों की पोथियों में बराबर तथागत का नाम आता है और वे अपने को शायद कहीं भी कौल नहीं कहते। मत्स्येन्द्रनाथ ने जिस प्राचीन कौलमार्ग की चर्चा की है वह निश्चय ही शाक्तमत था, बौद्ध नहीं। अकुलवीर तन्त्र में बौद्धों को स्पष्ट रूप में मिथ्यावादी और मुक्ति का अपात्र बताया गया है।[1]

२. कुल और अकुल

कुल और अकुल शब्द के अर्थ पर भी विचार कर लेना चाहिए। कौल लोगों के मत से 'कुल' का अर्थ शक्ति है और 'अकुल' का अर्थ शिव है। कुल से अकुल का सम्बन्ध स्थापना ही 'कौल' मार्ग है।[2] इसलिए कुल और अकुल को मिलाकर समरस बनाना ही कौल साधना का लक्ष्य है और 'कुल' और 'अकुल' का सामरस्य (=सम-

---

१. संवादयन्ति ये केचिन्यायवैशेषिकास्तथा।
बौद्धास्तु अरहन्ता ये सोमसिद्धान्तवादिनः ॥७॥
मीमांसा पंचस्रोताश्च वामसिद्धान्तदक्षिणाः।
इतिहासपुराणं च भूततत्त्वं तु गारुड़म् ॥८॥
एभिः शैवागमैः सर्वैः परोक्षं च क्रियान्वितैः।
सविकल्पसिद्धिसंचार तत्सर्वं पापबंधवित् ॥९॥
विकल्प बहुलाः सर्वे मिथ्यावादा निरर्थकाः।
न ते मुन्चन्ति संसारे अकुलवीरविवर्जिताः ॥१०॥—अकुल वीरतंत्र—ए०

२. कुलं शक्तिरितिप्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य संबंधः कौलमित्यभिधीयते ॥—सौभाग्य भास्कर, पृ० ५३।

रस होना) ही कौलज्ञान है। 'कुल' शब्द के और भी अनेक अर्थ किए गए हैं, परन्तु यही मुख्य अर्थ है। शिव का नाम अकुल होना उचित ही है क्योंकि उनका कोई कुल-गोत्र नहीं है, आदि अन्त नहीं है।[१] शिव की सिसृक्षा अर्थात् सृष्टि करने की इच्छा का नाम ही शक्ति है। शक्ति से समस्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, शक्ति शिव की प्रिया है। परन्तु शिव और शक्ति मे कोई भेद नहीं है। चन्द्रमा और चन्द्रिका का जो संबध है वही शिव और शक्ति का सबंध है। 'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह' के चतुर्थ उपदेश में कहा गया है कि शिव अनन्य, अखण्ड, अद्वय, अविनश्वर, धर्महीन और निरंग हैं, इसलिए उन्हें 'अकुल' कहा जाता है।[२] चूंकि शक्ति सृष्टि का हेतु है और (समस्त जगत रूपी प्रपंच की प्रवर्तिका है इसलिए उसे 'कुल' (=वश) कहते हैं।[३] शक्ति के बिना शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं।[४] इकार शक्ति का वाचक है और शिव में से इकार निकाल देने से वह 'शव' हो जाता है,[५] इसीलिये शक्ति ही उपास्य है। इस शक्ति की उपासना करने वाले शाक्त लोग ही कौल हैं। यह मत बौद्ध धर्मसाधना से मूलतः भिन्न है। इस साधना के लक्ष्य हैं अखण्ड, अद्वय और अविनश्वर शिव और बौद्ध साधना का लक्ष्य है नैरात्म्य भाव। वे लोग किसी अविनश्वर सत्ता मे विश्वास नहीं रखते। 'कौल ज्ञान 'निर्णय' में भी शिव और शक्ति के उपर्युक्त सम्बन्ध का प्रतिपादन है।[६] कहा गया है कि जिस प्रकार वृक्ष के बिना छाया नहीं रह सकती, अग्नि के बिना धूप नहीं रह सकती उसी प्रकार शिव और शक्ति अविच्छेद्य हैं, एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती।[७]

---

१. शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव जानीयात् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥
—गो० सि० सं० में उद्धृत, पृ० ६७।

२. कर्णगोत्रादिराहित्यादेक एवाकुलं मतम्।
अनन्त्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनाशनात्
निर्धर्मत्वादनंगत्वदकुलं स्यान्निरन्तरम्।—सि० सि० सं० ४।१०-११।

३. कुलस्य सामरस्येति सृष्टिः हेतुः प्रकाशभूः।
सा चापरंपरा शक्तिराज्ञेशस्यापरं कुलम्।
प्रपञ्चस्य समस्तस्य जगद्रूपप्रवर्तनात्॥—जि० सि० सं० ४।१२-१६।

४. शिवाऽपिशक्ति रहितः कतुं शक्तो न किंचन।
शिवः स्वशक्तिसहितो ह्याभासाद् भासको भवेत्॥ वही० ४।२६।

५. शिवोऽपिशवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः। —देवी भागवत का वचन

६. अकुलतु इमं भद्रे यत्राहं तिष्ठते सदा। कौ० ज्ञा० नि० १६-४१।

७. न शिवन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः।
अन्योऽन्यं च प्रवर्तन्ते अग्निधूमौ यथा प्रिये।
न वृक्षरहिता छाया नच्छाया रहितो द्रुमः॥ १७८-८।

कौल मार्ग का अत्यन्त संक्षिप्त और फिर भी अत्यन्त शक्तिशाली उपस्थापन 'कौलोपनिषद्' में दिया हुआ है। इस उपनिषद् के पढने से इस मत के साधकों का अडिग विश्वास और रूढि विरोधी मनोभाव स्पष्ट हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध नैरात्म्यवाद से इस मत का मौलिक भेद है। यह उपनिषद् सूत्र रूप में लिखी गई है। आरम्भ में कहा गया है कि ब्रह्म का विचार हो जाने के बाद ब्रह्मशक्ति (धर्म) की जिज्ञासा होती है। ज्ञान और बुद्धि ये दोनों ही धर्म (शक्ति) के स्वरूप हैं। जिनमें एकमात्र ज्ञान ही मोक्ष का कारण है; और मोक्ष वस्तुतः सर्वात्मता सिद्धि (अर्थात् समस्त जागतिक प्रपञ्चों के साथ अपने को अभिन्न समझने) को कहते हैं। प्रपञ्च से तात्पर्य पाँच विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) से है। इन पाँच विषयों को जानने वाला प्राण-विशिष्ट जीव भी अभिन्न ही है। फिर योग और मोक्ष दोनों ज्ञान हैं, अधर्म का कारण अज्ञान हैं, परन्तु यह अज्ञान भी ज्ञान से भिन्न नहीं है। मतलब यह कि यद्यपि ब्रह्म का कोई धर्म नहीं है फिर भी अविद्या के कारण ब्रह्म को ही मनुष्य नानारूपधर्मारोप के साथ देखता है; यह अविद्या भी ज्ञान (अर्थात् ब्रह्म की शक्ति) ही है। प्रपञ्च ही ईश्वर है और अनित्य भी नित्य है क्योंकि वह भी ब्रह्मशक्ति का रूप ही है। अज्ञान ही ज्ञान है और अधर्म ही धर्म है (इसका मतलब यह है कि ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति में कोई भेद नहीं है) यही मुक्ति है। जीव के पाँच बंधन हैं—(१) अनात्मा में आत्म बुद्धि (२) आत्मा में अनात्म बुद्धि, (३) जीवों में परस्पर भेद ज्ञान (४) ईश्वर (अर्थात् उपास्य) और आत्मा (अर्थात् उपासक) में भेद बुद्धि, और (५) चैतन्य अर्थात् परब्रह्म से आत्मा को पृथक् समझने की बुद्धि ये पाँचों बन्धन भी ज्ञानरूप ही हैं क्योंकि ये सभी ब्रह्मशक्ति के विलास हैं। इन्ही बंधों के कारण मनुष्य जन्म-मरण के चक्रों में पड़ता है। इसी देह में मोक्ष है। ज्ञान यह है :—समस्त इन्द्रयों में नयन प्रधान है, नयन अर्थात् आत्मा। धर्मविरुद्ध कार्य करणीय है; धर्म विहित करणीय नहीं है (यहाँ धर्म का तात्पर्य धर्मशास्त्र से है जो सीमित जीवन के विधि-निषेध का व्यवस्थापक माना जाता है) सब कुछ शाम्भवी (शाक्त) का रूप है। इस मार्ग के साधक के लिए वेद मान्य नहीं है गुरु एक ही होता है और अन्त में सर्वैक्यता बुद्धि प्राप्त होती है। मंत्रसिद्धि के पूर्व वेदादि त्याग करना चाहिए, उपासना-पद्धति को प्रकट नहीं करना चाहिये। अन्याय ही न्याय है। किसी को कुछ नहीं गिनना चाहिये। अपना रहस्य शिष्य-भिन्न किसी को नहीं बताना चाहिए। भीतर के शाक्त, बाहर से शैव और लोक में वैष्णव होकर रहना—यही आचार है। आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है। लोक-निन्दा वर्जनीय है। अध्यात्म यह है – व्रताचरण न करे, नियमपूर्वक न रहे, नियम मोक्ष का बाधक है, कभी कौल संप्रदाय की स्थापना नहीं करनी चाहिए। सब में समता की बुद्धि रखनी चाहिये; ऐसा करने वाला ही मुक्त होता है—वही मुक्त होता है।

संक्षेप में 'कौलोपनिषद्' का यही मर्म है। इसमें स्पष्टतः ही ऐसी बहुत-सी बातें हैं जो अपरिचित श्रोता के चित्त को झकझोर देती हैं। थोड़ी और चर्चा करके

उसका रहस्य समझ लेना चाहिये क्योंकि नाथ संप्रदाय की साधना को इन बातों ने प्रभावित किया है। 'ब्रह्माण्ड पुराण' के उत्तरखंड में एक स्तोत्र है 'ललितासहस्रनाम'। इस स्तोत्र पर सौभाग्यराय नामक, काशी के महाराष्ट्रीय पंडित ने 'सौभाग्य भास्कर' नामक पांडित्यपूर्ण टीका लिखी थी, जो अब निर्णयसागर प्रेस से छप गई है। भास्कर राय ने 'बामकेश्वर तंत्र' के अन्तर्गत जो 'नित्या षोडशिकार्णव' हैं उस पर भी १६५४ शाके में 'सेतुबंध' नाम की टीका लिखी थी। इन टीकाओं में कई स्थलों पर 'कुल' शब्द की अनेक प्रकार की व्याख्यायें दी हुई हैं। आधुनिक पण्डितों ने 'कुल' शब्द का अर्थ-विचार करते समय प्रायः ही सौभाग्यराज की व्याख्याएं उद्धृत की हैं।[1] संक्षेप में उन्हें यहाँ संग्रह किया जा रहा है।

१—दार्शनिक अर्थ—संसार के सभी पदार्थ ज्ञाता, श्रेय और ज्ञान इस तीन विभागों में विभक्त हैं। ज्ञाता ज्ञान का कर्त्ता है और ज्ञेय उसका विषय। जानने की क्रिया का नाम ज्ञान है। जगत् के जितने पदार्थ हैं ये सभी 'मेरे' ज्ञान के विषय हैं इसलिये "मैं" ज्ञान का कर्त्ता हुआ। और 'मैं जानता हूँ' यह ज्ञान क्रिया है। इस प्रकार एक ज्ञान समवाय सम्बन्ध से ज्ञाता में, विषयता सम्बन्ध से ज्ञेय में और तादात्म्य सम्बन्ध में ज्ञानक्रिया में रहा करता है। मैं 'घट को जानता हूँ इस स्थल पर 'ज्ञान' को प्रकाशित करने के लिये ज्ञान को आवश्यकता है, परन्तु मैं 'ज्ञान को जानता हूँ' इस स्थल पर ज्ञान को प्रकाशित करने के लिए भिन्न ज्ञान की जरूरत नहीं है। क्योंकि ज्ञान अपने को आप ही प्रकाशित करता है—वह स्वप्रकाश है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने के लिये दीप की आवश्यकता होती है पर दीप को प्रकाशित करने के लिए दूसरे दीप की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह स्वप्रकाश है, इसी प्रकार ज्ञान भी अपने को आप ही प्रकाशित करता है। सो, यह जगत् ज्ञात, ज्ञेय और ज्ञान के रूप में त्रिपुटीकृत है। इस त्रिपुटीकृत जगत् के समस्त पदार्थ ज्ञान रूप धर्म के एक होने के कारण 'सजातीय' हैं और इसीलिये वे 'कुल' (=जाति) कहे जाते हैं। इस कुल संबंधी ज्ञान को ही कौलज्ञान कहते हैं। अर्थात् समस्तजागतिक पदार्थों का त्रिपुटीभाव से जो ज्ञान है, वही कौलज्ञान है। और भी स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, जगत् ब्रह्ममय है, वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है—इस प्रकार का जो परिपूर्ण अद्वैतज्ञान है वही कौलज्ञान है।[2] जो लोग इस ज्ञान के साधक हैं वे भी इसीलिये कौल कहे जाते हैं।

२—वेशपरक अर्थ—'कुल' शब्द का साक्षात्संकेतिक अर्थ वंश है। यह दो प्रकार का होता है—(१) विद्या से और (२) जन्म में। 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' में

---

१. (१) भारतीय दर्शन, पृ० ५४६ और आगे।
(२) कौल मार्ग रहस्य, पृ० ४-८।
(३) कौ० ज्ञा० नि०, भूमिका, पृ० ३६-३८।

२. कौ० मा० र०, पृ० ४-६।

इस बात को इस प्रकार कहा गया है कि सृष्टि दो प्रकार की होती है। नादरूपा और बिन्दुरूपा। नादरूपा सृष्टि गुरुपरम्परा से और बिन्दुरूपा जन्मपरम्परा से।[1] चूँकि इस मार्ग में परम शिव से लेकर परम गुरु तक चली आती हुई ज्ञान परंपरा को ही प्राधान्य है, इसलिये विद्याक्रम को ही 'कुल' कहा जाता है। इसी कुल के अनुवर्ती 'कौल' हैं।

३—रहस्यपरक अर्थ—(१) कुल का अर्थ जाति है। एक ही जाति के वस्तुओं के अज्ञानवश भिन्नजातीयता का भान हो गया है। उपास्य भी चेतन है उपासक भी चेतन है। इन दोनों को एक ही 'कुल' की वस्तु बताने वाले शास्त्र भी कुल शास्त्र हुए इन शास्त्रों को मानने वाले इसीलिये कौल कहे जाते हैं।

४—योगपरक अर्थ—'सौभाग्य भास्कर' (पृ० ३५) में 'कुल' शब्द का एक योगपरक अर्थ भी दिया हुआ। 'कु' का अर्थ पृथ्वी है और 'ल' का अर्थ 'लीन' होना। हम आगे चलकर देखेंगे कि पृथ्वीतत्व मूलाधार चक्र में रहता है। इसीलिये मूलाधार चक्र को 'कुल' कहते हैं। इसी मूलाधार से सुषुम्ना-नाड़ी मिली हुई है। जिसके भीतर से उठकर कुण्डलिनी सहस्रार चक्र में परमशिव से सामरस्य प्राप्त करती है। इसीलिये लक्षणा वृत्ति से सुषुम्ना को भी 'कुल' कहते हैं।[2] 'तत्वसार' नामक ग्रंथ में कुण्डलिनी को शक्तिरूप मे बताया गया है। शक्ति ही सृष्टि है, और सृष्टि ही कुण्डली।[3] इसीलिये कुण्डलिनी को भी कुल कुण्डलिनी कहा जाता है।

३. दार्शनिक सिद्धान्त

तन्त्रमय दार्शनिक दृष्टि से सत्कार्यवादी है। जो वस्तु कभी थी ही नहीं वह कभी हो नहीं सकती। कार्य की अव्यक्तावस्था का नाम ही 'कारण' है और कारण की व्यक्तावस्था का नाम ही 'कार्य' है।

प्रलयकाल मे समग्र जगत्प्रपञ्च को अपने आप में विलीन करके और समस्त प्राणियों के कर्मफल को सूक्ष्म रूप से अपने में स्थापन करके एकमात्र अद्वितीय परशिव विराजमान रहते हैं। सृष्टि का चक्र जब फिर शुरू होता है (क्योंकि प्रलयकालीन प्राणियों का अवशिष्ट कर्मफल परिपक्व होने को शेष रह गया होता है और इसी कर्मफल के परिपाक के लिये जगत्प्रपञ्च फिर शुरू होता है) तो शिव में अव्यक्त भाव के स्थित शक्ति फिर से 'सिसृक्षा' के रूप में व्यक्त होती है। यह प्रथम आविर्भूत आद्या शक्ति ही 'त्रिपुरा' है। तांत्रिक लोगों का सिद्धान्त है कि यद्यपि परब्रह्म सदा वर्तमान

---

१. गौ० सि० सं०, पृ० ७१।

२. वेदशास्त्रपुराणानि सामान्य गणिका इव।
सा पुनः शांकरी मुद्रा प्राप्ता कुलवधूरिव॥ —गो० सि० सं०, पृ० १३

३. तत्त्वसारेऽयमेवार्थो निरूपणपदैः कृतः।
सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावमता हि सा॥ —सि० सि० सं०, ४।३०॥

रहते हैं तथापि इस 'त्रिपुरा' शक्ति के बिना वे कुछ भी करने में समर्थ नहीं होते। वह शक्ति स्वयं आविर्भूत होती है और स्वयंमेव सृष्टि विधान करती है। 'सिसृक्षा' शब्द का अर्थ है सृष्टि की इच्छा। यद्यपि यह शक्ति इच्छारूपा है तथापि चिन्मात्र (परंब्रह्म) से उत्पन्न होने के कारण यह चिद्रूपा भी है। शक्ति ने सृष्टि विधान के द्वारा जगत् को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप में कल्पित किया है। इस प्रकार ज्ञान-ज्ञेय ज्ञातृ-रूप त्रिपुटीकृत जगत् की पुरोवर्तिनी आदिभूता होने के कारण ही यह शक्ति 'त्रिपुरा' कही जाती है।[1] मत्स्येन्द्रनाथ के कौलज्ञान में इस शक्ति का इसी नाम से निर्देश नहीं पाया जाता पर यह स्पष्ट रूप से जान पड़ता है कि तांत्रिकों के सृष्टितत्त्व को वे भी उसी प्रकार मानते हैं। परन्तु यदि तन्त्रशास्त्र सत्कार्यवादी है तो ऊपर के बताये हुए सिद्धान्त में एक आपत्ति हो सकती है। जो वस्तु कभी थी ही नहीं वह कभी उत्पन्न भी नहीं हो सकती; फिर जगत् शक्ति से उत्पन्न कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में बताया गया है कि वस्तुतः शक्ति प्रलयकाल में ३६ तत्त्वात्मक जगत् को कवलीकृत करके अर्थात् अपने आप में स्थापित करके अव्यक्तरूप में स्थित रहती है और वस्तुतः जगत् उसकी व्यक्तावस्था का ही नाम है। फिर प्रश्न होता है कि क्यों न शिव को ही जगत् का कारण मान लिया जाय? यदि जगत् को सूक्ष्म रूप से अव्यक्त अवस्था में शक्ति धारण करती है तो शक्ति को भी तो सूक्ष्म रूप में शिव धारण किये होते हैं। फिर शक्ति को जगत् का कारण क्यों माना जाय? शिव ही वास्तविक और आदि कारण हुए। तांत्रिक लोग ऐसा नहीं मानते। 'वामकेश्वर तन्त्र' (४-५) में कहा गया है कि जब शक्ति जगत् रूप में व्यक्त होती है तो उस अवस्था में परशिव नामक किसी पदार्थ की उसे आकांक्षा नहीं होती। जो शाक्त तन्त्र के अनुयायी नही हैं वे ब्रह्म की शक्तिमाया को जड़ मानते हैं। किन्तु तांत्रिक लोग परशिव शक्ति को चिद्रूपा अर्थात् चेतन मानते हैं चूँकि यह जगत् भी चिद्रूपा शक्ति का परिणाम है, इसीलिये वह स्वयं भी चिद्रूप हैं। (कौ० मा० २०) 'कौलज्ञान निर्णय' में मत्स्येन्द्रनाथ ने जब कहा है कि शिव की इच्छा से समस्त जगत् की सृष्टि होती है और उसी में सब कुछ लीन हो जाता है तो वस्तुतः उनका तात्पर्य यही है कि शक्ति ही जगत् का कारण। क्योंकि शिव की इच्छा (सिसृक्षा) ही शक्ति है, यह बात हमने पहले ही लक्ष्य की है।

इस प्रकार परम शिव के सिसृक्ष होने पर शिव और शक्ति ये दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं परमशिव निर्गुण और निरंजन हैं, शिव सगुण और सिसृक्षा रूप उपाधि से

---

१. त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या ज्ञानादितः प्रिये।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन त्रैकोक्योत्पत्तिमातृका॥
कवलीकृतनिःशेष तत्वग्रामस्वरूपिणी।
तस्यां परिणातायान्तु न कश्चित् पर इष्यते॥
वामकेश्वर तन्त्र (४।४-५) के इन श्लोकों पर सेतुबन्ध टीका (१३४-५) देखिए।

विशिष्ट। शिव का धर्म ही शक्ति है। धर्मी और धर्म अलग-अलग नहीं रह सकते। इसीलिये मत्स्येंद्रनाथ ने कहा है कि शक्ति के बिना शिव नहीं होते और शिव के बिना शक्ति नहीं रह सकती (कौ० ज्ञा० नि० १७।८)। ये (१) शिव और (२) शक्ति ३६ तत्त्वों के प्रथम दो हैं। पहले बताया गया कि समस्त जगत् प्रपंच का मूल कारण शक्ति है। शक्ति ही अपने भीतर समस्त जगत् को धारण किए रहती है। शक्ति द्वारा जगत् की अभिव्यक्ति होने के समय शिव के दो रूप प्रकट होते हैं। प्रथम अवस्था में इस प्रकार का ज्ञान होता है कि मैं ही शिव हूँ। यही सदाशिव तत्त्व है। सदाशिव जगत् को अपने से अभिन्न (अहं = मैं) रूप में जानते हैं। इनका यह 'मैं' का भाव (=अहंता) ही पराहन्ता या पूर्णाहन्ता कहलाता है। दूसरी अवस्था को ईश्वरतत्त्व—जो जगत् को अपने से भिन्न-रूप (इदं=यह) में देखता है—कहते हैं। सो जगत् अहं रूप में समझने वाला तत्त्व (३) सदाशिव है और इदं रूप में समझने वाला तत्त्व (४) ईश्वर है। इस प्रकार प्रथम चार तत्त्व हुए—(१) शिव (२) शक्ति (३) सदाशिव (४) ईश्वर। सदाशिव जगत् को अहंरूप में देखते हैं। "जगत् मैं ही हूँ" इस प्रकार की सदाशिव की शक्ति को (५) शुद्ध विद्या कहते हैं और यह जगत् मुझसे भिन्न है—इस प्रकार ईश्वर की वृत्ति का नाम (६) माया है। शुद्ध विद्या को आच्छादन करने वाली को अविद्या कहते हैं—कुछ लोग इसे विद्या भी कहते हैं। यह सातवाँ तत्त्व है। इस सातवें तत्त्व से आच्छन्न होने पर जो सर्वज्ञ था वह अपने को 'किंचिज्ज्ञ' अर्थात् 'थोड़ा जानने वाला' समझने लगता है। फिर क्रमशः माया के बंधन से शिव की सब कुछ करने की शक्ति [सर्वकर्तृत्व]। संकुचित होकर 'कुछ करने' की शक्ति बन जाती है, इसे कला कहते हैं; फिर उनकी 'नित्यतृप्तता' संकुचित हो अपूर्ण 'तृप्ति' का रूप धारण करती है—यही राग तत्त्व है; उनका नित्यत्व संकुचित होकर छोटी सीमा में बँध जाता है, इसे काल तत्त्व कहते हैं, और उसकी सर्वव्यापकता भी संकुचित होकर नियत देश में संकीर्ण हो जाती है—इसे नियति तत्व कहा जाता है। इस प्रकार माया के बाद उसके ६ संकोचनकारी तत्त्व या कंचुक प्रकट होते हैं और उन्हें क्रमशः (७) विद्या या अविद्या (८) कला (९) राग (१०) काल और (११) नियति ये तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इन ६ कंचुकों से बद्धशिव ही 'जीव' रूप में प्रकट है, जीव तेरहवां तत्त्व है। यही सांख्य लोगों का 'पुरुष' है। इसके बाद का क्रम वही है जो सांख्यकों का है। तांत्रिक और शैव लोग सांख्य के २४ तत्त्वों के अतिरिक्त पूर्वोक्त बारह तत्त्वों को अधिक मानते हैं।

चौदहवाँ तत्त्व प्रकृति है जो सत्व, रजः और तमः इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम है प्रकृति को ही चित्त कहते हैं। रजोगुण प्रधान अन्तःकरण को मन कहते हैं यह संकल्प का हेतु है। इस अवस्था में तत्व और तमः ये दो गुण अभिभूत रहते हैं। इसी प्रकार जब रजः और तमः गुण अभिभूत रहते हैं और सत्वगुण प्रधान होता है उस अवस्था का नाम बुद्धि है। वह निश्चयात्मक ज्ञान का हेतु है। तथा सत्व और रज ये दोनों गुण अभिभूत रहते हैं और सत्वगुण प्रधान होता है तो इस अवस्था

का नाम अहंकार है। इसमें भेद ज्ञान प्रधान होता है। इस प्रकार जीव नामक तत्त्व के बाद (१४) प्रकृति (१५) मन (१६) बुद्धि और (१७) अहंकार ये चार और तत्व उत्पन्न हुए।

इसके बाद पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच तन्मात्र और पाँच स्थूल महाभूत ये पंद्रह तत्त्व उत्पन्न होते हैं। यही तांत्रिकों के ३६ तत्त्व हैं। यही शैव योगियों को भी मान्य हैं। किन्तु 'कौल ज्ञान निर्णय' में इनकी कोई स्पष्ट चर्चा नहीं मिलती।

भगवान् सदाशिव ने अपने पाँच मुखों से पाँच आम्नायों का उपदेश दिया था—(१) सद्योजात नामक पूर्वमुख से पूर्वाम्नाय, (२) अघोर नामक दक्षिण मुख से दक्षिणाम्नाय, (३) तत्पुरुष नामक पश्चिम मुख से पश्चिमाम्नाय, (४) नामदेव नामक उत्तर मुख से उत्तराम्नाय और (५) ईशान नामक ऊपरी मुख से उर्द्धवाम्नाय। इन पाँच आम्नायों में इन्हीं ३६ तत्त्वों का निर्णय हुआ है।[1] ऊपर के विवरण से इनका क्रम विदित होगा। सब तत्त्वों का यहाँ फिर से एकत्र संकलन किया जा रहा है—

१. शिव
२. शक्ति
३. सदाशिव
४. ईश्वर
५. शुद्धविद्या
६. माया
७. विद्या (अविद्या)
८. कला
९. राग
१०. काल
११. नियति
१२. जीव
१३. प्रकृति
१४. मन
१५. बुद्धि
१६. अहंकार
१७. श्रोत्र
१८. त्वक्
१९. चक्षु
२०. जिह्वा
२१. घ्राण
२२. वाक्
२३. पाणि (हाथ)
२४. पाद (चरण)
२५. पायु
२६. उपस्थ
२७. शब्द
२८. स्पर्श
२९. रूप
३०. रस
३१. गंध
३२. आकाश
३३. वायु
३४. तेज
३५. जल
३६. पृथ्वी

इन ३६ तत्त्वों में प्रथम दो—शिव और शक्ति—'शिवतत्त्व' कहे जाते हैं। कारण यह है कि इन दो तत्त्वों में सद्-चित्त आनंद ये तीनों ही अनावृत और सुस्पष्ट रहते हैं। इसके बाद के तीन तत्व—सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या—विद्यातत्व कहे

---

१. परशुराम कल्पसूत्र १।२—४ पररामेश्वर की टीका।

जाते हैं, क्योंकि इनमें आनन्द-अंश तो आवृत रहता है परन्तु सत् और चित् अंश अनावृत रहते हैं। बाकी इकतीस तत्त्व 'आत्मतत्त्व' कहे जाते हैं, क्योंकि उनमें आनंद और चित् ये दोनों ही आवृत रहते हैं और केवल 'सत्' (= सत्ता) अंश ही प्रकट और अनावृत रहता है। चित् अंश के आवृत रहने के कारण ये तत्त्व जड़वत् प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सारे ३६ तत्त्व तीन ही तत्त्वों के अन्तर्गत आ जाते हैं—(१) शिवतत्त्व (२) विद्यातत्त्व और (३) आत्मतत्त्व। 'आत्मतत्त्व' में आये हुए 'आत्म' शब्द को देखकर यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि ये चैतन्यप्रधान है वस्तुतः 'आत्म' शब्द का प्रयोग यहाँ जड़ शरीर की आत्मा समझने के अर्थ में हुआ है।

यह स्पष्ट है कि शिव ही जीव रूप में परिणत होते हैं। माया तीन प्रकार के मलों से शिव को आच्छादित करती है तब शिव 'जीव' रूप में व्यक्त होते हैं। ये तीन मल हैं—(१) आणव अर्थात् अपने को अणुमात्र समझना (२) मायिक अर्थात् जगत् के तत्त्वतः एक अद्वैत पदार्थों में भेदबुद्धि और (३) कर्म अर्थात् नाना जन्मों में स्वीकृत कर्मों का संस्कार। इन्हीं तीन मलों से आच्छन्न शिव ही जीव है। इसीलिये 'परशुराम कल्प सूत्र' में कहा गया है कि 'शरीरकंचुकितः शिवो जीवो निष्कंचुकः परमशिवः' (१।५) अर्थात् शरीर (तीन मलों का परिणाम) द्वारा आच्छादित शिव ही जीव है और अनाच्छादित जीव ही शिव है। इसीलिए 'कौल ज्ञान-निर्णय' में मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा कि वस्तुतः जीव से जगत् सृष्ट हुआ है, जीव ही समस्त तत्त्वों का नायक है क्योंकि यह जीव ही हंस है, यही शिव है, यही व्यापक परशिव है; और सच पूछिये तो वही मनु भी है वही चराचर में व्याप्त है। इसीलिये अपने को अपने ही समझ कर वह जीव—जो वस्तुतः शिव का ही रूप है—युक्ति और मुक्ति दोनों का दाता है। आत्मा ही गुरु है, आत्मा ही आत्मा को बाँधता है, आत्मा को मुक्त करता है, आत्मा ही आत्मा का प्रभु है। जिसने यह तत्त्व समझ लिया है कि यह काया आत्मा ही है, अपने को आप ही जाना जाता है और अपने से भिन्न समस्त पदार्थ भी आत्मा है वही 'योगिराट्' है, वह स्वयं साक्षात् शिवस्वरूप है और दूसरे को मुक्त करने में भी समर्थ है :—

जीवेन च जगत् सृष्टं स जीवस्तत्त्वनायकः।
स जीवःपुद्गलो हंसः स शिवो व्यापकः परः।
स मनस्तूच्यते भद्रे व्यापकः स चराचरे।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा भुक्तिमुक्तिप्रदायकः॥
प्रथमस्तु गुरुर्ह्यात्मा ज्ञात्मानं बन्धयेत् पुनः।
बंधस्तु मोचयेद्ध्यात्मा आत्मा वै कायरूपिणः॥
आत्मनश्चापरो देवि येन ज्ञातःस योगिराट्।
स शिवः प्रोच्यते साक्षात् स मुक्तो मोचयेत् परः॥

—कौ० ज्ञा० नि० १७।३३-३७

४. कौल-साधना

यद्यपि गोरक्षसंप्रदाय में यह कहा जाता है कि उनके योगमार्ग और कौलमार्ग के चरम लक्ष्य में कोई भेद नहीं है, सिर्फ इतना ही विशेष है कि योगी पहले से ही अन्तरंग उपासना करने लगता है, परन्तु तांत्रिक पहले बहिरंग उपासना करने के बाद क्रमशः अन्तरंग (कुण्डली) साधना की ओर आता है, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि तांत्रिक कौलों को भी यही मत मान्य है। निस्सन्देह कौलमार्ग में भी यह विश्वास किया जाता है कि योगी और कौल का लक्ष्य एक ही है। संक्षेप में यहाँ कौल दृष्टिकोण को समझ लेने से हम आसानी से मत्स्येन्द्रनाथ के दोनों मार्गों का भेद समझ सकेंगे।[1]

हम आगे चलकर देखेंगे कि योगी लोग भोगवर्जनपूर्वक यम-नियमादि की कठोर साधना द्वारा अष्टांग योग-साधना करके समाधि के अन्त में व्युत्थान अवस्था में निर्विकल्पक आनन्द अनुभव करते हैं। तांत्रिक लोगों का दावा है कि कौल साधक भी इसी आनन्द को अनुभव करते हैं। ये लोग कुलसाधना में विहित विधि से कुलद्रव्य —मद्यादि—का संस्कार करके उसका सेवन करते हैं और सिद्धिलाभ करते हुए सातवें उल्लास की अवस्था में पहुँचते हैं। 'कुलार्णवतन्त्र' में मद्यपान से उत्पन्न इन सात उल्लासों की चर्चा है। प्रथम उल्लास का नाम आरंभ है। इसमें साधक तीन चुल्लू से अधिक नहीं पी सकता। दूसरी अवस्था 'तरुण उल्लास' है, जिसमें मन में नये आनन्द का उदय होता है। जरा और अधिक आनन्द की अवस्था का नाम 'यौवन उल्लास' है। यह तीसरी अवस्था है। चौथी अवस्था जिनमें मन और वाक्य किंचित् स्खलित होते रहते हैं, 'प्रौढ़ उल्लास' कही जाती है। पूरी मत्तता आने को 'तदन्तो-ल्लास' नामक पाँचवीं अवस्था कहते हैं। इसके बाद और पान करने पर एक ऐसी अवस्था आती है जिसमें मनोविकार दूर हो जाते हैं और चित्त अन्तर्निरुद्ध हो रहता है। यही छठीं 'उन्मनी-उल्लास' नामक अवस्था है। अन्तिम अवस्था का नाम 'अन-वस्था उल्लास' है। इस अवस्था में जीवात्मा परमात्मा में विलीन होकर ब्रह्मानन्द अनुभव करने लगता है। कौल तांत्रिकों का दावा है कि यह आनन्द योगियों द्वारा अनुभूत निर्विकल्पक ब्रह्मानन्द से अभिन्न है।[2] 'कौलज्ञान-निर्णय' में इन उल्लासों की चर्चा नहीं है। परन्तु वहाँ इसका विधान है अवश्य। 'कौल ज्ञान निर्णय' में प्रायः कुल द्रव्यों की आध्यात्मिक व्याख्या दी हुई है। मानस लिंग, मानस द्रव्य, मानस

---

१. बौद्ध तांत्रिकों के सबसे प्राचीन तंत्रों में से एक 'गुह्य समाजतंत्र' है जिसकी रचना संभवतः सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी में हो गई थी। उसमें उपसाधन के प्रसंग में तांत्रिक साधन बता लेने के बाद ग्रंथकार ने लिखा है कि यदि ऐसा करने पर भी सिद्धि न मिले तो हठयोग से साधना करनी चाहिए (पृ० १६५)।

२. कौ० मा० र०, पृ० ४०-४१।

पुष्पक, मानस पूजा आदि बातें उसमें सर्वत्र लिखी पाई जाती हैं। नाथपंथियों में यह बात एकदम लुप्त नहीं हो गई है।

कौलमार्गी का दावा है कि उसका रास्ता सहज है और योगी का दुरूह। 'रुद्रयामल' में कहा गया है कि जहाँ भोग होता है वहाँ योग नहीं होता और जहाँ योग होता है वहाँ भोग नहीं होता, परन्तु श्री सुन्दरी साधना के व्रती पुरुषों की योग और भोग दोनों ही हाथ में ही रहते हैं।[1] 'कौल ज्ञान निणय' में 'पंच मकार' शब्द नहीं आया है। 'पंच पवित्र' जरूर आया है। ये पंच पवित्र हैं—विष्ठा, धारामृत, शुक्र, रक्त और मज्जा। साधना में अग्रसर साधक के लिये ये विहित हैं (११वाँ पटल)। पंच मकार की प्रायः सारी बातें—मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा और मैथुन—किसी न किसी रूप में आ गई हैं। ग्यारहवें पटल में जिन पाँच उत्तम भोज्यों का उल्लेख है वे हैं—गोमांस, गोघृत, गोरक्त, गोक्षीर और गोदधि। फिर श्वान, मार्जार, उष्ट्र, हय, कूर्म, कच्छप, वराह, वक, कर्कट, शलाकी, कुक्कुट, शेरक, मृग, महिष, गण्डक और सब प्रकार की मछलियाँ उत्तम भक्ष्य बताई गई हैं। पैष्टी, माध्वी और गैण्डी मदों को श्रेष्ठ कहा गया है। 'अकुल वीरतंत्र' में साधना में सिद्ध उस पुरुष के लिये, जिसे अद्वैतज्ञान प्राप्त हो गया है, यह उपदेश है कि जागते-सोते, आहार-विहार, दारिद्र्य शोक, अभक्ष्यभक्षण में किसी प्रकार का भेदभाव या विचिकित्सा न करे। किसी भी इन्द्रियार्थ के भोग में संशयालु न बने, समस्त वर्णों के साथ एक आचार पालन करे और भक्ष्याभक्ष्य का विचार बिल्कुल न करे। सर्वत्र उसकी बुद्धि इस प्रकार होनी चाहिये कि न मैं ही कोई हूँ न मेरी ही कोई है, न कोई बद्ध है, न बंधन ही है और न कुछ कर ही रहा हूँ।[2]

परवर्ती नाथ संप्रदाय में इन सभी बातों की आध्यात्मिक व्याख्या मिल जाती है। मानों मत्स्येन्द्रनाथ के उपदेशों को लक्ष्य करके ही 'हठयोग प्रदीपिका' में कहा गया है कि सच्चा कुलीन या कौल साधक वही है जो नित्य गोमांस भक्षण करता है और अमर वारुणी का पान करता है। और योगी तो कुलघातक हैं! क्योंकि 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे उलटकर तालु देश में ले जाने को (खेचरी मुद्रा में) ही 'गोमांस-भक्षण'

---

१. यत्रास्ति भोगो न तु तत्र योगो तत्रास्ति मोक्षी न तु तत्रभोगः।
श्रीसुन्दरीसाधक पुंगवानां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

२. नाहं कश्चिन्न मैं कश्चित् न बद्धो न च बंधनम्।
नाहं किंचित करोमीति मुक्त इत्यभिधीयते॥
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्जाग्रद् भुज्यमाने च मैथुने।
भवदारिद्र्यशोकेश्च विष्ठामूत्रादिभक्षणे॥
विचिकित्सा नैव कुर्वीत इन्द्रियार्थं कदाचन।
आचरेत् सर्ववर्णानि न च भक्षं विचारयेत्॥
—अकुल वीरतंत्र—ए० ६६-६८

कहते हैं। ब्रह्मरन्ध्र के सहस्रार पद्म के मूल में योनि नामक त्रिकोण चक्र है, वहीं चंद्रमा का स्थान है। इसी से सदा अमृत झरता है। यही अमर वारुणी है।[१] मत्स्येंद्रनाथ की ज्ञानकारिका (८३-८४) में भी इस प्रकार की यौगिक व्याख्या मिलती है। परन्तु इन यौगिक व्याख्याओं से ही यह स्पष्ट है कि जहाँ कौल साधक मंत्रपूत वास्तविक कुलद्रव्य को सेवनीय समझते हैं, यहाँ योगी उनके योगपरक रूपकों में सन्तोष कर लेते हैं।

फिर भी यह कहा नहीं जा सकता कि गोरक्षनाथ के द्वारा उपदिष्ट योगमार्ग का जो रूप आजकल उपलब्ध है उसमें योग और भोग को साथ ही साथ पा लेने की साधना एकदम लुप्त हो गई है। वज्रयान और सहजयान का प्रभाव रह ही गया है। महीधर शर्मा ने 'गोरक्ष पद्धति' नामक ग्रन्थ प्रकाशित कराया है। इसमें किसी और ग्रंथ से वज्रोली और सहजोली मुद्राएँ संगृहीत हैं। ये दोनों ही निश्चित रूप से वज्रयानी और सहजयानी साधनाओं के अवशेष हैं। जो योगी वज्रोलीमुद्रा का अभ्यास करता है वह योगोक्त कोई भी नियम पालन किए बिना ही और स्वेच्छापूर्वक आचरण करता हुआ भी सिद्ध हो जाता है। इस मुद्रा में केवल दो ही आवश्यक वस्तुएँ हैं, यद्यपि ये सबको सुलभ नहीं हैं। ये वस्तुएँ हैं, वशवर्तिना स्त्री और प्रचुर दूध।[२] पुरुष की सिद्धि के लिये जिस प्रकार स्त्री आवश्यक उपादान है उसी प्रकार स्त्री की सिद्धि के लिये भी पुरुष परम आवश्यक वस्तु है।[३] सो, यह पवित्र योग, भोग के आनन्द को देकर भी मुक्ति दाता है।[४] यहाँ इतना लक्ष्य करने की जरूरत है कि मूल गोरक्ष पद्धति में ये श्लोक अन्तर्भुक्त नहीं हैं और कहाँ से लिए गए हैं, यह भी विदित नहीं है। जैसा कि शुरू में कहा गया है, गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य पर आधारित है, उसमें पूर्वोपदिष्ट तंत्रमार्ग के कुलद्रव्यों की केवल योगपरक और आध्यात्मिक व्याख्याएँ मिलती हैं। यहाँ केवल इतना ही निर्देश कर दिया गया है कि इस

---

१. गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥
—इत्यादि, हठ०, ३।४६-४८।

२. स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोली यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम्॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्यकस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी॥
—गोरक्ष पद्धति, पृ० ४८

३. पुंसो बिंदु समाकुञ्चय सम्यगभ्यासपाटवात्।
यदि नारी रजोरक्षेद् वज्रोल्या सापि योगिनी॥—पृ० ५२।

४. देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्याभ्यासयोगतः।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः॥—पृ० ५३।

मार्ग में उक्त साधनाएँ भी रेंगती हुई और सरकती हुई घुस आई हैं या फिर हटाने के अनेक यत्नों के बावजूद भी छिपी हुई रह गई हैं। 'घेरण्ड संहिता'[1] में इस वज्रोली या वज्रोणी का योगपरक प्रयोग पाया जाता है और 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' तथा 'अमरौघ शासन' में भी इसकी चर्चा पाई जाती है।

आजकल जो नाथयोगी संप्रदाय वर्तमान है उसमें भी वामाचार का प्रभाव है। ब्रिग्स ने लिखा है कि दुर्गापूजा में कई स्थानों पर पंच मकारों या कुछ मकारों का प्रचलन है, यद्यपि साधारणतः इसे हीन कोटि की साधना माना जाता है और इससे साधक इस बात को छिपाया करते हैं।[2] बालसुन्दरी, त्रिपुरासुन्दरी, त्रिपुराकुमारी की पूजा अब भी प्रचलित है। त्रिपुरा दस महाविद्याओं में एक है। वे परम शिव की आदि सिसृक्षा हैं और ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान रूप में प्रकट हुए इस त्रिपुटीकृत, जगत् की आद्य उद्भाविका हैं। मालाबार में १६ वर्ष की कन्या की पूजा प्रचलित है। इस पूजा का फल बच्चों की रक्षा और वंशवृद्धि है। अलमोड़ा में इस देवी का मंदिर है। त्रिपुरा देवी की पूजा दक्षिणाचार से होती है, मांसबलि नहीं दी जाती। स्त्रियाँ रात-रात भर खड़ी रहकर देवी को प्रसन्न करती हैं और अभिलषित वर पाने की आशा करती हैं। भण्डारकर ने लिखा है कि योगी लोग त्रिपुर सुन्दरी के साथ अपना अभेदज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने को स्त्री रूप में चिन्ता करने का अभ्यास करते हैं। इनके अतिरिक्त भैरवी अष्टनायिकाएँ, मातृकाएँ, योगिनियाँ, शाकिनियाँ, डाकिनियाँ और अन्य अनेक प्रकार की मृत्युचण्ड स्वभावा देवियाँ योगि संप्रदाय में अब भी उपास्य मानी जाती हैं। ब्रिग्स[3] ने बताया है कि कनफटा योगी लिंग और योनि की पूजा करते हैं और विश्वास करते हैं कि वासनाओं को दबाना साधनमार्ग का परिपंथी है। वे स्त्री को पुरुष का परिणाम मानते हैं और इसलिए वामाचार साधना को बहुत महत्व दिया जाता है। चक्रपूजा, जिसे मत्स्येन्द्रनाथ ने बार-बार कौलज्ञान निर्णय में विवृत किया है, अब भी वर्तमान है। सर्वत्र इस साधना को रहस्यमय और गोप्य समझा जाता है।

५. कौल साधक का लक्ष्य

कौल साधक का प्रधान कर्त्तव्य जीवशक्ति कुंडलिनी को उद्बुद्ध करना है। हम आगे चल कर इस विषय पर विस्तृत रूप से विचार करने का अवसर पाएंगे। यहाँ संक्षेप में यह समझ लेना चाहिये कि शक्ति ही महाकुण्डलिनी रूप से जगत् में व्याप्त है। मनुष्य के शरीर में वही कुण्डलिनी रूप से स्थित है। कुण्डलिनी और प्राणशक्ति को लेकर ही जीव मातृकुक्षि में प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणतः तीन अव-

---

१. घेरण्ड संहिता, ३-४५-५८।
२. ब्रिग्स, पृ० १७१।
३. वही, पृ० १७२-१७४।

स्थाओं में रहते हैं : जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न; अर्थात् या तो जागते रहते हैं, या सोते रहते हैं, या स्वप्न देखते रहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं में कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट रहती है। इन अवस्थाओं में इसके द्वारा शरीरधारण का कार्य होता है। इस कुण्डलिनी के उद्‌बुद्ध होने की क्रिया के समझने के लिए मनुष्य-शरीर की कुछ खास बातों की जानकारी आवश्यक है। पीठ में स्थित मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर पायु और उपस्थ के मध्य भाग में लगता है वहाँ एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोणचक्र में अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन वलयों या वृत्तों में लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके ऊपर चार दलों का एक कमल है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं। फिर उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है जो छः दलों के कमल के आकार का है। इसके भी ऊपर मणिपूर चक्र है और उसके भी ऊपर, हृदय के पास अनाहत चक्र है। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलों के पद्मों के आकार के हैं। इसके भी ऊपर कण्ठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है जो सोलह दल के पद्म के आकार का है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्य में आज्ञा नामक चक्र है, जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही षट्‌चक्र हैं। इन चक्रों को क्रमशः पार करती हुई उद्‌बुद्ध कुण्डलिनी शक्ति सब से ऊपर वाले सातवें चक्र (सहस्रार) में परमशिव से मिलती है। इस चक्र में सहस्र दल होने के कारण इसे सहस्रार कहते हैं और परमशिव का निवास होने के कारण कैलाश भी कहते हैं।[1] इस प्रकार सहस्रार में परमशिव, हृत्पद्म में जीवात्मा और मूलाधार में कुण्डलिनी विराजमान हैं। जीवात्मा परमशिव से चैतन्य और कुण्डलिनी से शक्ति प्राप्त करता है; इसीलिये कुण्डलिनी जीव-शक्ति है। साधना के द्वारा निद्रिता कुण्डलिनी को जगा कर, मेरुदण्ड की मध्यस्थिता नाड़ी सुषुम्ना के मार्ग से सहस्रार में स्थिति परमशिव तक उत्थापन करना ही कौल साधक का कर्त्तव्य है।[2] वहीं शिव-शक्ति का मिलना होता है। शिव-शक्ति का यह सामरस्य ही परम आनन्द है।[3] जब यह आनन्द प्राप्त हो जाता है तो साधक के लिये कुछ भी कारणीय बाकी नहीं रह जाता।

'कौल ज्ञान निर्णय' में चक्रों की बात है परन्तु वह हूबहू परवर्ती नाथपंथी चक्रों

---

१. अतऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम्।
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्थं बाह्ये तिष्ठति सर्वदा।
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति। —शिव संहिता ५-१५१-२।

२. निजावेशात्सम्यङ्निबिड़तमनैरुत्थ्यविधिवत्—
महानंदावस्था स्फुरति विता कापि सततम्।
ततः संविन्नित्यामलसुखचमत्कारगमकः—
प्रकाशप्रोद्बोधो यदनुभवतो भेदविरहः। —सि० सि०, सं०, ५-११

३. समरसानन्दरूपेण एकाकारं चराचरे।
ये च ज्ञातं स्वदेहस्थमकुलवीरंमहाद्‌भुतम्॥ —अकुल वीर तंत्री बी० ११५

से नहीं मिलती। तृतीय पटल में चार, आठ, बारह, सोलह, चौंसठ, सौ, सहस्र कोटि, सार्ध कोटि और तीन कोटि दल वाले चक्रों का उल्लेख है[1] और बाद में कहा गया है कि इन सबके ऊपर नित्य उदित, अखण्ड, स्वतन्त्र पद्म है जहाँ सर्वव्यापी अचल निरंजन (शिव) का स्थान है। यही शिव का वह लिंग है जिसकी इच्छा (शक्ति) से सृष्टि होती है और जिसमें समस्त सृष्टि लीन हो जाती है। वस्तुतः इस लीन होने की क्रिया के कारण वह 'लिंग' कहा जाता है। यही अखंडमंडलाकार निर्विकार निष्फल शिव हैं जिनको जाने बिना बन्ध होता है और जिनको जान लेने से मनुष्य सर्वबन्धों से मुक्त हो जाता है।[2] चक्रों के कमलदलों को न्यूनाधिक संख्या से यह नहीं समझना चाहिए कि नाथपंथी मत इस मत से भिन्न हैं। वस्तुतः नाथपंथ में नाना प्रकार से चक्रों की कल्पना की गई है। असली बात यह है कि सिद्धान्त उभयपत्र एक ही है। 'कौल ज्ञान निर्णय' साधनपरक शास्त्र है। उसमें विधियों का ही अधिक उल्लेख है परन्तु मूल रूप से समस्त योगियों और कौलों का जो लक्ष्य है वह इस शास्त्र में भी है। अन्तिम लक्ष्य दोनों का एक ही है।[3]

प्रत्येक मनुष्य इस कौल साधना के लिये समान भाव से विकसित नहीं है। कुछ साधक ऐसे होते हैं जिनमें सांसारिक आसक्ति अधिक होती है। इस प्रकार मोहरूपी पाश या पगहे से बंधे हुए जीवों को 'पशु' कहते हैं। शास्त्र में उनके लिये अलग ढंग की साधना निर्दिष्ट है। परन्तु कुछ साधक ऐसे होते हैं जो अद्वैत ज्ञान का एक उथला-सा आभासमात्र पाकर साधन मार्ग में उत्साहित हो जाते हैं और प्रयत्नपूर्वक मोहपाश को छिन्न कर डालते हैं। इन्हें 'वीर' कहा जाता है। यह साधक क्रमशः अद्वैत ज्ञान की ओर अग्रसर होता है और अन्त में उपास्य देवता के साथ अपने आपकी एकात्मकता पहचान जाता है। जो साधक सहज ही अद्वैत ज्ञान को अपना सकता है वह उत्तम साधक 'दिव्य' कहलाता है। इस प्रकार साधक तीन श्रेणी के हुए—पशु, वीर और दिव्य। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं। इन तीनों की अवस्थाओं को क्रमशः पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव कहते हैं। शास्त्र में, इसके लिये अलग-अलग साधन-मार्ग उपदिष्ट हैं।

---

१. कौ० ज्ञा० नि०, ३-६—८।

२. तस्योर्ध्वे व्यापकं तत्र नित्योदितमखण्डितम्।
स्वातंत्रमज्जमचलं सर्वव्यापी निरंजनम्॥
तस्येच्छया भवेत् सृष्टिर्लयं तत्रैव गच्छति।
तेन लिंगं तु विख्यातं यत्र लीनं चराचरम्।
अखण्डमण्डलं रूपं निर्विकारं सनिष्कलम्।
अज्ञात्वा बंधमुद्दिष्टं ज्ञात्वा बंधैः प्रमुच्यते।
—कौ० ज्ञा० नि०, ३-८-११

३. गो० सि० सं०, पृ० २०।

तन्त्रशास्त्र में सात प्रकार के आचार बताये गये हैं, वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इनमें जो (१) वेदाचार है उसमें वैदिक काम्य कर्म योगयज्ञादि विहित हैं; तन्त्र के मत से वह सब से निचली कोटि की उपासना है। (२) वैष्णवाचार में निरामिष भोजन, पवित्र भाव से व्रत-उपवास, ब्रह्मचर्य और भजनासक्ति विहित है, (३) शैवाचार में यम-नियम, ध्यान-धारणा, समाधि और शिव-शक्ति की उपासना, तथा (४) दक्षिणाचार में उपर्युक्त तीनों आचारों के नियमों का पालन करते हुए रात्रिकाल में भांग आदि का सेवन कर के इष्ट मन्त्र का जप करना विहित है। यद्यपि इन चारों में पहले से दूसरा, दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा श्रेष्ठ है, परन्तु ये चारों ही आचार पशुभाव के साधक के लिये ही विहित हैं। इसके बाद वाले आचार वीर भाव के साधक के लिये हैं। (५) वामाचार में आत्मा को वामा (शक्ति) रूप में कल्पना करके साधना विहित है। (६) सिद्धान्ताचार में मन को अधिकाधिक शुद्ध कर के यह बुद्धि उत्पन्न करने का उपदेश है कि शोधन से संसार की प्रत्येक वस्तु शुद्ध हो जाती है। ब्रह्म से लेकर ढेले तक में कुछ भी ऐसा नहीं है जो परमशिव से भिन्न हो। इन सबमें श्रेष्ठ आचार है। (७) कौलाचार। इसमे कोई भी नियम नहीं है। इस आचार के साधक साधना की सर्वोच्च अवस्था में उपनीत हो गये होते हैं; और जैसा 'भावचूड़ामणि' मे शिवजी ने कहा है, कर्दम और चन्दन में, पुत्र और शत्रु में, श्मशान और गृह में तथा स्वर्ण और तृण में लेशमात्र भी बुद्धि नहीं रखते—

कर्दमे चन्दनेऽभिन्नं पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवि तथा वै काञ्चने तृणे॥
न भेदो यस्य लेशोऽपि स कौलः परिकीर्तितः॥

इसी भाव को बताने के लिए मत्स्येन्द्रनाथ ने 'अकुल वीर तन्त्र' में कहा है कि जब तक अकुलवीर रूपी अद्वैत ज्ञान नहीं, तभी तक बालबुद्धि के लोग नाना प्रकार की कल्पना करते रहते हैं। यह धर्म है, यह शास्त्र है, यह तप है, यह लोक है, यह मार्ग है, यह दान है, यह फल है, यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है, यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है, यह साध्य है, यह साधक है, यह तत्त्व है, यह ध्यान है—ये सब बालबुद्धि के विकल्प हैं (अकुलवीरतन्त्र ए ७८-८७)। जिसे यह अद्वैत ज्ञान प्राप्त हो गया रहता है उसे प्राणायाम, समाधि और ध्यान-धारणा की आवश्यकता नहीं रहती (१७-२०); वह ब्रह्मा, शिव, रुद्र, बुद्ध, देवी आदि उपास्यों से अभिन्न होकर स्वयं ध्यान और ध्याता बन जाता है। (२६-२८)—वह यज्ञ-उपवास, पूजा-अर्चना होम, नित्य-नैमित्तिक विधि, पितृकार्य, तीर्थ-यात्रा, धर्म, अधर्म, स्नान, ध्यान सब के अतीत हो जाता है (४३-४६)। और अधिक कहने से क्या लाभ, वह व्यक्ति समस्त द्वन्द्वों से रहित हो जाता है—

अथ किं बहुनोक्तेन सर्वद्वन्द्वविवर्जितः।

यह मच्छन्दपाद के अवतारित शास्त्र का चरम लक्ष्य है।

६

जालंधरनाथ और कृष्णपाद

१. साधारण जीवन-परिचय

हमने मत्स्येन्द्रनाथ के समय का विचार करते समय देखा है कि उनके समय के निश्चिय होने के साथ ही साथ जालंधरनाथ, गोरक्षनाथ और कृष्णपाद या कानिफा का समय भी निश्चित हो जाता है क्योंकि समस्त परम्पराएँ बताती हैं कि ये समसामयिक थे। उक्त समय हम पहले ही निश्चित कर चुके हैं, इसलिए उस शास्त्रार्थ में फिर से उलझने की यहाँ जरूरत नहीं है। जालंधरनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के गुरुभाई थे। तिब्बती परम्परा में मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु भी माने जाते हैं। उक्त परम्परा के अनुसार नगर-भोग देश में (?) ब्राह्मणकुल में इनका जन्म हुआ था। पीछे ये एक अच्छे पंडित भिक्षु बने किन्तु घंटापाद के शिष्य कूर्मपाद की संगति में आकर ये उनके शिष्य हो गए। मत्स्येन्द्रनाथ, कण्हपा (कृष्णपाद) और तंतिपा इनके शिष्यों में थे। भोटिया ग्रंथों में इन्हें आदिनाथ भी माना जाता है।[1] तनजूर में इनके लिखे हुए सात ग्रंथों का उल्लेख है जिनमें राहुल जी के मतानुसार दो मगही भाषा में लिखे गए हैं। ये दो हैं (१) 'विमुक्त मंजरी गीत' और (२) 'हुङ्कार चित्त विंदु भावना क्रम।'[1] डाक्टर कर्द्दिये ने तनजूर में प्राप्य बौद्ध तंत्रग्रंथों की एक तालिका फ्रेंच भाषा में प्रकाशित की है उसमें (पृ० ७८ पर) सिद्धाचार्य जालंधरिपाद लिखित एक टिप्पणी ग्रथ का भी नाम है। सरोरुहपाद के प्रसिद्ध तंत्रग्रंथ 'हे वज्र साधन' पर टिप्पणी रूप में लिखित इस ग्रंथ का नाम है, 'शुद्धि वज्रप्रदीप।' ये सभी पुस्तकें काया योग से सम्बद्ध हैं। प्रसिद्ध है कि ये पंजाब मे अधिष्ठित जालंधरपीठ नामक तांत्रिक स्थान में उत्पन्न हुए थे। एक दूसरी परम्परा के अनुसार वे हस्तिनापुर के पुरुवंशी राजा बृहद्रथ के यज्ञाग्नि से उत्पन्न हुए थे, और इसीलिए उनका नाम ज्वालेंद्रनाथ पड़ा था।[2] इस प्रकार तीन स्थानों को इनकी जन्मभूमि बताया गया है, नगरभोग, हस्तिनापुर और जालंधर पीठ। इनकी जाति के बारे में भी यही विवाद है। तिब्बती परम्परा के अनुसार ये ब्राह्मण थे,

---

१. गंगा, पुरातत्वांक, पृ० २५२-३।
२. यो० सं० आ०, पृ० ८६, ८७।

बंगाली परम्परा में ये हाड़ी या हलखोर माने गए हैं, 'योगि सम्प्रदाया विष्कृति' के अनुसार वे युधिष्ठिर की २३वीं पुश्त में उत्पन्न पुरुवंशीय राजा वृहद्रथ के पुत्र होने के कारण क्षत्रिय थे।

जालंधर नाम से अनुमान किया जा सकता है कि ये जालंधरपीठ में या तो उत्पन्न हुए थे या सिद्ध हुए थे। हठयोग की पुस्तकों में एक बन्ध का नाम जालन्धर बन्ध है। बताया जाता है कि जालन्धरनाथ के साथ सम्बद्ध होने के कारण ही यह बन्ध जालन्धर बन्ध कहा जाता है। इसी प्रकार गोरक्षनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ के नाम पर भी एक-एक बन्ध पाये जाते हैं। योगशास्त्रीय पुस्तकों में एक और बन्ध उड्डियानबन्ध है। यह संभवतः उड्डियानपीठ के किसी सिद्ध द्वारा प्रवर्तित है। गायकवाड़ सीरीज में 'साधनमाला' नामक महत्त्वपूर्ण बौद्ध तांत्रिक ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक डॉ० विनयतोषजी भट्टाचार्य का अनुमान है कि उड्डियान उड़ीसा में या आसाम में कहीं है। डॉ० बागची ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन दि तन्त्राज' में (३७-४०) इस मत की समीक्षा की है। और योग्यतापूर्वक प्रतिपादन किया है कि उड्डियान वस्तुतः स्वात उपत्यका में ही है और वह जालन्धरपीठ के कहीं आसपास ही है। जितनी भी परम्पराओं का ऊपर उल्लेख है वे सभी जालन्धरनाथ का जन्म-स्थान पंजाब की ओर ही निर्देश करती हैं। यह असंभव नहीं कि जालन्धरनाथ का सम्बन्ध उड्डियान और जालंधर दोनों बंधों से हो। हमारे इस प्रकार अनुमान का कारण यह है कि उड्डियान में सचमुच ही ज्वालेन्द्र नामक राजा का उल्लेख मिलता है जो आगे चलकर बड़े सिद्ध हुए थे। तारानाथ (पृ० २३५) ने उड्डियान देश के दो भाग बताए हैं, एक का नाम सम्भल है और दूसरे का लंकापुरी। अनेक चीनी और तिब्बती ग्रन्थों में इस लंकापुरी की चर्चा आती है।[1] सम्भलपुरी के राजा इन्द्रभूति थे और लंकापुरी के जालेन्द्र। इन्हीं जालेन्द्र के पुत्र से इन्द्रभूति की बहन की शादी हुई थी। शबरतन्त्र का सम्बन्ध सम्भलपुरी से बताया जाता है। अब इतना निश्चित है कि (१) उड्डियान और जालन्धरपीठ पास ही पास हैं। (२) उड्डियान में ही कहीं लंकापुरी है जहाँ कोई जालेंद्र नामक राजा थे[2] जो सुप्रसिद्ध साधक इन्द्रभूति के बहनोई थे[3] और (३) हठयोग के ग्रन्थों में उड्डियानबन्ध और जालन्धरबन्ध नाम के जो बन्ध हैं उनका सम्बन्ध इनमें से किसी एक से या अनेक से होना असंभव नहीं है। यह कहना बड़ा कठिन है कि जालेन्द्र राजा ही जालन्धर हैं या नहीं।

पौराणिक विश्वास के अनुसार इस जालंधरपीठ में सती के मृत शरीर का—जिसे लेकर उन्मत्तभाव से शिव तांडव करने लगे थे—स्तनभाग पतित हुआ था। यह

---

१. स्ट० तं०, पृ० ३८।

२. राहुलजी ने इंद्रभूति को लंकापुरी का राजा लिखा है, गंगा, पुरा० पृ० २२-२। और उनकी बहन लक्ष्मीकरा को संभल नगर की योगिनी कहा है (पृ० २२४)।

३. उड्डियान और जालन्धरपीठ के लिए देखिए—सिनो इंडियन स्टडीज, जिल्द

पीठ त्रिगर्त प्रदेश में है जो पंजाब के एक अंश का पुराना नाम है। विश्वास किया जाता है कि यहाँ मरने से कीट-पशु-पतंग सभी मुक्त हो जाते हैं। कहते हैं कि जालंधर दैत्य का बध करने के कारण शिव पापग्रस्त हो गये थे और जब इस पीठ में आकर उन्होंने तारा देवी की उपासना की, तब जाकर उनका पाप दूर हुआ। यहाँ की अधिष्ठात्री देवी त्रि शक्ति-अर्थात् त्रिपुरा, काली और तारा हैं। परन्तु स्तनाधिष्ठात्री श्री व्रजेश्वरी ही मुख्य मानी जाती हैं। इन्हें विद्याराज्ञी भी कहते हैं। स्तनपीठ में विद्याराज्ञी के चक्र तथा आद्या त्रिपुरा की पिण्डी की स्थापना है।[1]

इसमें तो कोई संदेह ही नहीं की जालंधरपीठ किसी जमाने में वज्रयानी साधना का प्रधान केंद्र था। उसका कोई न कोई चिह्न वहाँ होना चाहिए। इन दिनों वह विशुद्ध हिन्दू तीर्थ है। यहाँ अम्बिका, जालपा, ज्वालामुखी, आशापूर्ण, चामुण्डा तारिणी, अष्टभुजा आदि अनेक देवियों तथा केदारनाथ, वैद्यनाथ, सिद्धनाथ, महाकाल आदि अनेक शिवस्थान तथा व्यास, मनु, जमदग्नि, परशुराम आदि मुनियों के आश्रम हैं। कौन कह सकता है कि ये अनेक वज्रयानी साधकों के ब्राह्मणीकृत रूप नहीं हैं? यह लक्ष्य करने की बात है कि यद्यपि इस पीठ की प्रधान अधिष्ठात्री शक्ति त्रिशक्ति हैं तथापि मुख्य स्तनपीठ की अधिष्ठात्री देवी का नाम व्रजेश्वरी है।[2] यह व्रजेश्वरी 'वज्रेश्वरी' का ब्राह्मीकृत रूप तो नहीं है? विषय अनुसंधेय है। जो हो, जालंधर-पीठ के प्राचीन और महत्त्वपूर्ण होने में कोई संदेह नहीं है। परन्तु वे परम्पराएँ इतनी विकृत हो गई हैं कि इन पर से किसी ऐतिहासिक तथ्य का खोज निकालना दुष्कर ही है।

जालंधरनाथ-विषयक जितनी भी परम्पराएँ उपलब्ध हैं उनमें इन्द्रभूति की प्रसिद्ध भगिनी लक्ष्मीकरा के साथ उनके किसी प्रकार के संबंध का कोई इशारा भी नहीं है। लक्ष्मीकरा कोई साधारण स्त्री नहीं थीं, उन्हें वज्रयानी परम्परा में बड़े सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है। वे चौरासी सिद्धों में एक हैं और 'आचार्या' 'भगवती', 'लक्ष्मी', 'राजकुमारी', 'भट्टारिका', 'महाचार्यश्री' आदि अत्यन्त गौरवपूर्ण विशेषणों से विशिष्ट करके उन्हें याद किया जाता है। तिब्बती अनुवादों में उनके कई ग्रंथ सुरक्षित हैं—'प्रतीलाद्द्योतन, विषयपद पंजिका', 'अद्वयसिद्धि साधन नाम', 'व्यक्त भावसिद्धि', 'सहज सिद्धि पद्धति नाम', 'चित्तकल्प परिहार, 'दृष्टिनाम' और वज्र-

---

भाग १ में डॉ० पी० सी० बागची का वज्रगर्भ तंत्र राज सूत्र : ए न्यू वर्क ऑव किंग इन्दुबोध—स्टडी ऐण्ड ट्रान्सलेशन।

१. कल्याण शक्ति अंक में श्री तारानन्द जी तीर्थ के एक लेख के आधार पर। दे० पृ० ६७५।

२. यह बात प्रथम संस्करण में लिखी गई थी। उनके प्रकाशन के बाद मुझे जालंधर माहात्म्य नामक हस्तलिखित पुस्तक उपलब्ध हुई। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि इसमें देवी का नाम वज्रेश्वरी ही है।

यानचतुर्दशमूलापत्तिवृत्ति ।' इस प्रकार की प्रसिद्ध और गौरवास्पद महिला से यदि जालंधरनाथ का कोई भी रिश्ता होता तो दन्तकथाओं में उसका कोई न कोई उल्लेख अवश्य मिलता। इस प्रकार का कोई उल्लेख न होने से हम केवल इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि जालेंद्र, ज्वालेंद्र और जालंधर नामों के उच्चारणसाम्य के कारण इनको आपस में बुरी तरह से उलझा दिया गया है। परन्तु यह बात फिर भी जोर देकर के ही कही जा सकती है कि जालंधरनाथ का संबंध जालंधरपीठ से भी था और उड्डियानपीठ से भी।

लक्ष्य करने की बात है कि जालंधरनाथ के प्रसिद्ध शिष्य कानफा या कृष्णपाद ने अपने गुरु का नाम 'जालंधरिपा' कहा है। राहुलजी ने उनका मगही हिन्दी में लिखित जो पद उद्धृत किया है उसमें उनका नाम 'जालंधरि' लिखा है और आज भी जालंधरनाथ का संप्रदाय 'जालंधरिपा' कहलाता है। 'जालंधरिपा' या 'जालंधरिपाद' शब्द सूचित करता है कि ये जालंधर से सबद्ध अवश्य थे। चाहे जन्म से हों, चाहे सिद्धि प्राप्त करने से। वर्तमान अवस्था में इससे अधिक कुछ कह सकना संभव नहीं है।

जालंधरनाथ के शिष्य थे कृष्णपाद जिन्हें कण्हपा, कान्हूपा, कानपा, कानफा आदि नामों से लोग याद करते हैं। श्री राहुल जी ने तिब्बती परम्परा के आधार पर इन्हें कर्णाटदेशीय ब्राह्मण माना है पर डॉ० भट्टाचार्य ने इन्हें जुलाहा जाति में उत्पन्न और उड़ियाभाषी लिखा है।[1] शरीर का रंग काला होने से इन्हें 'कृष्णपाद' कहा गया है। महाराज देवपाल (८०९-८४९ ई०) के समय में यह एक पंडितभिक्षु थे और कितने ही दिनों तक सोमपुरी विहार (पहाड़पुर, जिला राजशाही, बंगाल) में रहा करते थे। आगे चल कर सिद्ध जालंधरपाद के शिष्य हो गए, चौरासी सिद्धों में कवित्व और विद्या दोनों दृष्टियों से ये सब से श्रेष्ठ थे। इनके सात शिष्य चौरासी सिद्धों में गिने जाते हैं जिनमें नखला और मेखला नाम की दो योगिनियाँ भी हैं।[2] इनके बारे में महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने कहा है कि इनकी लिखी ५७ पुस्तकें प्राप्त हुई हैं और १२ संकीर्तन के पद पाए गए हैं। तनजूर में इन्हे पंद्रह स्थान पर भारत-वासी कहा गया है, केवल एक स्थान पर एक उड़ीसादेशी ब्राह्मण कृष्णपाद का नाम है ये लेकिन मूलग्रंथकार नहीं बल्कि तर्जुमा करने वाले हैं। असल में कई कृष्णपाद या कृष्णाचार्य हो गए हैं। इनका कहीं महाचार्य, कहीं महासिद्धाचार्य, एहीं उपाध्याय और कहीं मण्डलाचार्य कहकर सम्मानपूर्वक नाम लिया गया है।[3] राहुल जी के कथना-नुसार तनजूर में दर्शन पर छः और तंत्र पर इनके चौहत्तर ग्रन्थ मिलते हैं[4] दर्शन ग्रंथों में इन्होंने शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार पर 'बोधिचर्यावतार दुखबोधपद निर्णय' नामक

---

१. साधनमाला, द्वितीय भाग, प्रस्तावना पृ० ५३।
२. गंगा, पुरातत्त्वांक, पृ० २५४।
३. बौ० गा० दो०, पृ० २४।
४. गंगा, पृ० २५४।

टीका लिखी थी। इनकी भाषा पर से श्री विनयतोष जी भट्टाचार्य इन्हें उड़ियाभाषी[1], हरप्रसाद शास्त्री बंगलाभाषी[2] और राहुल जी मगही (बिहारी) भाषी[3] कहते हैं। राहुलजी ने निम्नलिखित ग्रन्थों को मगही भाषा में लिखित बताया है—(१) कान्ह-पाद गीतिका, (२) महाडुण्ढनमूल, (३) बसन्त तिलक, (४) असंबद्ध दृष्टि (५) वज्र गीति और (६) दोहाकोष बौद्ध गान में दोहा कोष संस्कृत टीका सहित छपा है जिसमें बत्तीस दोहे हैं।

आगे इन्हीं दोहों और उसकी संस्कृत टीका के आधार पर 'कान्हूपाद' या 'कृष्णपाद'[4] के सिद्धान्तों का विवेचन किया जायगा। साधन माला में कुरुकुल्ला देवी की साधना के प्रवर्तकों में इन्हें भी माना गया है।[5]

---

१. साधनमाला (गायकवाड़ ओरिएंटल सीरिज), पृ० ५३।
२. बौ० गा० दो०, पृ० २४।
३. गंगा, पृ० २५४-५।
४. योगि संप्रदायाविष्कृति में इन्हीं का नाम करणिपानाथ बताया गया है। इस ग्रंथ के अनुसार ब्रह्मा जो जब सरस्वती को देखकर मुग्ध हुए तो अपना स्खलित रेतस् उन्होंने गंगा में छोड़ दिया जो किसी हाथी के कान में प्रवेश कर गया। उसी से हरिद्वार के पास कर्ण या करणिपानाथ प्रादुर्भूत हुए (पृ० ८३)।
५. परानंदसूत्र : प्रस्तावना, पृ० १०-११।

७

जालन्धरपाद और कृष्णपाद का कापालिक मत

हमने ऊपर देखा है कि कान्हूपा या कानपा (कृष्णपाद) ने स्वयं अपने को कापालिक कहा हैं और अपने को जालंधरपाद का शिष्य बताया है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में शैव कापालिकों का वर्णन मिलता है। परन्तु बौद्ध कापालिक मत का कोई उल्लेखयोग्य वर्णन नहीं मिलता। भवभूति के 'मालती-माधव' नामक प्रकरण से पता चलता है कि सौदामिनी नामक बौद्ध भिक्षुणी श्रीपर्वत पर कापालिक साधना सीखने गई थी। 'मालती-माधव' से जान पड़ता है कि यह कापालिक साधना शैव मत की थीं। श्री पर्वत उन दिनों का प्रसिद्ध तांत्रिक पीठ था। वज्रयान का उत्पत्ति-स्थान भी उसे ही समझा जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों श्री पर्वत पर शैव, बौद्ध और शक्ति साधनाएं पास ही पास फल फूल रही थीं। बाणभट्ट ने कादंबरी और हर्षचरित में पर्वत को शाक्त तंत्र का साधनपीठ बताया है। हमारे पास इस समय जालंधरपाद और कृष्णपाद का जो भी साहित्य उपलब्ध है वह सभी वज्रयानियों की मध्यस्थता में प्राप्त हुआ है। यह तो निश्चित ही है कि परवर्ती शैव सिद्धों ने जालंधर और कानपा दोनों को अपनाया है। इसीलिए यह कह सकना कठिन है कि जिस रूप में यह साहित्य हमें मिलता है वही उसका मूल रूप है या नहीं। किन्तु इस उपलब्ध साहित्य से जिस मत का आभास मिलता है, वह निस्संदेह नाथमार्ग का पुरोवर्ती होने योग्य है। यहाँ यह बात उल्लेख योग्य है कि कानिपा संप्रदाय को अब भी पूर्ण रूप से गोरखनाथी संप्रदाय में नहीं माना जाता और उनका प्रवर्तित कहा जाने वाला एक उपसंप्रदाय वामारग (= वाममार्ग) आज भी जीवित है।

विद्वानों का अनुमान है कि यक्षों की पूजा इस देश के उत्तरी हिस्से में बहुत पूर्व से प्रचलित थी। यक्ष, अप्सरा, गंधर्व आदि एक ही श्रेणी के देवयोनि माने गए हैं। इन्हीं यक्षों को वज्रधर समझा जाता था। श्री रमाप्रसाद चन्द ने (ज० डि० ले०, जिल्द ४) दिखाया है कि बुद्ध-पूर्व युग में यक्षों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था। हमने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में दिखाया है कि वरुण, कुबेर और कामदेव वस्तुतः यक्ष देवता हैं। नाना मूर्तियों और उत्कीर्ण चित्रों के आधार पर विद्वानों ने सिद्ध किया है

कि धीरे-धीरे कुछ यक्ष देवता बौद्ध संप्रदाय के मान्य हो गए।[1] 'उपासकदशा सूत्र' में मणिभद्र चैत्य की चर्चा है और 'संयुक्त निकाय' में मणिभद्र यक्ष का उल्लेख है। आगे चलकर मणिभद्र को बुद्ध का शिष्य बताया गया है। एक और यक्ष वज्रपाणि भी बुद्ध का शिष्य होता है और आगे चलकर बोधिसत्त्व का महत्त्वपूर्ण पद पा जाता है। यही 'बोधिचर्यावतार की टीका' में (बिब्लि० इंडि० पृ० ६) वज्री अर्थात् वज्रपाणिबोधिसत्त्व कहा गया है। श्री एन० जी० मजूमदार ने दिखाया है कि यही वज्रपाणिबोधिसत्त्व आगे चलकर उत्तरी भारत के बौद्ध धर्म के महान् उपास्य हो जाते हैं। एसियाटिक सोसायटी में 'कृष्णयमारितंत्र' (नं० ८८६४) की पाण्डुलिपि में वज्रपाणि को 'सर्वतथागताधिपति' कहकर स्मरण किया गया है और 'अष्ट साहस्रिका प्रज्ञा पारमिता' के सत्रहवें अध्याय में (पृ० ३३३) इन्हें 'महायक्ष' कहा गया है। 'तथागत गुह्यक' में इन्हें 'गुह्यकाधिपति' कहा गया है।[2] इस प्रकार वज्रयानी ग्रंथों में यद्यपि वज्रपाणि महान् देवता हो गये हैं। तथापि उनके यक्ष रूप को भुलाया नहीं गया है। पुराने यक्ष-संप्रदाय का क्या रूप था यह स्पष्ट नहीं है। पर इतना निश्चित है कि यक्ष लोग विलासी हुआ करते थे। अप्सराएँ और कामदेव इनके देवता हैं और सुरापान भी इनमें प्रचलित था। वरुण तो वारुणी या मदिरा के देवता ही हैं। इनके विलास का एक भीतिजनक रूप 'यक्ष्मा' शब्द से प्रकट होता है। ऐसा जान पड़ता है कि बौद्ध धर्म में इस संप्रदाय के प्रवेश करने के बाद से वह तांत्रिक रहस्यमयी साधना प्रचलित हुई जिसमें स्त्री-संग और मदिरा की पूरी छूट थी। 'ललितविस्तर' में यज्ञ कुल को स्पष्ट रूप से वज्रपाणि का उत्पत्तिस्थल कहा गया है (यज्ञकुलम् यत्र वज्रपाणेरुत्पत्तिः)। किस प्रकार यह साधना धीरे-धीरे शैव मत को प्रभावित करने में समर्थ हुई यह बात साधना साहित्य के इतिहास की अनेक गुत्थियों को सुलझा सकेगी। इतना स्पष्ट है कि वज्रयान के कई देवता शिव के समान हैं।

'चर्चाचर्य विनिश्चय' की टीका में दातड़ीपाद का एक श्लोक उद्धृत है जिसका अर्थ और पाठ दोनों ही बहुत स्पष्ट नहीं है। इससे 'कापालिक' शब्द की मूल व्युत्पत्ति का आभास मिल जाता है। प्राणी वज्रधर है, जगत् की स्त्रियाँ कपालवनिता हैं (अर्थात् 'कपालिनी' हैं) और साधक हेरुक भगवान् की मूर्ति है जो उससे अभिन्न हैं।[3] ऐसा जान पड़ता है कि स्त्रीजन साध्य होने के कारण ही यह साधना कापालिक कही गई है। 'साधन माला' के ४६८वें पृष्ठ पर हेरुक की साधना का उल्लेख है जो बहुत

---

१. एन्० जी० मजुमदार, ज० डि० ले० : जिल्द ११ सन् १९२४।

२. वही।

३. हरप्रसाद शास्त्री का पाठ इस प्रकार है—

"प्राणी वज्रधरः कपाल-वनितातुल्यो जगत् स्त्रीजनः।

सोऽहं हेरुक मूर्तिरेष भगवान् यो नः प्रभिन्नोऽपिच।" इत्यादि।

कुछ नटराज शिव से मिलता है।[1] हिन्दू शास्त्रों के अनुसार हेरुक शिव के एक गण का नाम है।

'मालती-माधव' में इन कापालिकों का जो प्रसंग है वह इतना पर्याप्त नहीं है कि उस पर से कुछ विस्तृत रूप से इनके विषय में जाना जा सके। दातड़ीपाद या दाओड़ीपाद बौद्ध वज्रयानी साधक थे। उनके श्लोक से इतना तो स्पष्ट ही होता है कि कापालिक साधना में स्त्री की सहायता आवश्यक थी। आधुनिक नाथमार्ग में वज्रोली नामक जो मुद्रा पाई जाती है उसमें भी स्त्री का होना परम आवश्यक माना गया है। 'मालती माधव' का कापालिक अघोरघंट अपनी शिष्या कपालकुण्डला के साथ योग साधन करता था। सब मिलाकर ऐसा लगता है कि क्या शैव और क्या बौद्ध दोनों कापालिक साधनाओं में स्त्री की सहायता आवश्यक थी। नीचे हम दोनों प्रकार की साधनाओं का साधारण परिचय देने का प्रयत्न कर रहे हैं।

'मालती माधव' में कुछ थोड़े से श्लोक हैं जिन पर से इस मत का एक साधारण परिचय मिल जाता है। पंचम अक के आरंभ में ही कपालकुण्डला शिव की स्तुति करती पाई जाती है। इस श्लोक[2] का अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है: 'छः अधिक-दस नाड़ी-चक्र के मध्य में स्थित है आत्मा जिसकी, जो हृदय में विनिहितरूप है, जो सिद्धिद है उसे पहचानने वालों का, अविचल चित्त वाले साधक जिसे खोजा करते हैं उन शक्तियों से परिणद्ध शक्तिनाथ की जय हो।' इस श्लोक की ठीक-ठीक व्याख्या क्या है, वह टीकाकार जगद्धर को भी नहीं मालूम था। उन्होंने प्रायः प्रत्येक पद की व्याख्या में दो-तीन संभावित अर्थ बताए हैं। 'शक्तियों से परिणद्ध' इस शब्द समूह की व्याख्या के प्रसंग में उन्होंने बताया है कि इसके दो अर्थ संभव हैं। ब्राह्मी-माहेश्वरी-कौमारी-वैष्णवी-वाराही-माहेंदी-चामुण्डा-चण्डिका ये आठ शक्तियाँ हैं; इनसे शिव को वेष्टित कहा गया है क्योंकि वे भैरवमूर्ति हैं। या फिर इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न (क्रिया)-रूप शक्तियों से युक्त शक्तिनाथ

डा० प्रबोधचंद्र बागची महाशय ने मुझे बताया है कि तिब्बती अनुवाद के साथ मिलाने पर उन्हें मालूम हुआ है कि 'नः प्रभिन्नोऽपि च' के स्थान पर "न प्रभिन्नोऽपि च' पाठ होना चाहिए। 'चर्याचर्य विनिश्चय' में कई स्थान पर (पृ० २२, २३) इस आचार्य का नाम 'दातड़ीपाद' दिया हुआ है पर डा० बागची महाशय ने मुझे बताया कि वस्तुतः यह "दाओड़ीपाद" होना चाहिए।

१. साधनाओं में त्रिनयन हेरुक का ध्यान भी दिया हुआ है। एक उल्लेख्य बात यह है कि हेरुक कानों में कुंडल धारण किए हुए बताए गए हैं (साधन० २४४) और २४५वीं साधना में इस कुण्डल को 'नरास्थि' अर्थात् मनुष्य की हड्डियों स बना हुआ कहा गया है (दे० पृ० ४७५)।

२. षडधिकदशनाड़ीचक्रमध्यस्थितात्मा हृदिविनिहितरूपः सिद्धिदस्तद्विदां यः।
अविचलितमनाभिः साधकैर्मृग्यमाणः स जयति परिणद्धः शक्तिभिः शक्तिनाथः॥

शिव। इन दोनों अर्थों के लिये जगद्धर ने कोई प्रमाणवचन नहीं उद्धृत किए। इससे अनुमान होता है कि सामान्य तांत्रिक विश्वासों के आधार पर ही यह व्याख्या की गई है, किसी कापालिक ग्रंथ के आधार पर नहीं। परन्तु यह लक्ष्य करने की बात है कि भवभूति ने 'शक्तिनाथ' शब्द का प्रयोग किया है जो कापालिकों में प्रचलित नाथ शब्द से उनके परिचय का सबूत है। और यह अनुमान करना अनुचित नहीं है कि वे शैव-कापालिकों से अच्छी तरह परिचय रख कर ही अपना नाटक लिख रहे थे। 'षडधिकदश' या 'छ-अधिक-दस' नाड़ीचक्र भी टीकाकार के लिये वैसी ही समस्या रही है। इस शब्द के उन्होंने तीन अर्थ किए हैं। प्रथम और प्रधान अर्थ यह है कान-नाभि हृदय-कंठ-तालु और भ्रू के मध्यवर्ती छः ऐसे स्थान हैं जहाँ अनेक नाड़ियों के संघट्ट या सम्मिलन है। ये संघट्टस्थान हृदय आदि में अधिष्ठित प्राण विशेष के चलन योग से बने हुए चक्रों की भाँति हैं और इन स्थानों पर शिव और शक्ति का मिलन होता है। सब मिला कर १०१ नाड़ियाँ ऊपर नीचे और दायें बायें छितराई हुई हैं। उनमें अधिक प्रधान दस हैं—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अरुणा, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी।[1] इनके समूह में हृदय-पद्म के बीच सूक्ष्म आकाश देश में—जो प्राणादि का आधार है—शिवस्वरूप कूटस्थ आत्मा स्थित है। यद्यपि यह सिर से लेकर पैर तक समस्त स्थानों को व्याप्त करके विराजमान है तथापि इसका मुख्य स्थान हृदय-पंकज ही है।[2] दूसरा अर्थ यह है : सोलह नाड़ियों के चक्र में स्थित है आत्मा जिसकी। टीकाकार ने सोलह नाड़ियों का न[3] तो कोई ग्रंथान्तरलभ्य प्रमाण ही दिया है और न नाम ही बताए हैं। केवल 'सर्वं शिवमयं मतम्' कहकर इस प्रसंग को समाप्त कर दिया है। तीसरा अर्थ है छः अधिक-दस नाड़ी चक्र। परन्तु इस श्लोक से इतना स्पष्ट प्रतिपन्न होता है कि (१) भवभूति का जाना हुआ कापालिक मत परवर्ती नाथपंथियों के समान नाड़ियों और चक्रों में विश्वास करता था, (२) शिव और जीव की अभिन्नता में आस्था रखता था, (३) योग द्वारा चित्त के चाञ्चल्य को रोकने से ही कैवल्य रूप में अवस्थित शिवरूप आत्मा का साक्षात्कार होता है, ऐसा मानता था और (४) शक्तियुक्त शिव की प्रभविष्णुता में ही विश्वास रखता था।

इसके बाद वाले श्लोक से[4] पता चलता है कि कपालकुण्डला ने जो साधना

---

१. सि० सि० सं० ६३-६५ से तुलनीय।

२. आशिखश्चरणं देहं यद्यपि व्याप्य तिष्ठति।
तथाप्यस्य परं स्थानं हृत्पंकजमुदाहृतम्॥

३. कापालिक सिद्ध कृष्णपद (कानिपा) के पदों की टीका में नाड़ियों की संख्या बत्तीस बताई गई है (बौ० ग० दो० पृ० २१) और कहा गया है कि इनमें अवधूतिका प्रधान है।

४. नित्यं न्यस्तषडङ्गचक्रनिहितं हृत्पद्ममध्योदितम्।
पश्यन्ती शिवरूपिणं लयवशादात्मानमभ्यागता॥

की थी उसमें नाड़ियों के उदयक्रम से पंचामृत का आकर्षण किया था और इसके फल-स्वरूप अनायास ही आकाशमार्ग से विचरण कर सकती थी। टीकाकार ने 'पंचामृत' शब्द के भी अनेक अर्थ किए हैं। प्रथम अर्थ है क्षिति-अप् आदि पाँच तत्त्व; दूसरा अर्थ है विंदुस्थान से कुण्डलिनी के स्रावण से झरता हुआ रस-विशेष या फिर रसना के नीचे से स्थित रंध्र से झरने वाला रस-विशेष। व्यापक होने से उसे 'पंच' संख्या से सूचित किया गया है (!); तीसरा अर्थ है : जगत् के शरीर के पाँच अमृत जो शिवशक्ति-यात्मक हैं। ये हैं रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द। लेकिन 'पञ्चामृत' का जो असली अर्थ है उसे टीकाकार ने दिया ही नहीं। ये पंच अमृत शरीर स्थित पाँच द्रवरस हैं—शुक्र, शोणित, मेद, मज्जा और मूत्र। इनको आकर्षण करके ऊपर उठाने की क्रिया से शरीर को वज्रवत् बनाया जा सकता है, अणिमादिक सिद्धियाँ पाई जा सकती हैं। वज्रयानी साधकों में तथा कौलमार्गी तांत्रिकों में भी यह विधि है। नाथमार्ग में जो वज्रोली साधना है उसे इस साधना का भग्नावशेष समझना चाहिए।

ऐसा जान पड़ता है कि अन्यान्य तांत्रिकों को भाँति कापालिक लोग भी विश्वास करते थे कि परमशिव ज्ञेय हैं, उपास्य हैं उनकी शक्ति और तद्युक्त अपर या सगुण यिव। इसी बात को लक्ष्य करके देवी भागवत में कहा गया है कि कुण्डलिनी अर्थात् शक्ति से रहित शिव भी शव के समान (अर्थात् निष्क्रिय हैं)—'शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विर्वजितः' और इसी भाव को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने 'सौन्दर्य लहरी' में कहा है कि शिव यदि शक्ति से युक्त हों तब भी कुछ करने में समर्थ हैं नहीं तो वे हिल भी नहीं सकते—

शिवः शक्तया युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।
न चेदेव देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥

तांत्रिक लोगों का मत है कि परमशिव के न रूप हैं न गुण, और इसीलिये उनका स्वरूप-लक्षण नहीं बताया जा सकता। जगत् के जितने भी पदार्थ हैं वे उससे भिन्न हैं और केवल 'नेति नेति' अर्थात् 'यह भी नहीं, वह भी नहीं' ऐसा ही कहा जा सकता है। निर्गुण शिव (पर-शिव) केवल जाने जा सकते हैं; उपासना के विषय नहीं हैं। शिव केवल ज्ञेय हैं। उपास्य तो शक्ति हैं। इस शक्ति की उपासना के बहाने भव-भूति ने कापालिकों के मुख से शक्ति के क्रीड़न और ताण्डव का बड़ा शक्तिशाली वर्णन किया है।'[1] शक्तियों से वेष्टित शक्तिनाथ की महिमा वर्णन करने के कारण यह अनु-

---

नाड़ीनामुदयक्रमेण जगतः पञ्चामृताकर्षणात्।
अप्राप्तोत्पतनश्रमा विघटयन्त्यग्रे नभेऽम्भामुचः ॥

१. सावष्टम्भनिशुम्भसंभ्रमनमद्भूगोलनिष्पीडन—
न्यञ्चत्कूर्परकूर्मकम्पविगलद्ब्रह्माण्डखण्डस्थिति।
पातालप्रतिमल्लगल्लविवरप्रक्षिप्तसप्तार्णवं
वन्दे नन्दितनीलकण्ठपरिषद् व्यक्तर्द्धि वः क्रीड़ितम् ॥५।२२।

मान असंगत नहीं जान पड़ता कि कापालिक लोग भी परमशिव को निष्क्रिय-निरंजन होने के कारण केवल ज्ञान मार्ग का विषय (ज्ञेय) समझते हैं।

वस्तुतः दसवीं शताब्दी के आसपास लिखी हुई एक दो और पुस्तकों में भी शैव कापालिकों का जो वर्णन मिलता है वह ऊपर की बातों को पुष्ट ही करता है। 'प्रबोध-चंद्रोदय' नामक नाटक में सोमसिद्धान्त नामक कापालिक का वर्णन है। वह मनुष्य की अस्थियों की माला धारण किए था, श्मशान में वास करता था और नरकपाल में भोजन किया करता था। योगांजन से शुद्ध दृष्टि से वह कापालिक जगत् को परस्पर भिन्न देखते हुए भी ईश्वर (=शिव) से अभिन्न देखा करता था।[1] 'प्रबोध चंद्रोदय की चंद्रिका' नामक व्याख्या में 'सौम-सिद्धान्त' नाम का अर्थ समझाया गया है। सोम का अर्थ है उमा-सहित (शिव)। जो व्यक्ति विश्वास करता है कि शिव जिस प्रकार नित्य उमा-सहित कैलास में विहार करते हैं उसी प्रकार कान्ता के साथ विहार करना ही परम मुक्ति है वही सोम-सिद्धान्ती है। स्त्री के साथ विहार करने के सिवा इन लोगों के मत में अन्य कोई सुख है नहीं। सदाशिव जब प्रसन्न होते हैं तो ऐसे सुख को दुःख अभिभूत नहीं करता अतएव वह नित्यसुख कहा जाता है।[2] 'प्रबोधचंद्रोदय' से यह भी पता चलता है कि ये लोग चर्बी, आँत आदि सहित मनुष्य के मांस की आहुति देते थे, नरकपाल के पात्र में सुरा-पान करते थे, ताजे मानव-रक्त के उपहार से महा-भैरव की पूजा किया करते थे[3] और उदा कपालिनी (=कपाल-वनिता) के साथ रहा करते थे। मदिरा को ये लोग 'पशुपाश-समुच्छेद कारणं' अर्थात् जीव के भवबंधन को काटनेवाला समझते थे।

इसी प्रकार राजशेखर कवि की लिखी हुई 'कर्पूर मंजरी' में भैरवानन्द नामक कापालिक की चर्चा है। ये अपने को 'कुलमार्ग लग्न' या कौल सिद्ध कहते थे। 'प्रबोध चंद्रोदय' के कापालिक को भी 'कुलाचार्य' कह कर संबोधन किया गया है। 'कर्पूर मंजरी' के कापालिक ने बनाया है कि कुलमार्ग के साधक को न मंत्र की जरूरत है, न तंत्र की, न ज्ञान की, न ध्यान की यहाँ तक कि गुरुप्रसाद की भी जरूरत नहीं है।

---

१. नरास्थिमालाकृतचारुभूषणः
श्मशानिवासी नृकपालभूषणः।
पश्यामि योगांजनशुद्धचक्षुषा
जगन्मयो भिन्नमभिन्नमीश्वरात् ।३।१२

२. तत्र स्त्री-संभोगादि व्यतिरेकेण सुखान्तरंनारित। सदा शिवप्रसादमहिम्ना तादृशसुखस्य दुःखानभिभूतत्वान्नित्यसुखत्वम्। इति सोम-सिद्धान्तरहस्यम्।

३. मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतिर्जुहतां
वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा।
सद्यः कृत्तकठोरकंठ विगलत् कीलालधारोज्ज्वलै—
रर्च्यो नः पुरुषोपहार लिभिर्देवो महाभैरवः।

वे मद्यपान करते हैं। स्त्रियों के साथ विहार करते हैं और सहज ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि नाटककार ने इनके मत को जैसा समझा था वैसा ही चित्रित किया है। इन चित्रणों को हमें उचित सतर्कता के साथ ही ग्रहण करना चाहिए। कापालिकों के संबंध में जनसाधारण की जैसी धारणा थी उसी का चित्र इन नाटकों में मिलता है। सर्वत्र ये कापालिक शैव साधक समझे गये हैं। इसी प्रकार पुष्पदन्त विरचित 'महापुराण' में अनेकस्थलों पर कापालिकों और कौलाचार्यों का उल्लेख है। सर्वत्र उन्हें शैव-योगी माना गया है और सर्वत्र उनके मद्यपान का उल्लेख है।

जालंधरपाद का कहा जाने वाला एक अपभ्रंश पद राहुलजी को नेपाल में मिला है। यद्यपि इसकी भाषा बिल्कुल बिगड़ी हुई है, तथापि इस पद से उनके मत के विषय में एक धारणा बनाई जा सकती है। यद्यपि जालंधरपाद अक्षयनिरंजन-निरालंब शून्य को नमस्कार कर रहे हैं और यह लग सकता है कि वे बौद्ध लोगों की भाँति एक अनिर्वचनीय 'शून्य' को अपना उपास्य मानते हैं, तथापि इस अस्पष्ट पद से भी यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि वे सरहपाद के 'महासुख' नामक 'सत्' आनंद को ही चरम प्राप्तव्य मानते हैं। एक ऐसा समय गया है जब सहजयानी और वज्रयानी साधक शून्य को निषेधात्मक न मानकर विध्यात्मक या धनात्मक रूप में समझने लगे थे। इसी भाव के बिताने के लिये वे 'सुखराज' या 'महासुख' शब्द का व्यवहार करते थे। ये साधक चार प्रकार के आनन्द मानते थे, प्रथमानन्दे, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द अन्तिम और श्रेष्ठ आनन्द सहजानन्द है। यही सुखराज है, यही महासुख है, इसे किसी शब्द से नहीं समझाया जा सकता। यह अनुभववैकगम्य है। इसमें इन्द्रिय-बोध लुप्त हो जाता है, आत्मभाव या अस्मिता विलुप्त हो जाती है, 'केवल' रूप में अवस्थिति होती है। सरहपाद ने इसी भाव को बताने के लिये कहा है—

---

१. मन्तो ण तन्तो ण अकिं पि जाणं
झाणं चणो किं पि गुरुप्पसादा।
मज्जं पियामो महिलं रमामो
मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा॥
रण्डा चण्डा दिविच्चदा धम्मदारा
मज्जं मसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा
कोलो धम्मो कासणो भोदिरम्मो॥
मुत्ति भणन्ति हरिब्रह्ममुखादि देवा
झाणेण वेअपठणेण कदुक्किआए।
एक्केणकेवलमुमादइएण ठिठ्ठो
मोक्खो समं सुर अकेलि सुरारसेहि॥ कर्पूर मंजरी १।२२-२४

इन्दिअ जत्थ विलअ गउ
णद्विउ अप्प सहावा।
सो हले सहजन तनु फुड़
पुच्छहि गुरु पावा।

इतना वे लोग भी मानते थे कि सर्वज्ञ भगवान् बुद्धदेव ने इस शब्द का कभी प्रयोग नहीं किया और इस भाव की प्रज्ञप्ति के लिये कुछ भी नहीं कहा। परन्तु साथ ही, वे बुद्धदेव के मौन को अपने पक्ष की पुष्टि में ही उपयोग करते थे। उनका कहना था कि यद्यपि भगवान बुद्ध सर्वज्ञ थे तथापि वे इस महासुखराज के विषय में जो मौन रह गए, वह इसलिए कि यह वाणी से परे था—'जय हो इस कारणरहित सुखराज की जो जगत् के नाशमान चंचल पदार्थों में एकमात्र स्थिर वस्तु है और सर्वज्ञ भगवान बुद्ध को भी इसकी व्याख्या करते समय वचन-दरिद्र हो जाना पड़ा था।

जयति सुखराज एष कारजरहितः सदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः॥
—नडपाद की 'सेकोद्देश की टीका' में सरहपाद का वचन (पृ० ६३)

सो, यह सुखराज ही सार है, यही शून्यावस्था है, क्योंकि इसका न आदि है न अन्त है, न मध्य है, न इसमें अपने का ज्ञान रहता है न पराये का। न यह जन्म है न मोक्ष; न भव, न निर्वाण। इसी अपूर्व महासुखराज को सरहपाद ने उस प्रकार कहा है—

आइण अन्तण मज्झ णउ,
णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महसुह,
णउ पर णउ अप्पाण।
—ज० डि० ले०, पृ० १३

हमने पहले ही देखा है कि जालंधरपाद ने सरहपाद के ग्रन्थ पर एक टिप्पणी लिखी थी, इसलिए उनके ऊपर सरहपाद के विचारों का प्रभाव होना बिल्कुल स्वाभाविक है। राहुलजी ने नेपाल के बौद्धों में प्रचलित 'चर्यागीति' नामक पुस्तक से जो पद संग्रह किया है वह स्पष्ट रूप से सरहपाद के बतायें हुए उक्त मत का समर्थन करता है। वे चतुरानन्द (चार प्रकार के आनन्द) की बात कहकर बताते हैं कि परमानन्द और विरमानन्द के बीच ही जो आनन्द (=सहजानन्द) आच्छन्न नहीं हो जाता, जो सब के ऊर्ध्व में और सबके अतीत है वह 'महासुख' है। जालंधरपाद ने उस महासुख को अनुभव किया था—

आनन्द परमानन्द विरमा, चतुरानन्द जे संभवा।
परमा विरमा माझे न छादिरे महासुख सुगत संप्रदप्रापिता॥
—गंगा. प०. प० २५३

यह महासुख शैव तांत्रिकों के सहजानन्द के बहुत नजदीक है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि जालंधरपाद को परवर्ती साहित्य में शैव सिद्ध मान लिया गया है।

वर्तमान अवस्था में उनके मत के विषय में इससे कुछ अधिक कह सकना संभव नहीं है परन्तु उनके शिष्य कृष्णपाद के मत के विषय में कुछ अधिक कह सकना संभव है। उनके कई पद और दोहे प्राप्त हुए हैं और उन पर संस्कृत टीका भी उपलब्ध हुई है। संक्षेप में, आगे उनके मत का सार सङ्कलन किया जा रहा है। यहाँ इतना कह रखना उचित है कि म० म० पं० गोपीनाथ कविराज ने 'सिद्धान्त वाक्य' से गोपीचन्द और जालंधरनाथ का जो संवाद उद्धृत किया है[1] वह बहुत परवर्ती जान पड़ता है। वस्तुतः वह अपभ्रंश से या पुरानी हिन्दी से संस्कृत में रूपान्तरित जान पड़ता है। हम आगे 'गोरख बोध' के प्रसङ्ग में उस पर विचार करेंगे।

कान्हुपाद या कृष्णपाद (कानिपा) के दोहों का एक संग्रह 'दोहा कोष' नाम से श्री हरप्रसाद शास्त्री ने छपाया है। उस पर 'मेखला'[2] नामक संस्कृत टीका भी मिली है। इनको फिर से तिब्बती अनुवाद से मिलाकर डा० बागची ने सम्पादन किया है। इन दोहों के अतिरिक्त 'चर्यावर्यविनिश्चय' में संस्कृत टीका के साथ उनके कई पद भी छपे हैं। इन्हीं सब के आधार पर नीचे का संकलन प्रकाशित किया जा रहा है।

कृष्णपाद मानते थे कि इस शरीर में ही चरम प्राप्तव्य की प्राप्ति होती है। शरीर का जो मेरुदण्ड है वही कंकाल-दण्ड कहा जाता है, इसे ही मेरु पर्वत कहते हैं क्योंकि श्री सम्पुटतन्त्र में कहा गया है कि पैरों के तलवे में भैरवरूप धनुषाकार वायु का स्थान है, कटिदेश में त्रिकोण उद्धरण है जिसके तीन दलों पर वर्तुलाकार वरुण का वास है और हृदय में पृथ्वी है जो चतुरस्र भाव से सब ओर व्याप्त है। इसी प्रकार कंकालदण्ड के रूप में गिरिराज सुमेरु स्थित है।[3] इसी गिरिराज के कन्दर कुहर में नैरात्म धातु जगत् उत्पन्न होता है। इसी गिरिकुहर में स्थित पद्म में यदि बोधिचित पतित होता है तो कालाग्नि का प्रवेश होता है और सिद्धि में बाधा पड़ती है ?[4]

---

१. स० भ० स्ट० जिल्द ६ : पृ० २७।

२. कृष्णपाद की एक शिष्या का नाम भी मेखला था। यह अनुमान किया जा सकता है कि टीका उन्हीं की लिखी हो। मेखला वज्रयान-संप्रदाय में बहुत गौरव का पात्र मानी जाती हैं, वे चौरासी सिद्धों में एक हैं। 'वर्ण रत्नाकार' में मेखला नाम से जिस नाथ सिद्ध का उल्लेख है वे यही हैं।

३. स्थितः पाद तले वायुर्भैरवोधनुराकृतिः।
स्थितोऽस्ति कटिदेशे तु त्रिकोणोद्धरणन्तथा॥
वर्तुलाकाररूपो हि वरुणस्त्रिदले स्थितः॥
हृदये पृथिवी चैव चतुरस्रा समन्ततः।
कंकालदंडरूपो हि सुमेरुगिरिराट् तथा॥

४. वर गिरि कन्दर कुहिर जगु तहि सअल चित्तत्थइ।
विमल सलिल सोसजाइ कालाग्गि पइट्ठइ॥१४॥—बौ० गा० दो०, पृ० १२७।

क्योंकि 'शुक्र सिद्धि' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट ही लिखा है कि यदि सर्वसिद्धि का निधान बोधिचित्त (=शुक्र, नाथ पंथियों का बिंदु) नीचे की ओर पतित हो और स्कंधविज्ञान मूर्च्छित हो जाय तो उत्तम सिद्धि कहाँ से प्राप्त हो सकती है ?[1]

यहाँ यह समझ रखने की जरूरत है कि समस्त बौद्ध वज्रयानी और सहजयानी साधक मानते हैं कि दो प्रकार के सत्य होते हैं—लोकसंवृत्ति-सत्य अर्थात् लौकिक सत्य और पारमार्थिक सत्य अर्थात् वास्तविक सत्य। लोक में बोधिचित्त का अर्थ स्थूल शारीरिक शुक्र है जब कि पारमार्थिक सत्य में वह ज्ञातृरूप चित्त है। इसी प्रकार पद्म और वज्र के सांवृत्तिक अर्थ स्त्री और पुरुष के जननेन्द्रिय हैं। परन्तु पारमार्थिक अर्थात् वास्तविक अर्थ आध्यात्मिक हैं जो आगे स्पष्ट होंगे। कृष्णाचार्यपाद के एक पद की टीका में टीकाकार ने बताया है कि जो लोग गुरु संप्रदाय के अन्दर नहीं हैं वे लोग सांवृत्तिक (व्यावहारिक) अर्थ लेकर शरीर रूप कमल के मूलभूत बोधिचित्त को 'शुक्र' समझते हैं।[2] कृष्णाचार्यपाद ने इस वृत्ति को मार डालने का संकल्प प्रकट किया था। स्कंध विज्ञान के मूर्च्छित होने का क्या अर्थ है, यह समझना जरूरी है। इसलिये इसके विकास पर एक सरसरी निगाह दौड़ाकर हम आगे बढ़ेंगे।

किस प्रकार यह तांत्रिक प्रवृत्ति बौद्ध मार्ग में प्रविष्ट हुई थी, इसका इतिहास बहुत मनोरंजक है। इस विषय में भदन्त शान्तिभिक्षु ने 'विश्वभारती पत्रिका' में एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है। अनुसंधित्सु पाठकों को वह लेख (वि० भा० प०, खण्ड ४, अंक १) पढ़ना चाहिए। यहाँ विकृत विषय से संबद्ध कुछ तथ्यों का संकलन किया जा रहा है, इससे परवर्ती प्रसंग स्पष्ट होगा। जो साधक साधनामार्ग में अग्रसर होने की इच्छा रखता है उसके लिये चित्त को वश में करना परम आवश्यक है। इस चित्त में यदि कामनाओं के उपभोग न करने का कारण क्षोभ हुआ तो साधना मिट्टी में मिल जायगी। यही सोचकर अनङ्गवज्र ने कहा था कि इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिए जिससे चित्त क्षुभित न हो। यदि चित्तरत्न संक्षुब्ध हो गया तो कभी सिद्धि नहीं मिल सकती।[3] फिर यह विक्षोभ दमन कैसे किया जाय ? वासनाएँ दबाने से मरती नहीं अपितु और भी अन्तस्तल में जाकर छिप जाती हैं। अवसर पाते ही वे उद्बुद्ध हो जाती हैं और साधक को दबोच लेती हैं। इसीलिए उनको दबाना ठीक नहीं। उचित पंथ यह है कि समस्त कामनाओं का उपभोग किया जाय तभी शीघ्र चित्त

---

१. पतिते बोधिचित्ते तु सर्वसिद्धि निधान के।
मूर्छिते स्कंधविज्ञाने कुतः सिद्धिरनिन्दिता॥

२. गुरुसंप्रदायविहीनस्य सैव डोम्बिनी अपरिशुद्धाऽवधूतिका सरोवरं कायपुष्करं तन्मूल तदेव बोधिचित्तं संवृत्या शुक्ररूतं मारयामि॥—बौ० गा० दो०, पृ० २१।

३. तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यतेः मनः।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन॥

का संक्षोभ दूर होगा और सच्ची सिद्धि प्राप्त होगी।[1] इस प्रकार कामोपभोग का साधना-क्षेत्र में प्रवेश हुआ। इस साधना की पृष्ठभूमि में शून्यवाद था। शून्यता और समस्त अभावों और अभावों से मुक्त निःस्वभावता ही साधक का चरम लक्ष्य है। कामनाओं में उपभोग के लिए स्त्री की आवश्यकता है इसीलिए वज्रयान में पाँच बुद्धों और अनेक बोधिसत्त्वों की शक्ति कल्पना की गई। सिद्धिप्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता है, इसलिए जो बुद्ध सिद्ध हो गये हैं उनके भी गुरु हैं। यह गुरु शून्यता ही है। जैसे गुड़ का धर्म माधुर्य है, और अग्नि का धर्म उष्णता है उसी प्रकार समस्त धर्मों का धर्म—समस्त स्वभावों का स्वभावशून्यता है।[2] शून्यता का मूर्तरूप वज्रसत्व है। वज्रसत्व वज्रधर, वज्रपाणि, तथागत इसी शून्य के नाम हैं, यही वज्रधर समस्त बुद्धों के गुरु हैं।

बौद्ध दर्शन में समस्त पदार्थों को पाँच स्कंधों में विभक्त किया गया है—रूप-स्कंध, वेदना स्कंध, संज्ञा-स्कंध, संस्कार-स्कंध और विज्ञान-स्कंध। इस शरीर में भी ये ही पाँच तत्व हैं और पाँचों बुद्ध—वैरोचन, रत्नसंभव, अमिताभ, अमोघ-सिद्धि और अक्षोभ्य इन्हीं पाँच स्कंधों के विग्रह हैं। इन बुद्धों की पाँच शक्तियाँ हैं, और नाना भाँति के, चिह्न, रंग, वर्ण, कुल आदि हैं। इस प्रकार समस्त बुद्धों की आश्रयभूमि जिस प्रकार समस्त विश्वब्रह्माण्ड है उसी प्रकार यह शरीर भी है। इसीलिए शरीर की साधना परम आवश्यक है। काया-साधना से शून्यता रूप परम प्राप्तव्य प्राप्त किया जा सकता है। समस्त बुद्धों और उनकी शक्तियों की आवासभूमि यह शरीर है। नीचे भदन्त शांति भिक्षु के लेख से एक कोष्ठक उद्धृत किया जा रहा है जिससे बुद्ध, उनकी शक्तियाँ, रंग, रूप, चिह्न और कुल आदि का परिचय हो जायेगा। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह साधना नाथ-साधना का या तो पूर्व रूप है, या उससे अत्यधिक सम्बद्ध है।

अब इस मानव शरीर का प्रधान आधार उसकी रीढ़ या मेरुदण्ड है। सो इस मेरुदण्ड के भीतर तीन नाड़ियों से होता हुआ प्राणवायु संचरित होता है। बाईं नासिका से ललना और दाहिनी नासिका से रसना नामक प्राणवायु को वहन करने वाली नाड़ियाँ चलती हैं। (नाथपंथियों की इड़ापिंगला से तुलनीय) जिसमें पहली प्रज्ञा-चंद्र है और दूसरी उपाय सूर्य। प्रज्ञा और उपाय नाथपंथियों की इच्छा और क्रिया शक्ति को समशील हैं। मध्यवर्ती नाड़ी अवधूती है जो नाथपंथियों की सुषुम्णा की समशीला है। इस नाड़ी से जब प्राणवायु ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है तो ग्राह्य और ग्राहक का

---

१. दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्धयति।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चशु सिद्धयति॥

२. गुड़े मधुरता चाग्ने रुष्णत्वं प्रकृतिर्यथा।
शून्यता सर्व धर्माणां तथा प्रकृतिरिष्यते॥

ज्ञान नहीं रहता इसीलिये अवधूती नाड़ी ग्राह्यग्राहकवर्जिता कहा जाता है।[1] मेरुगिरि के शिखर का महासुख का आवास है जहाँ एक चौंसठ दलों का कमल है। यह कमल चार मृणालों पर है, प्रत्येक मृणाल के चार क्रम हैं और प्रत्येक क्रम के चार चार दल हैं—इस प्रकार यह (४×४×४) चौंसठ दलों का कमल (पद्म) हैं जहाँ वज्रधर (योगी) इस पद्म का आनन्द उसी प्रकार लेता है जिस प्रकार भ्रमर प्रफुल्ल कुसुम का।[2] इन चार मृणालों के दलों को शून्य, अतिशून्य, और सर्वशून्य नाम दिया गया है। जो सर्वशून्य का आवास है उसी का नाम उष्णीषकमल है, यहीं डाकिनी जालात्मक

पंच स्कंध	पंचतथागत या ध्यानी बुद्ध	रंग	वर्ण	चिह्न	पाँच कुल	शक्तियाँ	शक्तियों के दूसरे नाम	तत्त्व	रंग (तत्वों के)	चिह्न
रूप	वैरोचन	शुक्ल	कवर्ग	शुक्ल चक्र	मोह	मोहरति	लोचना	पृथ्वी	शुक्ल	चक्र
वेदना	रत्न-संभव	पीत	टवर्ग	रत्न	ईर्ष्या	ईर्ष्यारति	तारा	वायु	श्याम	नील कमल
संज्ञा	अमि-ताभ	रक्त	तवर्ग	पद्म	राग	रागरति	पाण्डर बासिनी	तेज	रक्त	पद्म
संस्कार	अमोघ सिद्धि	श्याम	पवर्ग	वज्र	वज्र	वज्ररति	....	....	....	
विज्ञान	अक्षोभ्य	कृष्ण	चवर्ग	कृष्ण वज्र	द्वेष	द्वेषरति	मामकी	जल	कृष्ण	कृष्ण वज्र
शून्यता	वज्रसत्त्व	शुक्ल	अन्तःस्थ	वज्र-घंटा			प्रज्ञापरिमिता			

१. हे वज्र में सरोरुहपाद ने कहा है—
ललना प्रज्ञा स्वभावेन रसनोपायसंस्थिता।
अवधूती मध्यदेशेतु ग्राह्यग्राहकवर्जिता॥

२. ललना रसना रविशशि तुड़िआ वेनवि पासे।
चउपत्तर चउक्कम चउमृणाल त्थिअ महासुहवासे॥५॥
एवं काल वीअलइ कुसुमिअ अरविन्दए।
महुअरुए सुरअवीर सिंघप मअरन्दए॥६॥
—बौ० गा० दो, पृ० १२४

जालंधर गिरि नामक महामेरुगिरि का शिखर है, यहीं महासुख का आवास है।[1] इसी गिरि पर शिखर पर पहुँचने पर योगी स्वयं वज्रधर कहा जाता है, यहीं वह सहजानंद रूप महासुख को अनुभव करता है।[2]

ऊपर जो चार प्रकार के आनन्द बताए गए हैं उनमें प्रथम आनन्द कायात्मक है अर्थात् शारीरिक आनन्द है, दूसरे और तीसरे वाचात्मक और मनसात्मक हैं। अन्तिम आनन्द ज्ञानात्मक है और इसीलिय सहजानन्द कहा जाता है। इसी आनन्द में महासुख की अनुभूति होती है।

यह लक्ष्य करने की बात है कि इस समय भी नाथमार्ग में विशेष-विशेष चक्रों के नाम जालंधर और उड्डियानपीठ है। परन्तु गोरक्षनाथ के मत में जालंधरपीठ वाला चक्र अन्तिम चक्र नहीं हैं। आधुनिक नाथपंथियों के षट्चक्रों में जो पाँचवाँ विशुद्ध चक्र है वह सोलह दलों का माना गया है। इसके स्फटिक वर्ण की कर्णिका में वर्तुलाकार आकाशमण्डल है जिसमें निष्कलंक पूर्ण चन्द्रमा है इसी के पार्श्व में शाकनी सहित सदाशिव है। यह जालंधर पीठ कहलाता है,[3] छठा आज्ञाचक्र है। इसके दो दल हैं और कर्णिका में हाकिनी-सहित शिव हैं इसी को उड्डियान भी कहते हैं।[4] कृष्णपाद ने डाकिनी-युगलात्मक जालंधर पीठ की बात कही है। इन दिनों तांत्रिकों और नाथ मार्गियों के विश्वासानुसार डाकिनी के अध्युषित चक्र मूलाधार है जो बिल्कुल प्रथम चक्र है[5] इस प्रकार परवर्ती विश्वास कृष्णाचार्यपाद के सिद्धान्तों को और भी आगे बढ़ाकर बनाया हुआ जान पड़ता है। उन दिनों बौद्ध साधक भी शिव को उपास्य मानते थे, इसका प्रमाण भी पुराने ग्रंथों से मिल सकता है।[6]

---

१. शून्यातिशून्य महाशून्यसर्वशून्यमिति चतुः शून्य स्वरूपेण पत्रचतुष्टयं चतुरादि स्वरूपेण चतुर्मृणालसंस्थिता। कुत्रेत्याह। महासुखं वसत्यस्त्रित्रिति महासुखवासे उष्णीषकमलं तत्र सर्वशून्यालयो डाकिनी जालात्मकं जालंधराभिधानं मेरुगिरिशिखर मित्यर्थः। —वही, पृ० १२४

२. एहु सो गिरिवर कहिअ मरिएहु सो महासुह पाव।
एत्थुरे निसग्ग सहज खगुन हइ महासुह जाव ॥२६॥

३-४. गो० प० : पृ० १५।

५. वसेदत्र देवीच डाकिन्यभिख्या
लसद्वाहुवेदोज्ज्वल रक्तनेत्रा।
उमानोदितानेक सूर्यप्रकाशा
प्रकाशं वहन्ती सदाशुद्धबुद्धे ॥ —षट्चक्र निरूपण-७

६. मालती माधव की बौद्धसाधिका सोदामिनी आकाश पथ से विचरण करती जब उस स्थान पर आती हैं, जहाँ मधुमती और सिंधु नदी के संगम पर भगवान् भवानीपति का 'अपौरुषेय-प्रतिष्ठ' विग्रह सुवर्णबिन्दु है, तो भक्तिपूर्वक शिव को प्रणाम करती हैं :—

अवधूती नाड़ी डोम्बिनी या डोमिन है और चंचल चित्त ही ब्राह्मण है। डोमिन से छू जाने के भय से यह अभागा ब्राह्मण भागा-भागा फिरता है। विषयों का जंजाल मानो एक नगर है और अवधूती रूपी डोमिन इस नगर से बाहर रहती है। जब कृष्णपाद ने गाया है कि हे डोमिन तुम्हारी कुटिया नगर के बाहर है, छुआछूत से ब्राह्मण भागा फिरता है तो उनका तात्पर्य उसी अवधूती वृत्ति से है। वे कहते हैं कि 'डोमिन, तुम चाहे नगर के बाहर ही रहो पर निर्घृण कापालिक कान्ह (कानपा) तुम्हें छोड़ेगा नहीं, वह तुम्हारे साथ ही संग करेगा।' जब वे कहते हैं कि चौंसठ पंखड़ियों के दल पर डोमिन नाच रही है[1] तो उनका मतलब उसी महा मेरुगिरि के जालंधर नामक शिखर पर स्थित उष्णीष कमल से है। इसी प्रकार जब वह कहते हैं कि मंत्र-तंत्र करना बेकार है केवल अपनी घरनी को लेकर मौज करो तो[2] उनका मतलब इसी अवधूती के साथ विहार करने का होता है।

एक बार प्राण-वायु का निरोध करके यदि योगी इस मेरु शिखर पर बास कर सकता तो निस्तरंग सरोवर की भाँति उसकी वृत्तियों के रुद्ध होने से वह सहजस्वरूप को प्राप्त होता है। सहजरूप अर्थात् पाप और पुण्य—विराग और राग—दोनों से रहित दोनों के अतीत। श्रीमद् आदि बुद्ध ने कहा भी है कि विराग से बढ़कर पाप नहीं है, और राग से बढ़कर पुण्य नहीं[3] सो कृष्णपाद ने परमतत्त्व का साक्षात्कार करके यह सत्य वचन कहा है—

"अयंच मधुमती सिंधु संभेदपावनो भगवान् भवानीपतिपौरुषेयप्रतिष्ठः सुवर्ण-विंदुरित्याख्यायते। (प्रणम्य)

जय देव भुवनभावन जय भगवन्नखिलवरद-निगमनिघ्ने।
जय रुचिरचन्द्रशेखर जय मदनन्दक जयादिगुरो।" —मा० मा० ८।४

१. नगरे बाहिरँ डोम्बि तोहारि कुड़िआ।
छोइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िया॥
आलो डोम्बि तोए सँग करिबे म साँग।
निघ्घन कान्ह कापालि जोइ लाँग॥
एक सो पदमा चौषट्ठी पांखुड़ी।
तहि चड़ि नाचअ डोम्बि बापुड़ी॥ —पद १०, चर्या पृ० ।८।

२. एक्क न किज्जइ मंत न तंत
णिअ घरणी लेइ केलि करन्त।
णिअ घर घरणी जवण मज्जइ
ताव कि पञ्चवण्ण विहरिज्जइ॥२८॥ —बौ० गा० दो० : पृ० १३१

३. विरागान्नपरं पापं न पुण्यं सुखतः परम्।
अतोऽक्षर सुखे चितं निवेश्यं तु सदा नृप॥

नितरंग सम सहजरुअ सअल करुष विरहिते ।
पाप पुण्य रहिए, कुच्छ नाहि फुल कान्हु कहिए ।।१०।।

यह साधना नाथ-मार्गियों के साधना से बहुत-कुछ मिलती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि नाथ-सिद्ध भी इसी भावाभावविनिर्मुक्तावस्था को अपनी साधना का चरम लक्ष्य मानते हैं।

८

गोरक्षनाथ (गोरखनाथ)

विक्रम संवत् की दसवीं शताब्दी में भारतवर्ष के महान गुरु गोरक्षनाथ का आविर्भाव हुआ। शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरुष भारतवर्ष में दूसरा नहीं हुआ। भारतवर्ष के कोने-कोने में उनके अनुयायी आज भी पाये जाते हैं। भक्ति-आन्दोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन गोरखनाथ का योगमार्ग ही था। भारतवर्ष की ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें गोरक्षनाथ संबंधी कहानियाँ न पाई जाती हों। इन कहानियों में परस्पर ऐतिहासिक विरोध बहुत अधिक है परन्तु फिर भी इनमें एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है—गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे बड़े नेता थे। उन्होंने जिस धातु को छुआ वही सोना हो गया। दुर्भाग्यवश इस महान धर्मगुरु के विषय में ऐतिहासिक कही जाने लायक बातें बहुत कम रह गई हैं। दन्तकथाएँ केवल उनके और उनके द्वारा प्रवर्तित योग मार्ग के महत्त्व-प्रचार के अतिरिक्त कोई विशेष प्रकाश नहीं देतीं।

उनके जन्मस्थान का कोई निश्चित पता नहीं चलता। परम्पराएँ अनेक प्रकार के अनुमान को उत्तेजना देती हैं और इसीलिए भिन्न-भिन्न अन्वेषकों ने अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों को उनका जन्मस्थान मान लिया है। 'योगि संप्रदाया विष्कृति' में उन्हें गोदावरी तीर के किसी चंद्रगिरि में उत्पन्न बताया गया है।[1] नेपाल दरबार लाईब्रेरी में एक परवर्ती काल का 'गोरक्ष सहस्रनामस्तोत्र' नामक छोटा सा ग्रंथ है। उसमें एक श्लोक इस आशय का है कि दक्षिण दिशा में कोई बड़व नामक देश है वहीं महामंत्र के प्रसाद से महाबुद्धिशाली गोरक्षनाथ प्रादुर्भूत हुए थे।[2] संभवतः इस श्लोक में उसी परम्परा की ओर इशारा है जो 'योगिसंप्रदाया विष्कृति' में पाई जाती है। श्लोक में का बड़व शायद, गोदावरी तीर के प्रदेश का वाचक हो सकता है।

---

१. य० सं० आ० : पृ० २३।

२. अस्ति याम्यां (? पश्चिमायां) दिशिकश्चिद्देशः बढ़व संज्ञकः।
तत्राजनि महाबुद्धिर्महामंत्र प्रसादतः।

—कौ० ज्ञा० नि०, भूमिका, पृ० ६४

क्रुक्स ने[1] एक परम्परा का उल्लेख किया है, जिसे ग्रियर्सन ने भी उद्धृत किया है।[2] जिसमें कहा गया है कि गोरक्षनाथ सत्ययुग में पंजाब के पेशावर में, त्रेता में गोरखपुर में, द्वापर में द्वारका के भी आगे हुरमुज में और कलिकाल में काठियावाड़ की गोरख-मढ़ी में प्रादुर्भूत हुए थे। बंगाल में यह विश्वास किया जाता है कि गोरक्षनाथ उसी प्रदेश में उत्पन्न हुए थे। नेपाली परम्पराओं से अनुमान होता है कि वे पंजाब से चल कर नेपाल गए थे। गोरखपुर के महन्त ने ब्रिग्स साहब को बताया था कि गुरु गोरख-नाथ टिला (झेलम-पंजाब) से गोरखपुर आए थे? नासिक के योगियों का विश्वास है कि वे पहले नेपाल से पंजाब आए थे और बाद में नासिक की ओर गए थे। टिला का प्राधान्य देखकर ब्रिग्स ने अनुमान किया है कि वे संभवतः पंजाब के निवासी रहे होंगे।[4] कच्छ में प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ के शिष्य धर्मनाथ पेशावर से कच्छ गए थे। ग्रियर्सन ने इन्हें गोरखनाथ का सतीर्थ कहा है[5] परन्तु वस्तुतः धरमनाथ बहुत परवर्ती है। ग्रियर्सन ने अन्दाज लगाया है कि गोरक्षनाथ संभवतः पश्चिमी हिमालय के रहने वाले थे। इन्होंने नेपाल को आर्य अवलोकितेश्वर के प्रभाव से निकालकर शैव बनाया था। ब्रिग्स का अनुमान है कि गोरक्षनाथ पहले वज्रयानी साधक थे, बाद में शैव हुए थे। हमने मत्स्येंद्रनाथ के प्रसंग में इस मत को और एतत्सम्बन्धी तिब्बती परम्परा की जाँच की है। तिब्बती परम्पराएँ बहुत परवर्ती हैं और विकृतरूप में उपलब्ध हैं, उनको बहुत अधिक निर्भरयोग्य समझना भूल है। मेरा अनुमान है कि गोरक्षनाथ निश्चित रूप से ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए थे और ब्राह्मण वातावरण में बड़े हुए थे। उनके गुरु मत्स्येंद्रनाथ भी शायद ही कभी बौद्ध साधक रहे हों। मेरे अनुमान का कारण गोरक्षनाथी साधना का मूल सुर है जिसकी चर्चा हम इसी प्रसंग में आगे करने जा रहे हैं।

गोरक्षनाथ के नाम पर बहुत ग्रन्थ चलते हैं जिनमें अनेक तो निश्चित रूप से परवर्ती हैं और कई संदेहास्पद हैं। सब मिला कर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ की कुछ पुस्तकें नाना-भाव से परिवर्तित, परिवर्द्धित और विकृत होती हुई आज तक चली आ रही हैं। उनमें कुछ-न-कुछ गोरक्षनाथ की वाणी रह जरूर गई है, पर सभी की सभी प्रामाणिक नहीं है। इन पुस्तकों पर से कई विद्वानों ने गोरखनाथ का स्थान और कालनिर्णय करने का प्रयत्न किया था, वे सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए हैं। कबीरदास के साथ गोरखनाथ की बातचीत हुई थी, और उस बात-चीत का विवरण बताने वाली पुस्तक उपलब्ध है इस पर से एक बार ग्रियर्सन तक ने अनुमान

---

१. ट्रा० का० : पृ० १५३-४।
२. इ० रे० ए० : पृ० ३२८।
३. यो० सं० आ० (अध्याय ४८) से इसी मत का समर्थन होता है।
४. ब्रिग्स : पृ० २२८।
५. इ० रे० ए० : पृ० ३२८।

किया था कि गोरखनाथ चौदहवीं शताब्दी के व्यक्ति थे। गुरु नानक के साथ भी उनकी बातचीत का विवरण मिल जाता है। और, और तो और सत्रहवीं शताब्दी के जैन दिगम्बर सन्त बनारसीदास के साथ शास्त्रार्थ होने का प्रसंग भी मैंने सुना है। टेसिटरी ने बनारसीदास जैन की एक पुस्तक गोरखनाथ की (?) वचन का भी उल्लेख किया है।[1] इन बातचीतों का ऐतिहासिक मूल्य बहुत कम है। ज्यादा से ज्यादा इनकी व्याख्या सांप्रदायिक महत्त्व प्रतिपादन के रूप में ही की जा सकती है। या फिर आध्यात्मिक रूप में इसकी व्याख्या यों की जा सकती है कि परवर्ती सन्त ने ध्यान बल से पूर्ववर्ती सन्त से उपदिष्ट मार्ग से अपने अनुभवों की तुलना की है। परन्तु उन पर से गोरखनाथ का समय निकालना निष्फल प्रयास है। कबीरदास के साथ तो मुहम्मद साहब की बातचीत का ब्यौरा भी उपलब्ध है तो क्या इस पर से यह अनुमान किया जा सकता है कि कबीरदास और हजरत मुहम्मद समकालीन थे? वस्तुतः गोरखनाथ को दसवीं शताब्दी का परवर्ती नहीं माना जा सकता। मत्स्येंद्रनाथ के प्रसंग में हमने इसका निर्णय कर लिया है।

गोरक्षनाथ और उनके द्वारा प्रभावित योगमार्गीय ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि गोरखनाथ ने योगमार्ग को एक बहुत ही व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर बहुधाविस्रस्त काया-योग के साधनों को व्यवस्थित किया है; आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामंजस्य से चक्रों की संख्या नियत की, उन दिनों अत्यन्त प्रचलित वज्रयानी साधना के पारिभाषिक शब्दों के सांवृत्तिक अर्थ को बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण डमरु-गम से उद्भूत और सम्पूर्ण ब्राह्मण विरोधी साधनमार्ग को इस प्रकार संस्कृत किया कि उसका रूढ़ि विरोधी रूप ज्यों का त्यों बना रहा परन्तु उसकी अशिक्षा जन्य प्रमाद पूर्ण रूढ़ियाँ परिष्कृत हो गईं। उन्होंने लोकभाषा को भी अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। यद्यपि उपलभ्य सामग्री से यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि उनके नाम पर चलने वाली लोकभाषा के पुस्तकों में कौन-सी प्रामाणिक हैं और उनकी भाषा का विशुद्ध रूप क्या है तथापि इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने उपदेश लोकभाषा में प्रचारित किए थे। कभी-कभी इन पुस्तकों की भाषा पर से भी उनके काल का निर्णय करने का प्रयास किया गया है। स्पष्ट है कि यह प्रयास भी निष्फल है।

गोरक्षनाथ की लिखी हुई कही जाने वाली निम्नलिखित संस्कृत पुस्तकें मिलती हैं। इनमें से कई को मैंने स्वयं नहीं देखा है, भिन्न-भिन्न ग्रन्थ सूचियों और आलोचनात्मक अध्ययनों से संग्रह भर कर लिया है। जिनको देखा है उनका एक संक्षिप्त विवरण भी दे दिया है। अनदेखी पुस्तकों के नाम जिस मूल से प्राप्त हुए हैं उनका उल्लेख कोष्ठक में पुस्तक के सामने कर दिया गया है।

---

१. इ० रे० ए० : ११वाँ जिल्द, पृ० ८३४।

१. अमनस्क—एक प्रति बड़ौदा लाइब्रेरी में है। गो० सि० सं० में बहुत से वचन उद्धृत हैं।

२ अमरौघशासनम्—श्री मन्महामाहेश्वराचार्य श्री सिद्ध गोरक्षनाथ विरचितम् यह पुस्तक काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि (ग्रंथाङ्क २०) में प्रकाशित हुई है। महामहोपाध्याय पं० मुकुन्दराम शास्त्री ने इसका संपादन किया है। यद्यपि यह पुस्तक सन् १९१८ ई० में ही छप गई थी, परन्तु आश्चर्य यह है कि गोरक्षनाथी साहित्य के अध्ययन करने वालों ने इसकी कोई चर्चा नहीं की। यह पुस्तक बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें गोरक्षनाथ के सिद्धान्त का सूत्ररूप में संकलन है। यह पुस्तक हठयोग की साधना शैवागमों में सम्बन्ध और जोड़ती है। आगे इसके प्रतिपादित सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

३. अवधूतगीता—गो० सि० सं० पृ० ७५ में गोरक्षकृत कही गई है।

४. गोरक्षकल्प—(फर्कुहर, ब्रिग्स)

५. गोरक्षकौमुदी—(फर्कुहर, ब्रिग्स)

६. गोरक्षगीता—(फर्कुहर)

७. गोरक्षचिकित्सा—(आफेख्ट)

८. गोरक्षपञ्चय—(ब्रिग्स)

९. गोरक्ष पद्धति—दो सौ संस्कृत श्लोकों का संग्रह। बंबई से महीधर शर्मा की हिंदी टीका समेत छपी है। इसका प्रथमशतक 'गोरक्षशतक' नाम से कई बार छप चुका है। इसी का नाम 'गोरक्षज्ञान' भी है। दूसरे शतक का नाम योगशास्त्र भी बताया गया है।

१०. गोरक्ष शतक—ऊपर नं० ७ का प्रथम शतक। इसकी एक प्रति पूना से छपी मिली है। ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक में इसको रोमन अक्षरों में छापा है और उसका अंग्रेजी अनुवाद भी दिया है। इनके मत से यह पुस्तक गोरक्षनाथ का सच्ची रचना जान पड़ती है। डाक्टर प्रबोधचंद्र बागची ने 'कौलावलि निर्णय' की भूमिका में नेपाल दरबार लाइब्रेरी के एक हस्तलिखित ग्रंथ का ब्योरा दिया है। नेपाल वाली पुस्तक छपी हुई पुस्तकों से भिन्न नहीं है।

इस पर दो टीकाएँ हुई हैं। एक शंकर पंडित की और दूसरी मथुरानाथ शुक्ल की। दूसरी टीका का नाम टिप्पण है (ब्रिग्स)। इसी पुस्तक के दो और नाम भी प्रचलित हैं, (१) 'ज्ञानप्रकाश' और (२) 'ज्ञानप्रकाश शतक' (आफेख्ट)।

११. गोरक्षशास्त्र—दे० नं० ९

१२. गोरक्ष संहिता—प्रायः सभी सूचियों में इस पुस्तक का नाम आता है। पं० प्रसन्नकुमार कविरत्न ने इस पुस्तक को स १८९७ में छपाया था। परन्तु अब यह पुस्तक खोजे नहीं मिलती। डा० बागची ने 'कौलावलि निर्णय' की भूमिका में नेपाल दरबार लाइब्रेरी में पाई गई प्रति में से कुछ अंश उद्धृत किया है। पुस्तक के कितने ही

श्लोक हू-बहू मत्स्येन्द्रनाथ के 'अकुलवीर तंत्र' नामक ग्रंथ से मिल जाते हैं और दोनों का प्रतिपादन भी एक ही है। इस प्रकार यह पुस्तक काफी महत्वपूर्ण है।

१३. चतुरशीत्यासन—(आफेख्ट)

१४. ज्ञानप्रकाशशतक—(दे० नं० १०)

१५. ज्ञानशतक—(दे० १०)

१६. ज्ञानामृतयोग—(आफेख्ट)

१७. नाड़ीज्ञानप्रदीपिका—(आफेख्ट)

१८. महार्थमंजरी—यह पुस्तक काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि (नं० ११) में छपी है। यह किसी महेश्वरानंद नाथ की लिखी हुई है। काश्मीरी परंपरा के अनुसार ये गोरक्षनाथ ही हैं। पुस्तक म० म० पं० मुकुन्दराम शास्त्री ने संपादित की है। इस पर भी लिखा है—'गोरक्षापर पर्याय श्रीमन्महेश्वरानंदाचार्य विरचिता'। पुस्तक की भाषा काश्मीरी अपभ्रंश है परन्तु ग्रन्थकार ने स्वयं परिमल नामक टीका लिखी है। विषय ३६ तत्वों की व्याख्या है। नाना दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

१९. योगचिन्तामणि— (आफेख्ट)

२०. योगमार्तण्ड—(,,)

२१. योगबीज—गो० सि० सं० में अनेक वचन उद्धृत हैं

२२. योगशास्त्र—(दे० नं० ७)

२३. योगसिद्धासनपद्धति—(आफेख्ट)

२४. विवेकमार्तण्ड—इस पुस्तक के कुछ वचन 'गोरक्ष सिद्धांत संग्रह' में हैं। उसके श्लोक 'गोरक्ष शतक' में पाए जाते हैं। इसलिये यद्यपि इसे रामेश्वर भट्ट का बताया गया है तो भी आफेख्ट के अनुसार इसे गोरक्षकृत ही मानना उचित जान पड़ता हैं।

२५. श्रीनाथसूत्र—गो० सि० सं० में कुछ वचन हैं।

२६. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति—ब्रिग्स ने नित्यानंद रचित कहा है पर अन्य सबने गोरक्षनाथ रचित बताया है। 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' में भी इसे नित्यनाथ विरचिता कहा गया है (पृ० ११)।

२७ हठयोग—(आफेख्ट)

२८ हठसंहिता—(,,)

इन पुस्तकों में अधिकांश के कर्ता स्वयं गोरक्षनाथ नहीं थे। साधारणतः उनके उपदेशों को नये-नये रूप में वचनबद्ध किया गया है। परन्तु १, २, ६, १२ और २६ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भी १ को मैंने देखा नहीं, केवल गोरक्ष-सिद्धांत में संग्रहीत वचनों से उसका परिचय पा सका हूँ। 'सिद्ध सिद्धांत पद्धति' को संक्षिप्त करके काशी के बलभद्र पंडित ने एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी जिसका नाम है 'सिद्ध-सिद्धांत संग्रह'। इसमें तथा गोरक्ष सिद्धांत संग्रह में जिसका नाम है 'सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह'। इसमें तथा गोरक्ष सिद्धांत में सिद्ध सिद्धांत पद्धति के अनेक श्लोक उद्धृत हैं। इन सबके

आधार पर गोरक्षनाथ के मत का प्रतिपादन किया जा सकता है। इस विषय में गोरक्ष सिद्धांत संग्रह बहुत ही उपयोगी पुस्तक है।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त हिन्दी में भी गोरक्षनाथ की कई पुस्तकें पाई जाती हैं। इनका संपादन बड़े परिश्रम और बड़ी योग्यता के साथ स्वर्गीय डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने किया है। यह ग्रंथ 'गोरखबानी' नाम से हिंदी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित हुआ है। दूसरा भाग अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ और अत्यन्त दुःख की बात है कि उसके प्रकाशित होने के पूर्व ही मेधावी ग्रंथकार ने इह लोक त्याग दिया। डॉ० बड़थ्वाल की खोज से निम्नलिखित चालीस पुस्तकों का पता चला है जिन्हें गोरखनाथ-रचित बताया जाता है;

१. सवदी	२१. नवग्रह
२. पद	२२. नवरात्र
३. सिष्या दरसन	२३. अष्ट पारछ्या
४. प्राण संकली	२४. रहरास
५. नरवै बोध	२५. ग्यान माला
६. आत्मबोध (१)	२६. आत्मबोध (२)
७. अभैमात्रा जोग	२७. व्रत
८. पंद्रहतिथि	२८. निरंजन पुराण
९. सप्तवार	२९. गोरखवचन
१०. मछीन्द्र गोरख बोध	३०. इन्द्रो देवता
११. रोमावली	३१. मूल गर्भावली
१२. ग्यान तिलक	३२. खाणी वाणी
१३. ग्यान चौंतीसा	३३. गोरख सत
१४. पंचमात्रा	३४. अष्टमुद्रा
१५. गोरख गणेश गोष्टी	३५. चौबीस सिधि
१६. गोरखदत्त गोष्टी (ग्यान दीपबोध)	३६. षडक्षरी
१७. महादेव गोरखगुष्टि	३७. पंचअग्नि
१८. सिष्ट पुरान	३८. अष्टचक्र
१९. दयाबोध	३९. अबलि सिलूक
२०. जाती भौंरावली (छंद गोरख)	४०. काफिर बोध

डा० बड़थ्वाल ने अनेक प्रतियों की जाँच करके इनमें प्रथम चौदह को तो निस्संदिग्ध रूप से प्राचीन माना क्योंकि इनका उल्लेख प्रायः सब में मिला। ग्यान चौंतीसा समय पर न मिल सकने के कारण इस संग्रह में प्रकाशित नहीं कराया जा सका परन्तु बाकी तेरह गोरखनाथ की बानी समझकर पुस्तक में संग्रहीत हुए हैं। १५ से १९ तक की प्रतियों को एक प्रति में सेवादास निरंजनी की रचना माना गया है। इसलिए संदेहास्पद समझकर संपादक ने उन्हें परिशिष्ट 'क' में छापा है। बाकी में कुछ गोरखनाथ की

स्तुति है। कुछ अन्य ग्रंथकारों के नाम भी हैं, काफिर बोध कबीरदास के नाम भी है इसलिए डा० बड़थ्वाल ने इस संग्रह में उन्हें स्थान नहीं दिया। केवल परिशिष्ट 'ख' में सप्तवार, नवग्रह, व्रत, पंचअग्नि, अष्टमुद्रा, चौबीस सिद्धि, बत्तीस लक्षन, अष्टचक्र; रहरसि को स्थान दिया है। 'अवलिसिलूक' और 'काफिर बोध' रतननाथ के लिखे हुए हैं। डा० बड़थ्वाल इन प्रतियों की आलोचना करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि 'सबदी' गोरख की सबसे प्रामाणिक रचना जान पड़ती है। परन्तु वह उतनी परिचित नहीं जितनी गोरखबोध।[1] गोरखबोध की सबसे पहले छपी हुई एक खण्डित प्रति कार्माईकेल लाइब्रेरी, काशी में है जो सन् १८११ में बाँस का फाटक बनारस से छपी थी। बाद में इसे जयपुर पुस्तकालय से संग्रह करके डा० मोहनसिंह ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ अपनी पुस्तक में प्रकाशित की है। डा० मोहनसिंह इस पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धांतों को बहुत प्रामाणिक मानते हैं। परन्तु मत्स्येंद्रनाथ के उपलब्ध ग्रंथों के आलोक में डाक्टर मोहनसिंह का मत बहुत ग्रहणीय नहीं लगता। डाक्टर बड़थ्वाल ने इन पुस्तकों के रचयिता के बारे में विशेष रूप से लिखने का वादा किया था पर महाकाल ने उसे पूरा नहीं होने दिया। परन्तु अपने भावी मत का आभास उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में दे रखा है : 'नाथपरंपरा में इनके कर्ता प्रसिद्ध गोरखनाथ से भिन्न नहीं समझे जाते। मैं अधिक संभव समझता हूँ कि गोरखनाथ विक्रम की ११वीं शती में हुए। ये रचनाएँ जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसमें भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे कहा जा सकता है कि संभवतः इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती ही में हुआ हो।[2]

आगे इस उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम गोरक्षनाथ के उपदेशों का सार संकलन कर रहे हैं।[3]

---

१. गोरखबानी : भूमिका, पृ० १८-१९।

२. गोरखबानी : भूमिका, पृ० २०।

३. उपरिलिखित ग्रंथों के अतिरिक्त शिवानन्द सरस्वती का 'योग चिंतामणि,' रामेश्वर भट्ट का 'विवेक मार्तण्ड योग', सुन्दरदेव की 'हठ संकेत चन्द्रिका,' स्वात्माराम की 'हठयोग प्रदीपिका' और उस पर रामानन्द तीर्थ की टीका और उमापति का टिप्पण, ब्रह्मानन्द की 'ज्योत्स्ना', चण्ड कापालिक की 'हठरत्नावली', शिव का 'हठयोग धीराय' और उस पर रामानन्द तीर्थ की टीका, वामदेव का 'हठयोग विवेक', सदानन्द का 'ज्ञानामृत' टिप्पणी, कण्डारभैरव का 'ज्ञान योग खंड', सुन्दरदेव की संकेत चन्द्रिका, घेरण्ड संहिता, शिव संहिता, निरंजन पुराण इत्यादि ग्रन्थ इस मार्ग के सिद्धान्त और साधनपद्धति के अध्ययन में सहाय हैं।

९

पिण्ड और ब्रह्माण्ड

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतारित कौलज्ञान की आलोचना के प्रसंग में शैव सिद्धान्त के छत्तीस तत्त्वों का एक साधारण परिचय दिया जा चुका है। प्रलय काल में इन समस्त तत्त्वों को निःशेषभाव से आत्मसात् करके शक्ति परम शिव में तत्त्वरूपा होकर अवस्थान करती है। इसीलिये 'वामकेश्वरतन्त्र' में भगवती शक्ति को "कवलीकृतानिः शेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी" कहा गया है (४।५)।

इस अवस्था में शिव में कार्य-कारण का कर्तृत्व नहीं होता अर्थात् कार्य-कारण के चक्र के संचालन कर्म से विरत हो जाते हैं। वे कुल और अकुल के भेद से परे हो जाते हैं। और अव्यक्तावस्था में विराजमान रहते हैं। इसीलिये इस अवस्था में उन्हें शास्त्रकारगण 'स्वयं' कह कर स्मरण करते हैं।[1]

इस परम शिव को जब सृष्टि करने की इच्छी होती है तो इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें सगुण शिव कहा जाता है। पहले बताया जा चुका है कि यह इच्छा (=सिसृक्षा=सृष्टि करने की इच्छा) ही शक्ति है। अब इस अवस्था में परम शिव से एक ही साथ दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं—शिव और शक्ति। वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई स्फुरित होती है। (१) परम शिव की अवस्था-मात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्ती और प्रायः स्फुरित होने को उपक्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है। इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते हैं। शिव की इस अवस्था का नाम 'अपरं पद्म्' है। धीरे-धीरे शक्ति क्रमशः (२) स्फुरण की ओर उन्मुख होती है, फिर (३) स्पन्दित होती है, फिर (४) सूक्ष्म अहन्ता (=मैं-पन अर्थात् अलगाव का भाव) से युक्त होती है और अन्त में (५) चेतनशीला होकर अपने अलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएं क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा

---

१. कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम।
अव्यक्तं परम तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत॥

—सि० वि० सं० १।४।

और कुण्डली कही जाती हैं।[1] इन अवस्थाओं में शिव भी क्रमशः परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध होते हैं।[2] इस प्रकार निखिलानन्दसन्दोह शिव पाँच अवस्थाओं से गुजरते हुए प्रथम तत्त्व परमात्मा या सगुण शिव के रूप में प्रकट होते हैं और शक्ति भी पाँच अवस्थाओं से अग्रसर होती हुई द्वितीय तत्त्व कुण्डली या कुण्डलिनी के रूप में प्रादुर्भूत हुई। यही कुण्डली समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है, इसी की इच्छा से, इसी की सहायता से, शिव इस विश्व प्रपञ्च की उत्पत्ति पालन और विलय में समर्थ होते हैं। यही परमात्मा और कुण्डली—शिव और शक्ति—प्रथम दो सूक्ष्मतम तत्त्व हैं। इन से ही अत्यन्त सूक्ष्म 'पर पिण्ड' की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार नीचे लिखी सारणी से शिव और शक्ति के स्फुरण का विकास स्पष्ट हो जायगा।

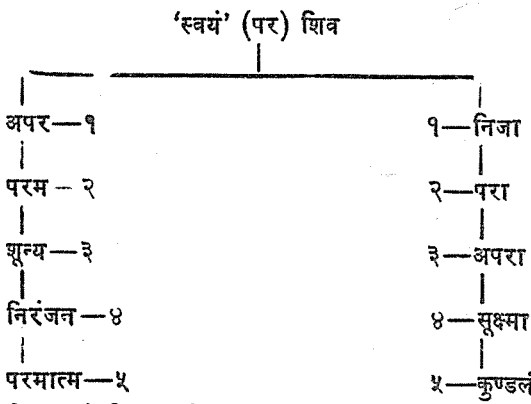

यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि वैदान्तिक लोग भी चित्स्वरूप ब्रह्म की शक्ति, जिसे वे लोग 'माया' कहते हैं; मानते हैं पर यहाँ शक्ति की जो कल्पना है यह वैदा-

---

१. निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे॥
—वही, १।१३

२. ततोऽस्मितापूर्वमचिर्मात्रं स्यादपरं परम्।
तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं परम्॥
स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम्।
तस्मात्ततः स्वसाक्षादभूः परमात्मपदं मतम्॥
—वही, १।१४-१५

न्तिक कल्पना से भिन्न हैं। यहाँ कुण्डली या शक्ति को 'चिच्छीला'[1] और चिद्रूपिणी माना गया है। यह चिच्छक्ति अनन्तरूपा और अनन्तशक्तिस्वरूपा है। जगत् इसी शक्ति का परिणाम है और यही शक्ति जगत् रूप में परिणत होती है। इसी की सहायता से परम शिव सृष्टि व्यापार के संभालने में समर्थ होते हैं और इसीलिये 'वामकेश्वरतंत्र' में स्वयं भगवान् शंकर ने ही कहा है कि हे परमेश्वरि, इस शक्ति से रहित होने पर शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं, इससे युक्त होकर ही वे कुछ करने में समर्थ होते हैं।[2]

इसके बाद कुण्डली अर्थात् समस्त विश्व में प्रव्याप्त शक्ति सृष्टिक्रम को अग्रसर करने के लिये क्रमशः स्थूलता की ओर अग्रसर होती है। इन तीनों तत्त्वों की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं जो इसके बाद क्रमशः स्फुरित होते हैं। ये हैं—सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या। सदाशिव अहं प्रधान है और ईश्वर इदं प्रधान, शुद्ध विद्या उभय प्रधान।[3] सृष्टि व्यापार को अग्रसर करने के लिये इस प्रकार अहन्ता की प्राप्ति पाँच अवस्थाओं के भीतर से होती है। इन अवस्थाओं को आनन्द कहते हैं। पाँच आनन्द हैं, परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहं। इन्हीं आनन्दों के भीतर से गुजरते हुए शिव क्रमशः 'जीव'—रूप की ओर अग्रसर होते हैं। 'सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह' में बताया गया है कि किस प्रकार पर-पिण्ड, से आद्य-पिण्ड, उससे साकार पिण्ड, उससे महासागार पिण्ड, उससे प्राकृत-पिण्ड और उसके भी अन्त में गर्भ-पिण्ड उत्पन्न होता है।[4] ये क्रमशः स्थूल से स्थूलतर होते जाते हैं। अन्तिम

---

१. चिच्छीला कुण्डलिन्यतः,—सि० सि० सं० १।६

२. परोहि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन।
शक्तस्तु परेमेशानि शक्त्या युक्तो यदा भवेत् ॥४।६॥

३. (१) अहन्तेदन्तालक्षणयोर्ज्ञानक्रिययोराद्योद्रेकात् उन्मीलितचित्रन्यायेन व्यक्ताव्यक्तविश्वमातृतास्वभावं सदाशिवाख्यंतत्त्वम्। एतद्विपर्ययेण क्रिया शक्तयौज्ज्वल्ये व्यक्ताकारविश्वानुसंधातृरूपम् ईश्वर तत्त्वम्।—महार्थ मञ्जरी, पृ० ४४।
(२) ज्ञातृत्वधर्मआत्मा ज्ञेयस्वभावश्च लोकव्यवहारः।
एकरसां संस्कृष्टि यत्र गतौ सा खलु विस्तुषा विद्या ॥—महार्थ मंजरी, पृ० ४६।

४. 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' में पच्चीस पच्चीस तत्त्वों में इस प्रकार पिण्डोत्पत्ति का क्रम दिया हुआ है :
(१) अव्यक्त परम तत्त्व की पाँच शक्तियाँ हैं जिसमें प्रत्येक के पाँच गुण हैं—
१. निजा—निराकृतित्व, नित्यत्व, निरन्तत्व, निष्पंदत्व, निरुत्थत्व।
२. परा—अस्तित्व, अप्रमेयत्व, अभिन्नत्व, अनन्तत्व, अव्यक्तत्व।
३. अपरा—स्फुरन्ता, स्फारता, स्फुरता, स्फोटता, स्फूर्ति।
४. सूक्ष्मा—नैरंतर्य वैरंश्य, नैश्चल्य, निश्चयत्व, निर्विकल्पत्व।

पिण्ड से यह स्थूलशरीर उत्पन्न हुआ है। 'सिद्ध सिद्धांत संग्रह' के प्रथमाध्याय की

---

५. कुण्डली—पूर्णत्व, प्रतिबिम्बत्व, प्रकृतिरूपत्व, प्रत्यङ्मुख औच्चत्य।

(१) परिपिण्ड के १५ तत्त्व

(२) क—पाँच पद और उनके गुण—

१. अपर—अकलत्व, असंशयत्व, अनुमतत्व, अन्यपारता, अमरत्व।

२. पर—निष्कल, अलोल, असंख्येन, अक्षय, अभिन्न।

३. शून्य—नीलता, पूर्णता, मूर्च्छा, उन्मनी, लयता।

४. निरञ्जन—सतज, सामरस्य, सत्यत्व, सावधानता, सर्वगत्व।

५. परमात्मपद—अभयत्व, अभेद्यत्व, अच्छेद्य, अनाश्य, अशोष्य।

(२) आद्य पिण्ड २५ तत्त्व

ख—पाँच आनन्द और उनके गुण—

१. परमानन्द—उदय, उल्लास, अवभास, विकाशन, प्रभा।

२. प्रबोध—निष्पंद, हर्ष, उन्माद, स्पंद, नित्यसुख।

३. चिदुदय—सद्भाव, विचार, कर्तृत्व, ज्ञातृत्व, स्वातंत्र्य।

४. प्रकाश—निर्विकार, निष्फलत्व, सद्बोध, समता, विश्रान्ति।

५. सोऽहम्—अहन्ता, खण्डितैश्वर्य, स्वानुभूति, साम्यर्थ्य, सर्वज्ञता।

(२) आद्य पिण्ड २५ तत्त्व

(३) क—पंच महातत्त्व और उनके अंशभूत तत्त्व।

१. महाकाश—अवकाश, छिद्र, अस्पृश्यत्व, रव, नीलवर्ण।

२. महानिल—संचार, चलन, स्पंद, शोषण, धूम्रता।

३. महातेज—दाहकत्व, पावकत्व, सूक्ष्मकत्व, रूपभासित्व, रक्तवर्ण।

४. महावारि—प्रवाह, आप्यायन, रस, द्रव श्वेतवर्ण।

५. महापृथ्वी—स्थूलता, नानाकृतिता, काठिन्य, गन्ध, पीतता।

(३) साकार पिण्ड २५ तत्त्व

ख—अष्टमूर्ति—

शिव-भैरव-श्रीकंठ-सदाशिव-ईश्वर-रुद्र-विष्णु-ब्रह्मा

महासाकार पिण्ड।

(४) तत्त्वांश—

पृथ्वी के—अस्थि, त्वक्, मांस, लोम, नाड़ी।

जल के—लाला, मूत्र, अष्टक्, स्वेद, शुक्र।

अग्नि के—क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, कांति।

वायु के—धावन, चलन, रोधन, प्रसारण, आकुञ्चन।

आकाश के—राग, द्वेष, भय, लज्जा, मोह।

(४) प्राकृत पिण्ड के २५ तत्त्व

पुष्पिका में लिखा है कि यह छः प्रकार की पिण्डोत्पत्ति है। परन्तु वस्तुतः उसमें

---

(५) क—अन्तःकरण के धर्म

१. मन—संकल्प, विकल्प, जड़ता, मूर्च्छना, मनन।
२, बुद्धि—विवेक, वैराग्य, परा, प्रशान्ति, क्षमा।
३. अहंकार—मान, समता, सुख, दुःख, मोह।
४. चित्त—मति, धृति, संस्मृति, उत्कृति स्वीकार।
५. चैतन्य—विमर्ष, हर्ष, धैर्य, चिन्तन, निःस्पृहता।

ख—कुल पञ्चक २५ तत्त्व

सत्व—दया, धर्म, क्रिया, भक्ति, श्रद्धा।
रजः—दान, भोग, शृंगार, स्वार्थ, ग्रहण।
तमः—मोह, प्रमाद, निद्रा, हिंसा, क्रूरता।
काल—विवाद, कलह, शोक, बन्ध, बंचन।
जीव—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य, तुरीयातीत।

२५ तत्त्व

ग—व्यक्ताख्य शक्ति के गुण

१. इच्छा—उन्मेष, वासना, वीप्सा, चिन्ता, चेष्टा।
२. कर्म—स्मृति, उद्यम, उद्वेग, कार्य, निश्चय।
३. माया—मद, मात्सर्य, कपट, कर्त्तव्य, असत्य।
४. प्रकृति—आशा, तृष्णा, कांक्षा, स्पृहा, मृषा।
५. वाक्—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, हृष्टाक्षरमातृका।

२५ गुण

घ—प्रत्यक्षकारी गुण

१. काम—रति, प्रीति, लीला, आतुरता, अभिलाषा।
२. कर्म—शुभ, अशुभ, कीर्ति, अकीर्ति, इच्छागत।
३. अग्नि—उल्लोल, कल्लोल, उच्चलत्व, उन्माद, विलेपन।
४. चन्द्र—स्रवन्तिका, नामवती, प्रवाहा, सौम्या, प्रसन्ना।
५. अर्क—तपिनी, ग्रसिनी, क्रूरा, कुञ्चनी, शोषणी, बोधनी; धस्मरा, कर्षिणी, अर्थतुष्टिवर्धिनी, ऊर्मिरेखाकिरणिनी, प्रभावती।

(६) दशद्वार, ७२ हजार नाड़ियाँ, पंच प्राण, नौ चक्र, सोलह आधार आदि का गर्भपिण्ड।

क—दशद्वार—मुख कर्ण (दो), नासिका (दो), चक्षु (दो), वायु, उपस्थ और ब्रह्मरंध्र।

ख—प्रधान दस नाड़ियाँ—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, शंखिनी पूषा, अलम्बुषा, पयस्विनी और कुहू।

ग-घ—चक्र और आधार का विचार आगे किया गया है।

कई प्रकार की पिण्डोत्पत्ति दी हुई है। यह विचारणीय ही रह जाता है कि ये छः पिंड वस्तुतः क्या है। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराज ने 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' की भूमिका में लिखा है कि ये छः पिण्ड इस प्रकार के हैं—

१. पर या आद्य-पिण्ड
२. साकार-पिण्ड
३. महासाकार-पिण्ड
४. प्राकृत-पिण्ड
५. अवलोकन-पिण्ड
६. गर्भ-पिण्ड

'सिद्ध सिद्धांत पद्धति' के आधार पर सं० १८८१ वि० में मारवाड़-नरेश महाराणा मानसिंह के राज्यकाल में २४ चित्र बनवाये गये थे। ये चित्र "देशी कागज की बनी करीब ४ फुट, लम्बी, १$\frac{1}{2}$ फुट चौड़ी और $\frac{2}{3}$० इंच मोटी दफ्ती पर बने हैं" और आज से सवा सौ वर्ष पहले के राजपूत कलम के उत्तम नमूने हैं। ये जोधपुर के राजकीय सरदार म्यूजियम में सुरक्षित हैं। सन् १९३५ ई० में पंडित विश्वेश्वरनाथ जी रेउ ने इन चित्रों का विवरण एक छोटी सी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कराया था। हम जिस बात की चर्चा यहाँ कर रहे हैं वह इन चित्रों के द्वारा अधिक स्पष्ट होगी, इस आशा से यहाँ उक्त विवरणपुस्तिका के कुछ चित्रों के परिचयों का संकलन किया जा रहा है। यह स्मरण रखना चाहिए 'सिद्ध सिद्धांत संग्रह' वस्तुतः इस पुस्तक का ही संक्षिप्त रूप है। मूलग्रंथ 'सिद्ध सिद्धांत पद्धति' ही है।

दूसरा चित्र त्रिगुणात्मक आदि पिंड का बताया गया है। इसका विवरण इस प्रकार दिया हुआ है—

(२) त्रिगुणात्मक आदि-पिण्ड। आदि पिण्ड से (नील वर्ण) महा आकाश का, महा आकाश से (धूम्रवर्ण) महावायु का, महा-वायु से (रक्तवर्ण) महातेज का, महा-तेज से (श्वेतवर्ण) महासलिल (जल) का और उससे (पीतवर्ण) महापृथ्वी का उत्पन्न होना। इन पंचमहा-तत्त्वों से महासाकार पिण्ड का और उससे (१) शिव का उत्पन्न होना। इसी प्रकार आगे शिव से, (२) भैरव का, भैरव से, (३) श्रीकण्ठ का श्रीकण्ठ से, (४) सदाशिव का, सदाशिव से, (५) ईश्वर का, ईश्वर से, (६) रुद्र का, रुद्र से, (७) विष्णु का, और विष्णु से, (८) ब्रह्मा का उत्पन्न होना। फिर ब्रह्मा से नर-नारी रूप, (९) प्रकृति पिण्ड का उत्पन्न होना।

तीसरे चित्र का विवरण इस प्रकार है—

(३) नर नारी के संयोग से स्त्री और पुरुष की उत्पत्ति। पिण्ड का रूप। 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' से और 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' के आधार पर बने हुए इन चित्रों के विवरण से ऐसा जान पड़ता है कि प्रथम पिण्ड-पर-पिण्ड है जो त्रिगुणातीत है और आदि या आद्य-पिण्ड वस्तुतः उसके बाद की अवस्था का नाम है। फिर साकार पिण्ड और महासाकार पिण्ड भी अलग-अलग नहीं जान पड़ते। साकार पिण्ड को ही

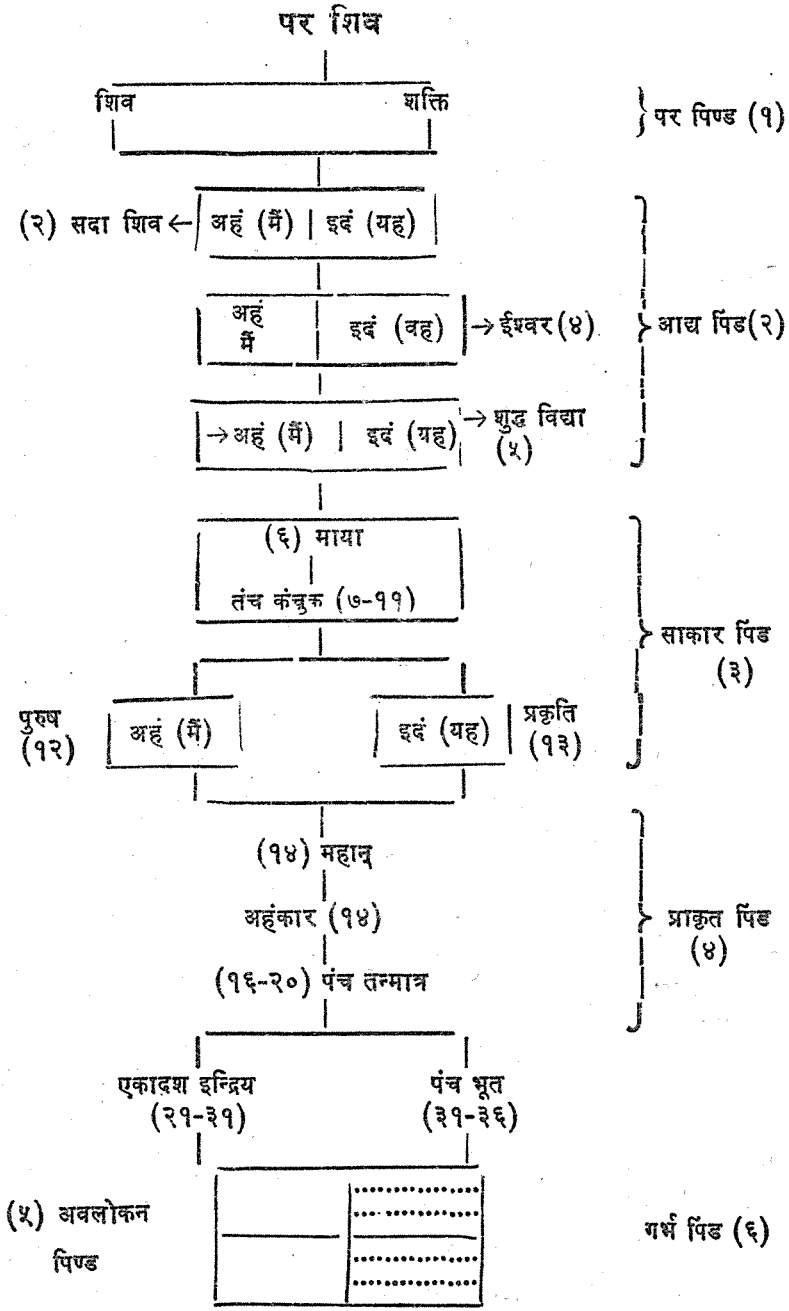
पर शिव
शिव
शक्ति
पर पिण्ड (१)
(२) सदा शिव ← अहं (मैं) | इदं (यह)
अहं मैं
इदं (वह)
→ ईश्वर (४)
आद्य पिंड (२)
→ अहं (मैं) | इदं (यह)
→ शुद्ध विद्या (५)
(६) माया
तंच कंचुक (७-११)
साकार पिंड (३)
पुरुष (१२)
अहं (मैं)
इदं (यह)
प्रकृति (१३)
(१४) महान्
अहंकार (१४)
(१६-२०) पंच तन्मात्र
प्राकृत पिंड (४)
एकादश इन्द्रिय (२१-३१)
पंच भूत (३१-३६)
(५) अवलोकन पिण्ड
गर्भ पिंड (६)

ग्रंथकार और महासाकार पिण्ड कहा है। यदि यह वाद ठीक है तो छः मुख्य पिण्ड इस प्रकार हो सकते हैं—

(१) पर-पिण्ड
(२) आद्य-पिण्ड
(३) साकार या महासाकार-पिण्ड
(४) प्राकृत पिण्ड
(५) अवलोकन-पिण्ड
(६) गर्भ-पिण्ड

इन पिण्डों में पर-पिण्ड तो शिव और शक्ति के संयोग से उत्पन्न है। परवर्ती तीन तत्त्वों से आद्य-पिण्ड और माया और पंच कंचुकों से आच्छादित अहन्ता-प्रधान पुरुष और इदन्ताप्रधान[1] प्रकृति तक साकार तत्त्व है। महत्व से पंचतन्मात्र तक प्राकृत पिण्ड और एकादश इन्द्रियों का अवलोकन पिण्ड है। फिर गर्भोत्पन्न यह पंच भूतात्मक स्थूल शरीर गर्भ पिण्ड है। इस प्रकार ३६ तत्वों के स्फुरण में इस पिण्डोत्पत्ति का सामंजस्य किया गया है।

अब यह स्पष्ट है कि पर शिव ही अपनी सिसृक्षा रूपा शक्ति के कारण जगत् के रूप में बदल गए हैं। संसार में जो कुछ भी पिण्ड है वह वस्तुतः उसी प्रक्रिया में से गुजरता हुआ बना है जिस अवस्था में से यह समूचा ब्रह्माण्ड बना है। सब में वही तत्त्व ज्यों के त्यों हैं। परन्तु सत्व, रज, तम, काल और जीव (अर्थात् प्राण शक्ति) की अधिकता और न्यूनता के कारण उनमें भेद प्रतीत हो रहा है। विकास की इन विभिन्न अवस्थाओं को असत्य नहीं समझना चाहिए। वे सभी सत्य हैं। जितनी नाड़ियां या द्वार या आधार मनुष्य में है उतना ही समस्त ब्रह्माण्ड में और उतना ही ब्रह्माण्ड में प्रत्येक परमाणु में हैं। भेद यही है कि सत्व, रज, तम काल और जीव के आधिक्य और न्यूनत्व वश वे कहीं अविकसित हैं, कहीं अर्ध विकसित हैं, कहीं पूर्ण विकसित हैं। इसीलिये गोरक्षमत में प्रथम सिद्धान्त यह है कि जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है वह सभी पिण्ड में है।[2] पिण्ड, मानो ब्रह्मांड का संक्षिप्त संस्करण है। गोरक्षनाथ का योग-मार्ग साधनापरक मार्ग है इसलिये केवल व्यावहारिक बातों का ही विस्तार

---

१. 'अहं' और 'इदं' संस्कृति में क्रमशः 'मैं' और 'यह' के वाचक हैं। अहन्ता का अर्थ है 'मैं-पन' और इदन्ता का अर्थ है 'यह-पन'। पुरुष में 'अहन्ता' की प्रधानता होती है अर्थात् उसमें 'चेतन मैं हूँ' यह भाव-प्रधान होता है। प्रकृति में 'इदन्ता' की प्रधानता होती है। अर्थात् पुरुष उसे चेतन से भिन्न 'इदं' (वह) के रूप में समझता है।

२. ब्रह्माण्डवर्ति यत् किन्चित,
तत पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा।
—सि० सि० सं० ३।२।

उसमें दिया हुआ है। मनुष्य शरीर को ही प्रधान पिण्ड मानकर इसकी व्याख्या की गई है। बताया गया है[१] कि मनुष्य के किस-किस अंग में ब्रह्मांड का कौन-कौन सा अंश है। पाताल कहाँ है। साधनामार्ग के तीर्थस्थान कहाँ हैं, गंधर्व, यक्ष, उरग, किन्नर भूत, पिशाच आदि के स्थान कहाँ हैं। अनुसंधित्सु पाठक मूल ग्रन्थों में उसका विस्तार खोज सकते हैं।

स्पष्ट ही, इस शरीर में सबसे प्रधान कार्यकारिणी शक्ति कुण्डली है। यह विश्व-ब्रह्मांड में प्रव्याप्त महाकुण्डलिनी का ही पिण्डगत स्वरूप है। यह लक्ष्य करने की बात है कि पर पिण्ड को ही प्रथम या आद्य पिण्ड नहीं कहा गया है। नाथ मार्ग अद्वैतवादी है परन्तु शांकर वेदान्त से अपना भेद बताने के लिये ये लोग अपने को द्वैताद्वैत विलक्षण वादी कहते हैं![२] नाथ तत्व और अद्वैत दोनों से परे हैं।[३] आद्य या प्रथम कहने से वह संख्या द्वारा सूचित किया जाता है और संख्या भी एक उपाधि है, इसलिये पर तत्व को '१' संख्या द्वारा भी सूचित नहीं किया जा सकता। वह उससे भी अतीत अखण्ड ज्ञानरूपी निरंजन है[४]—शून्य है।[४] वह निष्क्रिय और क्रिया ब्रह्म दोनों से अतीत अवाच्य पद हैं। इसीलिए उसकी आद्य-संज्ञा नहीं हो सकती। पहला पिण्ड भी इसी-लिये 'पर-पिण्ड' कहा जाता है, आद्य-पिण्ड नहीं।[५] जगत् का प्रपञ्च शक्ति के स्फोट के बाद शुरू होता है इसलिये शक्ति ही असल में जगत्कर्त्री है शिव नहीं। शिव केवल ज्ञेय है।

प्रश्न हो सकता है कि सृष्टि का आदि कर्तृत्व तो शिव का है, शक्ति तो उसकी निर्वाहिका मात्र है। उसी को प्रधानकर्त्री और उपास्य क्यों माना जाय? जगत

---

१. देखिए सि० सि० सं० तृतीयोपदेश।

२. यदि ब्रह्माद्वैतमस्ति तर्हि द्वैतं कुत आगतम्? यदा माया कल्पितमिति वदेयुस्तर्हि तान् वदन्तो वयमवाचोऽक्रियांश्चमर्म तत् किमिति चेदुच्यते। अद्वैतं तु निष्क्रिया-दित्याग्यस्ति। यतः कस्यापि वस्तुनो भोगोऽपि युष्माभिर्न कर्तव्य-इत्याद्यनेक-विधिभिरद्वैतखण्डनं-करिष्यामः। महासिद्धैरुक्तं यदद्वैताद्वैतविवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यते तदेवसम्यगित्यभ्युपगमिष्यामः। —गो० सि० सं० पृ० १६।

३. अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैत विलक्षणम्।
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥
—गो० सि० सं० (पृ० ११) में अवधूत गीता वचन

४. निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पुरुषः।
तदाविवक्षतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः। —शिव-संहिता १-६८॥

५. खसमं असमं शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम्।
अचिन्त्यचित्तकं चैव सर्वभावस्वभावकम्।

के मुख्य कर्ता और नियन्ता तो शिव ही हुए, शक्ति तो उनकी सहायिका भर ही है, फिर इस सहायिका को उपास्य क्यों माना जाय ? रामेश्वर भट्ट ने 'परशुराम कल्प-सूत्र' ६।१ की टीका में इस प्रश्न का उत्तर दिया है। इस उत्तर का सारमर्म यह है कि क्षिति आदि कार्यों का कोई न कोई कारण होना चाहिए, कारण के बिना ये उत्पन्न नहीं हो सकते। इस अनुपपत्ति को दूर करने के लिये ही शिव और शक्ति की कल्पना है। वेदान्ती लोग भी ब्रह्म की एक शक्ति स्वीकार करते हैं। चित्स्वरूप ब्रह्म का धर्म भी चित्स्वरूप ही होना उचित है। वेदान्ती लोग ऐसा नहीं मान कर गलती करते हैं। वे विद्रूप ब्रह्म की शक्ति माया को जड़स्वभावा मानते हैं। यही माया जगत् का उपादान है। इसलिये यह समूचा जगत् जड़ है। शाक्त आगमों में यह बात नहीं मानी गई। धर्मी और धर्म में अभेद होता है इसलिये चेतन ब्रह्म की शक्ति भी चेतन होगी। ब्रह्म धर्मी हैं, शक्ति उसका धर्म। फिर भी व्यवहार में धर्म और धर्मी में थोड़ा भेद मानना ही पड़ता है। इसीलिए धर्मी शिव और धर्म शक्ति अभिन्न होने पर भी व्यवहारानुरोध से भिन्नवत् मान लिये जाते हैं। शिव (परशिव) रूपातीत गुणातीत शून्य रूप निरालंब स्वभाव हैं इसीलिये उनका स्वरूप निर्धारण अशक्त है। उपासना के लिए यह 'पर शिव' उपयुक्त नहीं है। उनके स्वरूप से अभिन्न और फिर भी भिन्न रूपा शक्ति ही उपास्य हो सकती है। इस उपासना के द्वारा परमशिव के साथ शक्ति का (और इसीलिये समस्त जगत् प्रपंच का) अभेद ज्ञान ही साधक का चरम लक्ष्य है। यह कहना ठीक नहीं कि कर्तृत्व और निर्वाहकत्व दोनों ही चित् में ही अवस्थित हैं अतः चित्स्वरूप शिव से भिन्न शक्ति को स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। क्या श्रुति-स्मृति और क्या लोक व्यवहार, सर्वत्र शक्ति को स्वीकार किया गया है। गोपवधू से लेकर सुपंडित ब्राह्मण तक सभी यह कहते हैं कि यह कार्य करने की 'शक्ति' मुझ में है या नहीं है। इस प्रकार शक्ति की कल्पना केवल कल्पना नहीं है, वह तथ्य है। शिव-कुक्षि में वर्तमान यह जगत् भी वस्तुतः शक्ति द्वारा ही निर्वाह्य है।[1]

इस शक्ति की उपासना के लिए दूर भटकने की जरूरत नहीं है। प्रत्येक पिण्ड में, प्रत्येक अणु-परमाणु में वह शक्ति विद्यमान है। जगत् का प्रत्येक प्राणी इसे इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूप में अनुभव करता है। ब्रह्माण्ड के रग-रग में प्रव्याप्त यह शक्ति मानव देह में कुण्डलिनी रूप में स्थित है। नाथमार्गी साधक इस शक्ति की उपासना का प्रधान साधक पिण्ड अर्थात् काया को ही मानता है! वैसे तो सभी प्राणी अप्राणी शक्ति के आवास हैं किन्तु केवल शक्ति का संचालन ही लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य रूप सहज समाधि। समस्त प्राणियों में सर्वाधिक सत्त्वगुणी मनुष्य है। मनुष्य का शरीर योग सिद्धि का उत्तम साधन है। परन्तु इसको पाने मात्र से योगसिद्धि नहीं होती। इसको समझना चाहिए। इसलिए गोरक्षनाथ ने कहा है कि जो योग-सिद्धि का अभिलाषी यही नहीं जानता कि उसके शरीर में छः चक्र क्या और

---

१. को० मा० र० : पृ० १८८-१९० ।

कहाँ हैं; षोड़श आधार कौन कौन हैं, दो लक्ष्य क्या हैं,··· पाँच व्योम क्या वस्तु है वह कैसे सिद्धि पा सकता ? फिर एक खंभे वाले, नौ दरवाजों वाले और पाँच मालिकों के द्वारा अधिकृत इस शरीर रूपी घर को जो नहीं जानता उससे योग की सिद्धि की क्या आशा हो सकती है ?[1] इनको जाने बिना मोक्ष कहाँ मिल सकता है। आश्चर्य है दुनिया के लोगों की मूर्खता पर ! कोई शुभाशुभ कर्म के अनुष्ठान से मोक्ष चाहता है, कोई वेदपाठ से, कोई (बौद्ध लोग) निरालंबन को बहुमान देते हैं, कोई ध्यान-कला-करण-सम्बन्ध-प्रयोग से उत्पन्न रूप-बिंदु-नाद-चैतन्य-पिण्ड-आकाश को मोक्ष कहते हैं।[2] कोई पूजा पूजक मद्य-मांस, सुरतादि से उत्पन्न आनन्द को मोक्ष कहते हैं, कोई मूलकंद से उल्लसित कुण्डलिनी के संचार को ही मोक्ष कहते हैं और कोई समदृष्टि निपात को ही मोक्ष कहते हैं। परन्तु ये सभी असल में मोक्ष नहीं हैं। जब सहजसमाधि के द्वारा मन से ही मन को देखा जाता है, तब जो अवस्था होती है असल में वही मोक्ष है।[2] यह सहजसमाधि क्या है ? इस बात को समझने के पहले पातंजल-विहित योग-मार्ग को समझना आवश्यक है।

नाथमार्ग के परवर्ती ग्रंथों में कुण्डलिनी की कोई चर्चा नहीं आती। 'मछिन्द्र-गोरख बोध' में गोरखनाथ के प्रश्नों का उत्तर मत्स्येन्द्रनाथ ने दिया है। इस प्रश्नोत्तरी में कुण्डली या कुण्डलिनी के विषय में न तो कोई प्रश्न है न उत्तर। अनेक ग्रंथों में हठयोग को कुण्डलीयोग से भिन्न बताया गया है। फिर भी संस्कृत में प्राप्त गोरक्ष-लिखित मानी जाने वाली प्रायः सभी पुस्तकों में कुण्डलिनी शक्ति के उद्‌बोधन की चर्चा है। 'अमरौधशासन' का जो वचन ऊपर उद्धृत किया गया है उससे भी मालूम होता है कि गोरक्षनाथ कुण्डलिनी-वाद के विरोधी थे। पर 'अमरौध शासन' में प्राणायाम का परिणाम कुण्डलिनी का उद्‌बोधन बताया गया है, यह हम आगे देखेंगे (११

---

१. षटचक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः॥
एक स्तंभं नवद्वारं गुहं पञ्चाधिदैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः॥

—गोरक्ष शतक १३-१४

२. अहो मूर्खता लोकस्य। केचिद्वदन्ति शुभाशुभकर्मविच्छेदनं मोक्षः, केचिद् वदन्ति वेदपाठाश्रितो मोक्षा केचिद वदन्ति निरालम्बतलक्षणो मोक्षः, केचिद् वदन्ति ध्यान-कलाकरणसंबद्धप्रयोगसंभवेन। रूपविन्दुनादचैतन्य पिण्डकाशलक्षणो मोक्षः केचिद्वदन्ति पूजा-पूजक-मद्य मांसादि सुरत-प्रसंगानंदलक्षणो मोक्षः, केचिद् वदन्ति मूलकन्दोल्लसितकुण्डलोसंचारलक्षणो मोक्षः। केचिद् वदन्ति सुसमदृष्टि निपात लक्षणो मोक्षः। इत्येवंविध भावनाश्रित लक्षणो मोक्षो न भवति। अथ मोक्षपदं कथ्यते—यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः।

—अमरौध शासनम्, पृ० ८-९

वाँ अध्याय)। हिन्दी में गोरखपंथ का जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें कुण्डली-उद्‌बोधन का कोई प्रसंग नहीं मिलता। संभवतः नाथमार्ग के परवर्ती अनुयायी इसे भूल गए थे या फिर यह भी हो सकता है कि संस्कृत की पुस्तकों में तंत्र मत का प्रभाव रह गया हो।

१०

पातंजल योग

अनादिकाल से इस देश में योगविद्या का प्रचार है। 'कठ' (६. ११; ६. १८); 'श्वेताश्वतर' (२. १ १; २.८) आदि पुरातन उपनिषदों में इस योगविद्या का उल्लेख है और परवर्ती उपनिषदों में से कई का तो मुख्य प्रतिपाद्य विषय ही योग है। आगे संक्षेप में इन परवर्ती उपनिषदों की चर्चा का सुयोग हमें मिल सकेगा। प्रसिद्ध है कि आदि पुरुष हिरण्यगर्भ ने ही पहले पहल मनुष्य जाति के उपकार के लिए इस विद्या का उपदेश किया था। 'योग दर्शन' के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि पतंजलि ने हिरण्यगर्भ द्वारा उपदिष्ट शास्त्र का ही पुनः प्रतिपादन किया था। इसीलिए योगि-याज्ञवल्क्य ने हिरण्यगर्भ को ही इस शास्त्र का आदि उपदेष्टा कहा है। (१. १. १६ परतत्त्व वैशारदी)। विश्वास किया जाता है कि पतंजलि मुनि शेषनाग के अवतार थे। उनका योगदर्शन 'पातंजलिदर्शन' के नाम से प्रख्यात है। इस दर्शन की अनेक महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ लिखी गई हैं जिनमें व्यास का भाष्य, विज्ञानु-भिक्षु का वार्तिक, वाचस्पति मिश्र की टीका, भोजदेव की वृत्ति और रामानन्द यति की 'मणिप्रभा' विशेष रूप से प्रसिद्ध और प्रचलित हैं। मूल 'पातंजल दर्शन' चार पादों (=चरण,) में विभक्त है। सारा ग्रन्थ सूत्र रूप में लिखा हुआ है और कुल सूत्रों की संख्या ११५ हैं। चार पादों के नाम उनमें प्रतिपादित विषय के अनुकूल हैं। नाम इस प्रकार हैं—

१. समाधिपाद, २. साधनपाद, ३. विभूतिपाद, ४. कैवल्यपाद।

पतंजलि मुनि ने चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा है (१. १. २) भाष्य-कार व्यास ने पाँच प्रकार के चित्त गिनाए हैं और बताया है कि इस प्रसंग में योग शब्द का अर्थ समाधि है। जब चित्त में रजोगुण का प्राबल्य होता है तो वह अस्थिर और बहिर्मुख हुआ रहता है और जब तमोगुण का प्राबल्य होता है तो वह विवेकशून्य हो जाता है, कार्य और अकार्य के विचार से वह हीन हो जाता है। प्रथम को (१) क्षिप्त चित्त कहते हैं और (२) द्वितीय को मूढ़। जब सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तो वह दुःख के साधनों को छोड़कर सुख के साधनों की ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार के चित्त को (३) विक्षिप्त कहते हैं। प्रथम दो तो योग के योग्य एकदम नहीं हैं,

तीसरा कदाचित स्थिर हो भी जाता है। किन्तु चित्त जब बाह्य विषयों से हटकर एकाकार वृत्ति धारण करता है तो उसे (४) एकाग्र कहते हैं। यह एकाकार वृत्ति भी जब अन्य संस्कारों के साथ-साथ लय हो जाती है तो उस चित्त को (५) निरुद्ध चित्त कहते हैं। इन पाँच प्रकार के चित्तों के चार परिणाम बताए गए हैं। क्षिप्त और मूढ़ में व्युत्थान, विक्षिप्त में समाधि-प्रारम्भ, एकाग्र में एकाग्रता और निरुद्ध में निरोध-लक्षण परिणाम उपयोगी होते हैं। समाधि के लिये अंतिम दो परिणाम बताए गए हैं। सभी प्रकार का निरोध योग नहीं है। प्रेम की अवस्था में क्रोध की और क्रोध की अवस्था में प्रेम की वृत्ति निरुद्ध होती है परन्तु इसे योग नहीं कह सकते। इसीलिये भाष्यकार व्यास ने बताया है कि योग शब्द से सूत्रकार का तात्पर्य उस प्रकार के निरोध से है जिसके होने से अविद्या आदि क्लेशराशि नष्ट होती है बुद्धि के लिए सात्विक निर्मल भाव की वृत्ति होती है और वह 'सहजावस्था' प्राप्त होती है। जो वास्तविक चित्तवृत्ति-निरोध है। सूत्रकार ने इस प्रकार के योग (या समाधि) को दो प्रकार का बताया है, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। चित्त की एकताग्रतावस्था में संप्रज्ञात समाधि होती है और पूर्ण निरोधावस्था में असंप्रज्ञात समाधि। संप्रज्ञाति समाधि में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध नहीं होता। बल्कि ध्येय रूप में अवलंबित विषय को, आश्रय करके चित्तवृत्ति उस समय भी वर्तमान रहती है परन्तु असंप्रज्ञात समाधि में सारी वृत्तियाँ निरुद्ध रहती हैं।

योगी को संप्रज्ञात समाधि के लिये तीन विषयों का अवलंबन करना होता है—(१) ग्रहीता, (२) ग्रहण और (३) ग्राह्य। ग्राह्य विषय दो प्रकार के होते है, स्थूल और सूक्ष्म; ग्रहण का अर्थ है इन्द्रिय और ग्रहीता ने बुद्धि और आत्मा के उस अविक्तिक भाव से तात्पर्य है जिसे 'अस्मिता' कहते हैं। तीरन्दाज जिस प्रकार स्थूल निशाने को साध कर क्रमशः सूक्ष्म निशाना साधने का अभ्यास करता है, उसी प्रकार योगी भी पहले स्थूल विषयों को और क्रमशः सूक्ष्म विषयों को ध्यान का आलंबन बनाता है। पहले वह (१) स्थूलग्राह्य अर्थात् पंचभूत फिर (२) सूक्ष्मग्राह्य अर्थात् पंचतन्त्रमात्र फिर (३) ग्रहण अर्थात् इन्द्रिय और फिर सबके अंत में (४) अस्मिता को अवलंबन करके एकाग्रता की साधना करता है। इस प्रकार के भिन्न जातीय अवलम्बनों के कारण सम्प्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की होती है जिसकी चर्चा आगे की जा रही है।

परन्तु इस प्रसंग में ध्यान में रखने की बात यह है कि परम्परा से यह विश्वास किया जाता रहा है कि सांख्य और योग का तत्त्ववाद एक ही है और यद्यपि योग-दर्शन के मूल सूत्रों से यह बात अब भी सिद्ध नहीं की जा सकी है तथापि व्याख्याकार लोग सांख्य के तत्त्ववाद को ही योग का तत्त्ववाद मानकर व्याख्या करते आये हैं। कभी-कभी दोनों मतों में पार्थक्य भी बताया गया है। सांख्य ईश्वर को नहीं मानता और योग दशन मानता है इसलिये योग को सेश्वरसांख्य कहा जाता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि ऐसे संप्रदाय भी हैं जो सांख्य के तत्त्ववाद को स्थूल मानते हैं और योग को भी दूसरे दृष्टिकोण से देखते हैं। जो हो, ऊपर जिस स्थूल सूक्ष्म, ग्राह्य और

ग्रहण का प्रसंग है, उसकी व्याख्या सब ने सांख्य के तत्त्ववाद के अनुकूल ही की है। संक्षेप में, इसीलिये उस तत्त्ववाद की यहाँ चर्चा कर लेना ही उचित है।

सांख्य के मत से पुरुष अनेक हैं और प्रकृति उन्हें अपने मायाजाल में फँसाती है। पुरुष विशुद्ध चेतन स्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक वह उसके जाल में फँसा रहता है। यह दृश्यमान् जगत् वस्तुतः प्रकृति का ही विकास है। प्रकृति, सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था का ही नाम है। सारे दृश्यमान जगत् को सांख्य शास्त्र प्रधानतः चार भागों में बाँटते हैं—(१) प्रकृति, (२) प्रकृति-विकृति, (३) विकृति और (४) न प्रकृति न विकृति। चौथा पुरुष है। वह न प्रकृति ही है और न उसका विकार ही (सांख्यकारिका ३)। बाकी तीन में प्रकृति तो अनादि ही है। पुरुष के साथ प्रकृति का जब संयोग होता है तो प्रकृति में विक्षोभ होता है, उसकी साम्यावस्था टूट जाती है, वह प्रकृति न होकर विकृति (= विकारशील) का रूप धारण करने लगती है। प्रकृति से महान् या बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है, उससे अहंकार और उससे पंचतन्मात्र (अर्थात् शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गंधतन्मात्र) उत्पन्न हुए हैं। एक तरफ तो महान् या बुद्धि-तत्त्व मूल प्रकृति का विकार है और दूसरी तरफ अहंकार की प्रकृति भी है। इसी प्रकार अहंकार और पंचतन्मात्र भी एक तरफ तो क्रमशः महान् और अहंकार के विकार हैं और दूसरी तरफ क्रमशः पंचतन्मात्र और पंचमहाभूतों की प्रकृति भी हैं। इसीलिय सांख्यशास्त्री इन्हें (अर्थात् महान् अहंकार और पंचतन्मात्र, इन सात तत्त्वों को) 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं। इनसे पाँच ज्ञानेन्द्रिय (कान, त्वचा, आँख, रसना और नाक), पाँच कर्मेन्द्रिय (हाथ, पाँव, जीभ, वायु और उपस्थ) ये दस इन्द्रिय मन और पाँच महाभूत (अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) उत्पन्न हुए हैं जो केवल विकृति हैं। इस प्रकार एक पुरुष, एक प्रकृति, सात प्रकृति-विकृतियाँ और १६ विकृतियाँ, कुल मिलाकर इन २५ तत्त्वों के प्रस्तार-विस्तार से यह सारी सृष्टि बनी है। योग में चित्त शब्द का व्यवहार अन्तःकरण के अर्थ में होता है। अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि और अहंकार। पुरुष (= आत्मा) स्वभावतः शुद्ध और निर्विकार है परन्तु अज्ञान के कारण अपने को चित्त से अभिन्न समझता है। किन्तु चित्त असल में प्रकृति का परिणाम होने के कारण जड़ है, चेतन पुरुष की छाया पड़ने के कारण ही वह चेतन की भाँति जान पड़ता है।

एकाग्रता के समय चित्त की अवस्था विशुद्ध स्फटिक मणि के समान होती है। स्फटिक के सामने जो वस्तु भी हो वही उसमें प्रतिबिंबित होकर उसे अपने ही आकार का बना देती है। इसी प्रकार एकग्रता की अवस्था में जो ध्येय वस्तु होती है वह चित्त में प्रतिबिंबित होकर चित्त को अपने ही तरह का बना देती है अर्थात् उस हालत में ध्येय वस्तु के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता चित्त में नहीं रहती। योगशास्त्र में इस प्रकार अवलंबित विषय के रूप में चित्त के अनुरंजित या प्रतिबिंबित होने को 'समापत्ति' कहा जाता है। यह समापत्ति केवल संप्रज्ञात समाधिनिष्ठ चित्त की स्वा-

भाविक अवस्था या धर्म है। इसी के भिन्न-भिन्न रूपों के अनुसार सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है:—(१) स्थूल विषयों के अवलंबन से सिद्ध एकाग्रता को 'सवितर्क' (२) कुछ अधिक सूक्ष्म तन्मात्र आदि को अवलंबन करके साधित एकाग्रता को 'सविचार', (३) उससे भी अधिक सूक्ष्म इन्द्रिय रूप विषय को अवलंबन करके जो एकाग्रता सिद्ध होती है उसे 'सानंद' और (४) बुद्धि के साथ आत्मा की अभिन्नता-रूप भ्रान्ति—जिसे अस्मिता कहते हैं—को अवलंबन करके जो एकाग्रता प्राप्त होती है उसे 'सास्मित' कहते हैं (१.१७)। इन चार प्रकार की अवस्थाओं में उस वस्तु के तत्त्व का ज्ञान होना आवश्यक है जिसे अवलंबन किया गया है या किया जा रहा है। एक तत्त्व-साक्षात्कार किए बिना परवर्ती अवस्था में उचकना निषिद्ध है।

समुद्र में जिस प्रकार तरंगें उठा करती हैं उसी प्रकार चित्त में असंख्य वृत्तियाँ उठा करती हैं। शास्त्रकार ने उन्हें पाँच मोटे विभागों में बाँट कर समझाया है—(१) प्रमाण, (२) विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), (३) विकल्प, (४) निद्रा और (५) स्मृति, ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ राग, द्वेष और मोह से अनुविद्ध होती हैं इसलिए क्लेशकर हैं। इसीलिए मुमुक्षु व्यक्ति को इनका निरोध करना चाहिए। अभ्यास और वैराग्य से यह बात संभव है। साधारण अवस्था में पुरुष (=आत्मा) का प्रकृत स्वरूप यद्यपि निर्विकार ही रहता है तथापि वह मोहवश अपने वास्तविक रूप से परिचित नहीं होता और 'वृत्तिसारूप्यता' को प्राप्त होता है। अर्थात् चित्त की जो वृत्ति जिस समय उपस्थित रहती है पुरुष उस समय उसी को अपना स्वरूप समझ लेता है। कोई भी विषय चाहे वह वाह्य हो या आन्तर, जब तक चित्तवृत्ति का विषय नहीं हो जाता तब तक पुरुष उसे ग्रहण नहीं कर सकता, और मुग्ध होने के कारण वह उन वृत्तियों से अपनी पृथक् सत्ता को अनुभव नहीं कर पाता। वैराग्य और दीर्घ अभ्यास के बाद वह अपने आपके स्वरूप को पहचानता है।

संप्रज्ञात समाधि में ध्येय-विषयक वृत्तियाँ चित्त में वर्तमान रहती हैं और बराबर ही अपने अनुरूप संस्कार-प्रवाह को उत्पन्न करती रहती हैं। असंप्रज्ञात समाधि में ऐसी कोई वृत्ति नहीं रहती। हृदय में पुनः-पुनः वैराग्य के अनुशीलन से समस्त चित्त-वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। भगवान ने गीता में कहा है कि यद्यपि चंचल मन का वश करना कठिन है तथापि अभ्यास वैराग्य से उसे वश में किया जा सकता है। दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष सुख और आनुश्रविक अर्थात् केवल शास्त्र से जाने जाने वाले स्वर्गादि सुख—इन दोनों प्रकार की भोगाभिलाषा की निवृत्ति को 'वैराग्य' कहते हैं। यह वैराग्य दो प्रकार का होता है—अपर वैराग्य और पर वैराग्य। अपर वैराग्य की चार सीढ़ियाँ हैं—(१) राग और द्वेषवश, जो इंद्रियचांचल्य होता है उसे रोकने की चेष्टा (यतमान संज्ञा) (२) राग और विराग के विषयों को अलग ठीक करना (व्यतिरेक संज्ञा), (३) इन्द्रिय निवृत्ति के बाद केवल मन द्वारा विषयों की चिन्ता (एकेन्द्रिय संज्ञा) और अन्त में (४) मानसिक उत्सुकता को भी वश में करना (वशीकार संज्ञा)। संप्रज्ञात समाधि तक तो इस प्रकार के वैराग्य से ही प्राप्त हो जाती है। किन्तु वैराग्य

की उत्कृष्ट अवस्था वह है (पर वैराग्य) जब द्रष्टा पुरुष, प्रकृति और बुद्धि आदि समस्त तत्त्वों से अपने को पृथक् समझ लेता है और समस्त त्रिगुणात्मक विषयों के उपभोग से वितृष्ण हो जाता है। इसी 'पर वैराग्य' के अनुशीलन से असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। यह समाधि चूंकि संप्रज्ञात समाधिकालीन ध्येय विषयक चिन्ता के विराम के कारण प्रत्यय (= वैराग्य) के पुनः पुनः अनुशीलन या अभ्यास से होती है इसलिए सूत्रकार ने इसे 'विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्व' कहा है। इसमें चित्तवृत्तियाँ तो निरुद्ध हो जाती हैं पर संस्कार फिर भी बच रहता है। बहुत दीर्घकाल तक बने रहने के बाद इन संस्कारों की कोई उद्बोधक सामग्री न मिलने से वे भी समाप्त हो जाते हैं। इसीलिए असंप्रज्ञात समाधि को निरोध समाधि और निर्जीव समाधि भी कहते हैं। ऐसे भी योगी हैं जो ज्ञान का सम्यक् उद्रेक न होने के कारण प्रकृति, महान् या अहंकार को ही आत्मा मानकर निरोध समाधि का अभ्यास करते हैं। उनकी समाधि को 'भवप्रत्यय' का नाम दिया गया है। इसमें भ्रान्ति बनी रहती है इससे इसमें कैवल्यज्ञान (अर्थात् पुरुष या आत्मा का केवल पुरुष रूप में ही अवस्थान रूप ज्ञान) नहीं होता। असंप्रज्ञात समाधि के उत्कृष्ट उपाय हैं श्रद्धा, वीर्य (उत्साह), स्मृत और योगांग। इन उपायों के द्वारा जो समाधि होती है वही 'उपाय प्रत्यय' कही गई है। इस असंप्रज्ञात समाधि की पूर्णता की अवस्था में द्रष्टा अर्थात् पुरुष (आत्मा) 'केवल' स्वरूप में अवस्थान करता है। यही कैवल्य प्राप्ति है।

सूत्रकार ने इस अवस्था की प्राप्ति के लिये एक और भी उपाय बताया है। ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर में मन लगाना (१-२३)। साधारण जीवों में जो पाँच प्रकार के क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) होते हैं; जो दो प्रकार के कर्म (धर्म और अधर्म) होते हैं; जो तीन प्रकार के विपाक (जन्म, आयु, और भोग) होते हैं और जो पूर्व तक संस्कार होते हैं (आशय) उनसे ईश्वर रहित है। वह सर्वज्ञ है और इसीलिए अन्यान्य पुरुषों से विशेष है। अर्थात् साधारण पुरुष अविद्यादि क्लेशों के अधीन हैं, जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए हैं, पाप, पुण्य (धर्म-अधर्म) के वशवर्ती हैं और पूर्व-संचित वासनाओं के दास हैं। ईश्वर इनसे भिन्न अनन्त ज्ञान का आकार, दोषहीन, क्लेशशून्य, नित्यशुद्ध और नित्यमुक्त हैं। इसी ईश्वर का वाचक शब्द प्रणव या ओंकार है। इसके नाम के जप और नामी (ईश्वर) की चिन्ता करने से साधक का चित्त एकाग्र होता है और उसे आत्म-साक्षात्कार भी प्राप्त होता है। फिर उसके विघ्न भी दूर होते हैं। योग साधक के अनेक विघ्न होते हैं। उसे व्याधि हो सकती है जिससे शरीर रुग्ण होकर मन पर भी असर डाल सकता है, उसके चित्त में अकर्मण्यता या जड़ता आ सकती है (स्त्यान), योग के विषय में सन्देह उपस्थित हो सकता है (संशय), प्रमाद और आलस्य हो सकते हैं, विषय भोग की तृष्णा पैदा हो सकती है (अविरति) विपरीत ज्ञान (भ्रान्तिदर्शन) हो सकता है, समाधि के अनुकूल चित्त की जो अवस्था होती है उसका अभाव हो सकता है (अलब्धभूमिकत्व), फिर ऐसा भी हो सकता है कि समाधि के अनुकूल अवस्था तो सुलभ हो गई पर मन

उस समय स्थिर नहीं हो सका। इन बातों से चित्त विक्षिप्त हो जाता है। ईश्वर प्रणिधान से इन विघ्नों की संभावना दूर हो जाती है। शास्त्रकार ने चित्त विशोधन के और भी कई उपाय बताये हैं, उनमें अभिमत वस्तु का ध्यान उल्लेख्य है (१.३९)। यहाँ तक सूत्रकार ने ज्ञान पर ही जार दिया है। इस 'पाद' या चरण में साधारण रूप से समाधि की बात ही होने के कारण उन्होंने इसका नाम 'समाधिपाद' दिया है।

दूसरे पाद का नाम है साधनपाद या क्रियायोग। क्रियायोग अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। इस क्रियायोग के दो उद्देश्य बताए गए हैं—समाधि-भावना और क्लेशों को क्षीण करना (क्लेशतनूकरण)। समाधि को हम पहले ही समझ आए हैं, क्लेश पाँच प्रकार के हैं, (१) अविद्या अर्थात् भ्रान्ति-ज्ञान-जो अनित्य है उसे नित्य समझना, जो जड़ है उसे चेतन समझना और जो अनात्मा है उसे आत्मा समझना; (२) अस्मिता अर्थात् अहंकार बुद्धि और आत्मा को एक ही मान लेना; (३) राग अर्थात् सुख और उसके साधनों की ओर खिचाव; (४) द्वेष अर्थात् दुख और दुःखजनक वस्तुओं के प्रति हिंसा वृत्ति और (५) अभिनिवेश अर्थात् नाना जन्मों के संस्कार वश मरणादि से त्रास। ये पाँचों क्लेश हैं पर अन्तिम चार की उत्पत्ति का कारण अविद्या ही है। ये अन्तिम चार प्रकार के क्लेश प्रसुप्त क्षीण विच्छिन्न या उदार अवस्थाओं में से किसी एक में ही एक समय रह सकते हैं। उदाहरणार्थ, शैशवावस्था में राग सुप्त रहता है, क्रोधावस्था में विच्छिन्न रहता है, रागविराधी विचारों के समय क्षीण रहता है और उपयुक्त अवसर पर प्रबुद्ध या उदार होकर रह सकता है। अब, ये चारों क्लेश जिस अवस्था में भी क्यों न हों उनका मूल कारण अविद्या या गलत ज्ञान ही है। क्रियायोग की सहायता से योगी इन क्लेशों को क्षीण करता है और क्रमशः आगे बढ़कर प्रसंख्यान अर्थात् ध्यान रूप अग्नि से उन्हें भस्म कर देता है। यह उद्देश्य सिद्ध हो जाने पर प्रथम उद्देश्य—समाधिभावना—सहज ही सिद्ध हो जाता है क्योंकि जितने भी कर्म आशय और विपाक हैं वे सभी क्लेश मूलक हैं और क्लेशों के, उच्छेद होने से उनका उच्छेद अपने आप हो जाता है।

योगदर्शन संपूर्ण शास्त्रार्थ को चार भागों में विभक्त करता है—हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय। दुःख और दुःखजनक पदार्थ हेय हैं और चूंकि अविद्या ही इस हेय वस्तु को जीव के सामने उपस्थित करती है और जीव गलती से उन्हें भोग्य और अपने को उनका भोक्ता समझ कर उलझ जाता है इसलिए यह जो भोग्य-भोक्ता-भाव रूप संयोग है वही हेय-हेतु है। स्पष्ट ही अविद्या के कारण यह संयोग संभव होता है, इसलिए वास्तविक हेयहेतु तो अविद्या ही है और विवेक ज्ञान ही इस हेयहेतु के ज्ञान का उपाय है क्योंकि उसी से आत्मा और अनात्मा का पार्थक्य ठीक-ठीक उपलब्ध होता है और अविद्या उच्छिन्न होती है। अविद्या के उच्छेद से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। यही हेय-हान है। यही योग का चरम लक्ष्य है, यही कैवल्य है।

जब तक विवेकख्याति नहीं हो जाती तब तक यागांगों के अनुष्ठान से चित्त को विशुद्ध करने का उपदेश शास्त्रकार ने दिया है। (२।२८) ये आठ हैं, यम,

नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, तथा धारणा, ध्यान और समाधि; प्रथम पाँच बाह्य हैं और अन्तिम तीन आन्तर। संक्षेप में इनका परिचय इस प्रकार है।

(१) यम, बाहरी और भीतरी इन्द्रियों के संयमन (वृत्त-संकोचन) को कहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (=चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (किसी से कुछ न लेना) ये पाँच यम हैं। इन यमों (=संयमों) की विपरीत क्रियाओं—हिंसा, असत्य, स्तेय, वीर्यक्षय, परिग्रह—को वितर्क कहते हैं इनका फल दुःख और अज्ञान है (२) वितर्कों के दमन और संयमों की उपलब्धि के लिए शास्त्रकार ने पाँच प्रकार के नियम बनाए हैं—शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। (३) योग साधन के लिए नाना प्रकार के आसन उपयोगी बताए गए हैं। आसन अर्थात् हाथ-पैर आदि का विशेष ढंग से सन्निवेश। परवर्ती योगग्रन्थों में आसनों की अनेक संख्यायें बताई गई हैं परन्तु 'पातंजल दर्शन' ने स्थिर और सुखकर आसन (२।४६) को ही योगसाधन का प्रकृष्ट उपाय बताया है। (४) श्वास को भीतर भरना (पूरक), उसे देर तक भीतर ही आबद्ध रखना (कुम्भक) और फिर बाहर निकालना (रेचक) प्राणायाम कहा जाता है। प्राण अर्थात् वायु के संयमन से मन का संयमन सहज होता है। (५) शब्दादि बाह्य व्यापारों से कान प्रभृति इन्द्रियों को हटा कर (प्रत्याहृत करके) पहले अन्तर्मुख करना होता है। उस अवस्था में बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का कोई सम्पर्क नहीं होने से चित्त का सम्पूर्ण रूप से अनुकरण करते हैं, इन्द्रियों की इस प्रकार की अवस्था का नाम ही 'प्रत्याहार' है। इससे इन्द्रियों को वश में करना संभव होता है।

इन पाँच योगांगों की चर्चा करने के बाद-सूत्रकार ने दूसरा पाद समाप्त कर दिया है। बाकी तीन योगांगों का वर्णन विभूतिपाद नामक तीसरे पाद में किया है। ये पाँच बहिरंग साधन हैं क्योंकि कार्य सिद्धि से इनका बाहरी संबंध है। परन्तु धारणा, ध्यान और समाधि नामक योगांग साक्षात्संबंध से कार्य सिद्धि के हेतु हैं, इसलिये अंतरंग साधन कहे गये हैं। इन गीतों को एक ही नाम 'संयम' दिया गया है। तीनों को एक ही साथ नाम देने का अभिप्राय यह है कि ये तीनों जब एक ही विषय को आश्रय करके होते हैं तभी योगांग होते हैं, अन्यथा नहीं। एक विषय की धारणा, दूसरे का ध्यान और तीसरे की समाधि को योग नहीं कह सकते। सो नाना विषयों में विक्षिप्त चित्त को बलपूर्वक किसी एक ही वस्तु (जैसे श्रीकृष्ण की मूर्ति) पर बाँधने को 'धारणा' कहते हैं; धरणा से चित्त जब कुछ स्थिर हो जाता है तो उस विषय की एकाकार चिन्ता (=प्रत्ययैकतानता) को 'ध्यान' कहते हैं (३.२) और यह ध्यान जब निरन्तर अभ्यास के कारण स्वरूप-शून्यता होकर ध्येय विषय के आकर में आभासित होता है (अर्थ-मात्र-निर्भासम्) तो समाधि कहा जाता है (३।३) प्रथम पाद में जिस संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि की चर्चा हुई है वह समाधि इससे भिन्न है। वह साध्य है, वह साधन है; वह फल है, यह उपाय है। उस स्थूल ग्राह्य, सूक्ष्म-ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता भेद से अवलम्बित समाधि की अवस्था में 'संयम' (ध्यान-

धारणा-समाधि) का विनियोग करना होता है। जहाँ तक संप्रज्ञात समाधि का संबंध हैं वही तक योग के आठ अंगों में से पाँच बहिरंग हैं और तीन अन्तरंग। असंप्रज्ञात समाधि के लिए तो आठों ही बहिरंग हैं। जब मनुष्य समाधि की दशा में नहीं होता, अर्थात् जब वह व्युत्थान दशा में होता है, तो उस समय दर्शन, श्रवण आदि के द्वारा जिन विषयों का अनुभव करता है वे स्वयं नष्ट होने के बाद भी अपना संस्कार छोड़ जाते हैं और इसीलिए वे संस्कार निरन्तर स्मृति उत्पन्न करते रहते हैं। व्युत्थान अवस्था की भाँति समाधि अवस्था में भी संस्कार रहते ही हैं। संप्रज्ञात समाधि की अवस्था में यद्यपि चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध रहती हैं तथापि संस्कार रहते हैं। चित्तवृत्तियों के निरोध से भी एक प्रकार का संस्कार पैदा होता है। व्युत्थान दशा वाले संस्कारों को 'व्युत्थानज' और निरोध दशा वाले संस्कारों को 'निरोधज' कहते हैं। इन दोनों का द्वन्द्व जारी रहता है; जो प्रबल होता है वही विजयी होता है। दीर्घ साधना के बाद साधक के निरोधज संस्कार प्रबल होकर व्युत्थानज संस्कारों को दबा पाते हैं। इस अवस्था को ग्रंथकार ने 'निरोध परिणाम' कहा है (३।९) यहाँ आकर योगी को नाना भाँति की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। स्वर्ग के देवता गण उसे नाना भाव से प्रलुब्ध करते हैं। सच्चे योगी इससे भटक जाते हैं, पर सच्चे योगी विचलित नहीं होते। वे उन विभूतियों के दर्शन से विस्मित भी नहीं होते, चंचल भी नहीं होते, और प्रलुब्ध भी नहीं होते। तीसरा पाद यहीं समाप्त होता है।

कैवल्यपाद के आरंभ में ही सूत्रकार ने पाँच प्रकार की सिद्धियाँ बताई हैं। (१) पूर्व-जन्म के संस्कारों के कारण कुछ लोग कुछ विशेष सिद्धियाँ जन्म से लेकर ही पैदा होते हैं; फिर (२) रसायनादि औषधों की सहायता से भी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ मिल जाती हैं। (३) ऐसा भी होता है कि यंत्रबल से आकाशगमन प्रभृति सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं; फिर (४) तपस्या से भी सिद्धिलाभ संभव है पर वास्तविक और परमसिद्धि तो (५) समाधि से कैवल्य-प्राप्ति ही है। याको सिद्धियों से लोक-प्रतिष्ठा चाहे जितनी मिले वे अधिकतर कैवल्य-प्राप्ति में बाधक ही होती है। समाधि से समस्त अनागत (अर्थात् भावी) कर्म दग्धबीज की भाँति निर्वीर्य और निष्फल हो जाते हैं, केवल प्रारब्ध कर्म बचे रह जाते हैं। कभी-कभी योगी लोग योगबल से अनेक कायाओं का निर्माण करके प्रारब्ध कर्म को शीघ्र ही भोग लेते हैं और उससे छुटकारा पा जाते हैं। ऐसा करने से आत्मा का जो बुद्धि से पार्थक्य है उस विषय में योगी और भी दृढ़ विश्वासपरायण हो जाते हैं; फिर तो योगी की आत्मा स्वतः ही विवेक की ओर उन्मुख होकर कैवल्य की ओर धावित होती है। वह समस्त इच्छाओं से—यहाँ तक कि परम अभिलषित विवेकख्याति से भी—विरत हो जाता है। उस हालत में वह धर्ममेघ नामक समाधि को प्राप्त होता है। सूत्रकार ने कहा है कि 'प्रसंख्यान' (= प्रकृति और पुरुष का विवेक-साक्षात्कार) के प्रति भी जब आदरभाव नहीं होता तब उसे वह 'धर्ममेघ' समाधि प्राप्त होती है जो विवेक ख्याति का परम फल है (४।२९)। उस समय केवल निरवच्छिन्न तत्त्व-साक्षात्कार रूपी धर्ममेघ की धारासार वर्षा होती

रहती है और योगी समस्त क्लेशों और कर्मों से निवृत्त हो गया रहता है। उस समय त्रिगुणात्मिका प्रकृति के जो कर्त्तव्य प्रत्येक पुरुष (आत्मा) के लिये निर्दिष्ट होते हैं वे—भुक्ति और मुक्ति—समाप्त हो जाते हैं और पुरुष विशुद्ध स्वरूप (केवल-भाव) में अवस्थित हो जाता है। पुरुष के प्रति दोनों प्रकार के करणीय कर्म सिद्ध हो जाने से प्रकृति भी कृतकृत्य हो जाती है और अनादि काल का लिंग शरीर[1] चूँकि प्रकृति का परिणाम होता है, इसलिये वह भी विरत हो जाता है और सारा सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर) तत्तद् उपादानों में लीन हो जाता है। यही योग का परम प्रतिपाद्य है।

---

१. सांख्यकारिका (४०) में बताया गया है कि प्रकृति के विकारस्वरूप तेईस तत्त्वों में अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं परन्तु बाकी अठारहों तत्त्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ ही साथ निकल जाते हैं। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किए बिना ही मरता रहता है तब तक ये तत्त्व उसके साथ-साथ लगे रहते हैं। इन अठारहों तत्त्वों में से प्रथम तेरह (अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन, और दसों इन्द्रिय) तो प्रकृति के गुण मात्र हैं, उनकी स्थिति के लिए किसी ठोस आधार की जरूरत होती है। बिना आधार वे रह नहीं सकते, वस्तुतः पंचतन्मात्रों को जो मृत्यु के समय आत्मा का अनुसरण करते बताया गया है वह इसीलिये कि ये तन्मात्र उक्त तेरह तत्त्वों को वहन करने का सामर्थ्य रखते हैं। ये अपेक्षाकृत ठोस हैं। जब तक मनुष्य, जीता होता है तब तक तो इन गुणों को उसका स्थूल शरीर आश्रय किए होता है, पर जब वह मर जाता है तब पंच तन्मात्र ही इन गुणों के वाहक होते हैं (सांख्यकारिका (४१)। इस प्रकार शास्त्रकार का सिद्धान्त है कि मृत्यु के बाद पुरुष या आत्मा के साथ ही साथ एक लिंग-शरीर जाता है जो समस्त कर्मफलात्मक संस्कारों को साथ ले जाता है। इस लिंग-शरीर में जिन अठारह तत्त्वों का समावेश है उसमें बुद्धितत्त्व ही प्रधान है। वेदान्ती लोग जिसे कर्म कहते हैं, उसी को सांख्य लोग बुद्धि का व्यापार, धर्म या विकार कहते हैं। इसी को सांख्यकारिका में 'भाव' कहा गया है। जिस प्रकार फूल में गंध और कपड़े में रंग लगा रहता है उसी प्रकार यह 'भाव' लिंग शरीर में लगा रहता है (सां० का० ४२)।

११

गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग

१. हठयोग

गोरक्षनाथ ने जिस हठयोग का उपदेश दिया है वह पुरानी परम्परा से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। शास्त्रग्रन्थों में हठयोग साधारणतः प्राण-निरोध-प्रधान साधना को ही कहते हैं। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में 'ह' का अर्थ सूर्य बतलाया गया है और 'ठ' का अर्थ चंद्र। सूर्य और चंद्र के योग को ही 'हठयोग' कहते हैं—

हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचंद्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥

इस श्लोक की कही हुई बात को व्याख्या नाना भाव से हो सकती है। ब्रह्मानन्द के मत से 'सूर्य' से तात्पर्य प्राणवायु का है और चंद्र से अपान वायु का। इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य इड़ा नारी को कहते हैं और चंद्र पिंगला को (हठ० ३.१५)। इसलिये इड़ा और पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्णा मार्ग से प्राण वायु के संचारित करने को भी हठयोग कहते हैं। इस हठयोग को 'हठसिद्धि' देने वाला कहा गया है।[1] वस्तुतः हठयोग का मूल अर्थ यही जान पड़ता है कि कुछ इस प्रकार अभ्यास किया जाता था जिससे हठात् सिद्धि मिल जाने की आशा की जाती थी। 'हठयोग' शब्द का शायद सबसे पुराना उल्लेख गुह्य समाज में आता है, वहाँ बोधिप्राप्ति की विधि बता लेने के बाद आचार्य ने बताया है कि यदि ऐसा करने पर भी बोधि प्राप्त न हो तो 'हठयोग' का आश्रय लेना चाहिए।[2]

योगस्वरोदय में हठयोग के दो भेद बताये गये हैं। प्रथम में आसन, प्राणायाम तथा धौति आदि षट्कर्म का विधान है। इनसे नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। शुद्ध नाड़ी में

---

१. प्राणतोषिणी : पृ० ८३५।

२. दर्शने तु कृतेऽप्येयं साधकस्य न जायते।
यदा न सिद्धयते बोधिर्हठयोगेन साधयेत्॥

पूरित वायु मन को निश्चल करता है और फिर परम आनन्द की प्राप्ति होती है। दूसरे भेद में बताया गया है कि नासिका के अग्र भाग में दृष्टि निर्बद्ध कर आकाश में कोटि सूर्य के प्रकाश को स्मरण करना चाहिए और श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण रंगों का ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से साधक चिरायु होता है और हठात् ज्योतिर्मय होकर शिवरूप हो जाता है। इस योग को इसीलिये हठयोग कहा गया है। यह सिद्धसेवित मार्ग है।[1]

कहते हैं कि हठयोग की दो विधियाँ हैं—एक तो गोरक्षनाथ की पूर्ववर्ती जिसका उपदेश मृकण्डुपुत्र (मार्कण्डेय) आदि ने किया था और दूसरी गोरक्षनाथ आदि द्वारा उपदिष्ट[2] प्रधान, भेद यह बताया जाता है कि पहली उन सभी आठ अंगों को स्वीकार करती हैं जिन्हें पातंजल योग के प्रसंग में हम देख आये हैं और दूसरी केवल अन्तिम छः अंगों को[3] परन्तु यह भेद बहुत अधिक मान्य नहीं है। हठयोग के ग्रंथों में अष्टांग योग की भी बात आती है और षडंग योग की भी। गोरक्ष-शतक में षडंग-योग की बात है और 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' में अष्टांग योग की।[4]

हठयोग का अभ्यासी शरीर की बनावट से अपरिचित रह कर सिद्धि नहीं पा सकता। मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर वायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुण्डली अवस्थित है। यह कभी-कभी आठ वलयों में लपेटकर सोई हुई भी बताई गई है (गो० १,४७)। यह ब्रह्माण्ड में व्याप्त महाकुण्डलिनी रूपी शक्ति का ही व्यष्टि में व्यक्त रूप है। यह शक्ति ही है जो ब्रह्मद्वार को रोध करके सोई हुई है।[5] इसे जगाकर शिव से समरस कराना योगा का चरम लक्ष्य है। अन्यान्य विधियों से भी मोक्ष प्राप्त किया जाता है, परन्तु चाभी से जिस प्रकार ताला हठात् खुल जाता है उसी प्रकार कुण्डली के उद्‌बोधन से हठात् मोक्षद्वार अनायास ही खुल जाता

---

१. हठाज्ज्योतिर्मयोभूत्वा ह्यन्तरेणं शिवो भवेत्।
अतःऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः।

—प्राणतोषिणी, पृ० ८३५।

२. द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः।
अन्या मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः॥

३. स० भ० स्ट० भाग० ६ में म० म० पं० गोपीनाथ कविराज का लेख देखिये।

४. गो० श० : १।७; सि० सि० सं० : २।४८।

५. येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥

—गो० श० १४८।

है।[1] हठात् मोक्षद्वार खोलने की विधि बताने के कारण भी इस योग को 'हठयोग' कहते हैं। इस कुण्डली-उद्‌बोध की कई विधियाँ हो सकती हैं।

शरीर में तीन ऐसी चीजें हैं जो परम शक्तिशाली हैं पर चंचल होने के कारण वे मनुष्यों के काम नहीं आ रहीं। पहली और प्रधान वस्तु है। (१) बिंदु अर्थात् शुक्र। इसको यदि ऊपर की ओर उठाया जा सके तो बाकी दो भी स्थिर होते हैं। बाकी दो हैं, (२) वायु और (३) मन। हठयोगी का सिद्धान्त है कि इनमें से किसी एक को भी यदि वश में कर लिया जाय तो दूसरे दो स्वयमेव वश में हो जाते हैं। एक-एक संक्षेप में विचार किया जा रहा है। यहाँ इतना और कह रखना उचित है कि कभी-कभी एक चौथी वस्तु को भी चर्चा शास्त्र में आ जाती है। वह है, वाक् या वाणी।

'अमरोध शासन' में (पृ० ७) लिखा है कि मेरुदण्ड के मूल में सूर्य और चन्द्र के बीच योनि में स्वयंभू लिंग है जिसे पश्चिम लिंग कहते हैं। यही पुरुषों के शुक्र और स्त्रियों के रजः स्खलन का मार्ग है। यही काम, विषहर और निरंजन का स्थान है। वीर्य स्खलन की दो अवस्थाएँ होती हैं। इन दोनों के पारिभाषिक नाम प्रलयकाल और विषकाल हैं। इन दो अवस्थाओं में जो आनन्द होता है वह घातक है। एक का अधिष्ठाता काम है और दूसरी का विषहर। तीसरी अवस्था नानाभाव विनिर्मुक्त सहजानंद की अवस्था है, इसमें बिंदु ऊर्ध्वमुख होकर ऊपर उठता है, तब यह सहज समाधि प्राप्त होती है जिसमें मन और प्राण अचंचल हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य और प्राणायाम के द्वारा इस बिन्दु का स्थिर और ऊर्ध्वमुख किया जा सकता है। परंतु इसके लिए आवश्यक है कि नाड़ियों को शुद्ध किया जाय। हठयोग षट् कर्म के द्वारा वही कार्य करता है। इन शुद्धि की क्रियाओं का साधन ग्रन्थों में विस्तृत रूप से उल्लेख है। इनमें धौति है, बस्ति है, नेति है, त्राटक है, नौलि है, कपालभाति—इन्हीं को षट्कर्म कहते हैं। नाड़ी के शुद्ध होने से बिन्दु स्थिर होता है, सुषुम्ना का मार्ग साफ़ हो जाता है, प्राण और मन क्रमशः अचंचल होते हैं और प्रबुद्ध कुण्डलिनी परमेश्वरी सहस्रार चक्र में स्थित शिव के साथ समरस हो जाती हैं और योगी चरम प्राप्तव्य पा

---

१. उद्‌घाटयेत् कपाटं तु यथा कुन्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या ततो योगी मोक्षाद्वारं प्रभेदयेत्॥—वही १।५१।

२. इस प्रसंग में 'अमरोध शासन' में निम्नलिखित श्लोक हैं जिसमें वज्रयानी साधकों के पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार जान पड़ता है। इन शब्दों के सांवृत्तिक और पारमार्थिक अर्थ की बात हम कृष्णपाद (कानिपा) के प्रसंग में जान चुके हैं—

शक्तित्रविनिर्भिन्ने चित्ते बीजनिरंजनात्।
वज्रजापदानंदं यः करोति स मन्मथ॥
चित्ते तृप्ते मनोमुक्ति रूर्ध्वमार्गाश्रितेऽनले।
उदानचलितं रेतो मृत्युरेखाविषं विदुः॥

जाता है। इस क्रिया के लिए ही लोग उस वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करते हैं जिसमें नाना विधियों से पुरुष स्त्री के रज को और स्त्री पुरुष के शुक्र को आकर्षण करके ऊर्ध्वमुख करती है।[1] यद्यपि यह साधना नाथमार्ग में प्रक्षिप्त जान पड़ती है पर अपने पारमार्थिक अर्थ में यह इस मार्ग में स्वीकृत थी। 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह' में एक संदिग्ध श्लोक है जो इस साधना के प्रकाश में कुछ स्पष्ट हो जाता है।[2] इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इसके ज्ञानमात्र से सिद्ध मार्ग प्रकाशित हो जाता है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ है कि केवल पारमार्थिक अर्थ में ही यह सिद्ध मार्ग में गृहीत है।

नाड़ीशुद्धि होने के बाद प्राणादि वायुओं का शमन सहज हो जाता है। नाना-प्रकार के आसनों और प्राणायामों से सुषुम्ना मार्ग खुल जाता है। नाड़ियों को प्रधानतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। दक्षिणाङ्ग में व्याप्त नाड़ियाँ सूर्य का अंग हैं और वाम भाग वाली चन्द्रमा के अंग। इन दोनों के बीच सुषुम्ना है। जब नाना भाँति के अभ्यास से योगी चन्द्र और सूर्य मार्गों को बन्द कर देता है और उनमें बहने वाली वायु शक्ति संयमित होकर योनिकंद के मूल में स्थित सुषुम्ना की मध्य-वर्तिनी ब्रह्मनाड़ी के मुख को खुला पाकर उस मार्ग से ऊपर उठती है तो वस्तुतः कुण्डलिनी ही उर्ध्वमुख होती है। प्राणायाम से कुण्डलिनी का उद्‌बोध सुकर हो जाता है।[3]

चित्तमध्ये भवेद्यन्तु बालाग्रशतधाश्रये।
नानाभावविनिर्मुक्तः स च प्रोक्तो निरंजनः॥

—आ० शा० पृ० ८

१. गो० प० : (पृ० ५३-५५)

२. संकोचनेन मणिकास्य परत्र तुर्ये दण्डध्वनैव चरमेण निवेश्य चित्तम्।
वज्रोदरे सगतिबधनभेदिदर्प्या भृगस्य चेद्विदुदिरे (?) खलु विदुबंधः॥
एषा वज्रोलिका प्रोक्ता सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः॥
ज्ञानादेव भवेदस्या सिद्धमार्गः प्रकाशितः॥

—सि० सि० सं० २।१७-१८।

३. मूलकन्दोद्योतो वायुः सोमसूर्यपथोद्‌भवः।
शक्त्याधारस्थितो याति ब्रह्मदण्डकभेदकः॥१॥
मूलकन्दे तुव्या शक्ति कुण्डलाकाररूपिणी।
उद्‌गमावर्त वतोऽयंप्राण दत्युच्यते बुधैः॥२॥
कंददण्डेन चोद्दण्डैर्भ्रामिता या भुजङ्गिनी।
मूर्च्छिता सा शिवं वेत्तिप्राणेरेव व्यवस्थिता॥३॥

—अमरौध०, पृ० ११

'अमरौध शासन' में तीन श्लोक इसी प्रकार छपे हुए हैं। परन्तु जान पड़ता है किसी कारणवश तीसरी पंक्ति उल्टी छप गई है। उसे यदि चौथी पंक्ति मान लिया जाय और चौथी को तीसरी तो अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। प्रथम तीन पंक्तियाँ प्राण की व्याख्या हैं और अन्तिम तीन पंक्तियाँ कुंडली की।

यह कुण्डलिनी जब उद्‌बुद्ध होती है तो प्राण स्थिर हो जाता है और साधक शून्य पथ से निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या अनहद नाद को सुनने लगता है, जो अखंड रूप से निखिल ब्रह्मांड में निरन्तर ध्वनित हो रहा है। अनुभवी लोगों ने बताया है (हठ० ४-८३-८५) कि पहले तो शरीर के भीतर समुद्रगर्जन, मेघगर्जन और भेरी झर्झर आदि का-सा शब्द सुनाई देता है, फिर मर्दल, शंख, घंटा और काहल की-सी आवाज सुनाई देती है, और अन्त में किंकिणी, वंशी और वीणा की झंकार सुनाई देने लगती है। परन्तु ज्यों-ज्यों साधक का चित्त स्थिर होता है त्यों-त्यों इन शब्दों का सुनाई देना बन्द होता जाता है, क्योंकि उस समय आत्मा अपने स्वरूप में क्रमशः स्थिर होता जाता है और फिर तो बाह्य विषयों से उसका सरोकार नहीं रह जाता।

इस प्रकार हठयोगी प्राणवायु को निरोध करके कुण्डलिनी को उद्‌बुद्ध करना है। उद्‌बुद्ध कुण्डली क्रमशः षट्‌चक्रों को भेद करती हुई सातवें अन्तिम चक्र सहस्रार में शिव से मिलती है। प्राणवायु ही इस उद्‌बोध और शक्ति संग मन का हेतु है इसलिए हठयोग में प्राण-निरोध का बड़ा महत्त्व है। षड्‌चक्रों के विषय में हम पहले संक्षेप में कह आये हैं। यहाँ भी उसका थोड़ा उल्लेख कर देना उचित है।

ऊपर जिस त्रिकोण चक्र की बात कही गई है उसके ऊपर चार दलों के आकार का एक चक्र है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं, उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है जिसका आकार छः दलों के कमल का है, इस चक्र के ऊपर मणिपूरचक्र है और उसके भी भीतर हृदय के पास अनाहत चक्र। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलों के पद्मों के आकार के हैं। इसके भी ऊपर कंठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है जिसका आकार सोलह दल के पद्म के समान है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्य में आज्ञा नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही षट्‌चक्र हैं। इनमें सबसे दलों की संयुक्त संख्या पचास है और यही समस्त स्वर और व्यंजनों की मिलित संख्या भी है। प्रत्येक दल पर एक-एक अक्षर की कल्पना की गई है, प्रत्येक कमल की कर्णिका में कोई न कोई देवता और शक्ति निवास करती हैं। यह सब बातें साधकों के काम की हैं। इस अध्ययन में उनका विशेष प्रयोजन नहीं है। फिर भी अन्यान्य साधनाओं से तुलना करने के लिए और इस मार्ग के तत्त्ववाद को समझने के लिए पाठकों को इसकी आवश्यकता हो भी सकती है। यही सोचकर एक सारणी आगे दी जा रही है जिससे सारी बातों का खुलासा हो जायगा। इन षट्‌चक्रों को भेद करने के बाद मस्तिष्क में वह शून्य चक्र मिलता है जहाँ उद्‌बुद्ध कुण्डली को पहुँचा देना योगी का लक्ष्य है। यह सहस्रदलों के कमल के आकार का है, इसीलिये इसे सहस्रार भी कहते हैं। यही इस पिण्ड का कैलाश है, यहीं पर शिव का निवास है।[1] इस महातीर्थ तक ले जाने वाली नाड़ी

---

१. अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्थं वाह्ये तिष्ठति सर्वदा
कैलाशानाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति।

—शि० ५-१५१-१५२

षट्-चक्र

चक्र	स्थान	दल-संख्या	वर्ण	तत्त्व और गुण	तत्त्व का रंग	मंडल का आकार	बीज और वाहन	देवता और वाहन	धातु शक्ति	लिंग और योनि	अन्यन्यत्त्व और इंद्रिय	पीठ
१. मूलाधार	रीढ़ के अधो-भाग में पायु और मुष्क मूल-के मध्य	४	व,श,ष,स	पृथ्वी आकर्षण गंध	पीत	वर्गाकार	लं ऐरावत	ब्रह्मा हंस	डाकिनी	स्वयंभू, त्रैपुर त्रिकोण	गंधतत्त्व घ्राणेन्द्रिय पैर	कामाख्या
२. स्वाधिष्ठान	मेरुदण्ड में मेढ़ के ऊपर	६	ब भ म य र ल	जल, संकोचन रस	श्वेत	अर्द्ध चंद्र	व मकर	विष्णु गरुड़	राकिनी	...	रसतत्त्व रसना हाथ	
३. मणिपुर	मेरुदण्ड में नाभि के पास	१०	ड ढ ण न त थ द ध प फ	तेज प्रसरण रूप	लाल	त्रिभुज	रं मेष	रुद्र, वृषभ	लाकिनी	...	रूपतत्त्व, चक्ष, पायु	
४. अनाहत	हृदय के पास	१२	क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ	वायु गति स्पर्श	धूम्र	षट् कोण	य कृष्ण-मृग	ईश	काकिनी	वाण, त्रिकोण	स्पर्श, त्वचा, उपस्थ	पूर्ण गिरि
५. विशुद्धाख्य	कठ के पास	१६	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ आ ओ अं अः	आकाश अवकाश शब्द	श्वेत	वृत्त	ह श्वेत हस्ती	सदाशिव	शाकिनी		शब्द कान वाक्	जाल धर
६. आज्ञा	भ्रुवों के बीच में	२	ह क्ष	मन	×	×	ओं	शंभु	हाकिनी	इतर, त्रिकोण	महत् सूक्ष्मप्रकृति हिरण्यगर्भ	वायु यान

सुषुम्ना को इसीलिए शांभवी शक्ति कहा जाता है, क्योंकि वैसे तो प्राणवायु को वहन करने वाली नाड़ियों की संख्या ७२ हजार है पर असल में यह शांभवी शक्ति सुषम्ना ही सार्थक है; बाकी सब तो निरर्थक है।[1] इस प्रकार यह ठीक ही कहा गया है कि हठयोग असल में प्राणवायु के निरोध को कहते हैं और राजयोग मन के निरोध को।

किन्तु 'योग शिखोपनिषद्' में राजयोग अन्यभाव से वर्णित है। उक्त उपनिषद् में भी चार प्रकार के योग कहे गये हैं—मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इनमें हमारा प्रकृत विषय हठयोग है। मंत्रयोग में कहा गया है कि जीव के निश्वास-प्रश्वास में 'ह' और 'स' वर्ण उच्चरित होते हैं। 'ह' कार के साथ प्राणवायु बाहर आता और 'स' कार के साथ भीतर जाता है। इस प्रकार जीव सहज ही 'हं-सः' इस मंत्र का जप करता रहता है। गुरुवाक्य जान लेने पर सुषुम्ना मार्ग में यही मंत्र उल्टी दिशा में उच्चरित हो 'सोऽहं' हो जाता है और इस प्रकार योगी 'वह' (सः) के साथ 'मैं' (अहम्) का अभेद अनुभव करने लगता है। इसी मंत्रयोग के सिद्ध होने पर हठ-योग के प्रति विश्वास पैदा होता है। इस हठयोग में हकार सूर्य का वाचक है और सकार चन्द्रमा का। इन दोनों का योग ही हठयोग है। हठयोग से जड़िमा नष्ट होती है और आत्मा परमात्मा का अभेद सिद्ध होता है। इसके बाद वह लय योग शुरू होता है जिसमें पवन स्थिर हो जाता है और आत्मानन्द का सुख प्राप्त होता है।[2] इस लययोग की साधना से भिन्न अन्तिम मार्ग राजयोग है। योनि के महाक्षेत्र में जपा और बंधूक पुष्पों के समान लाल रज रहा करता है। यह देवी तत्त्व है। इस रज के साथ रेत का जो योग है वही राजयोग है।[3] इससे अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। निश्चय ही यहाँ पारमार्थिक अर्थ में 'रज' और 'रेतस्' (शुक्र) का उल्लेख हुआ है। परन्तु शब्दों का प्रयोग अपूर्व तथा अर्थपूर्ण है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने इसकी टीका में विशेष कुछ नहीं लिखा। सिर्फ इतना और भी जोड़ दिया है कि शिश्न मूल का 'रेतस्' शिवतत्त्व है।[4]

---

१. द्वासप्ततिसहस्राणि नाड़ीद्वाराणि पञ्जरे
सुषुम्णा शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः॥

हठ० ५।१८

२. योग शिखोपनिषत (१२९-१३५)।

३. योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबंधूसकन्निभम्।
रजो वसति जन्तूनां देवीतत्त्वं समावृतम्॥
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।
अणिमादि पदं प्राप्य राजते राजयोगतः॥

योग सिखोपनिषत १३६-१३७।

४. राजयोगलक्षणमाह। योनीति। शशि (शिश्न १) स्थाने रेतो वतते तद्धि शिव-तत्त्वम्।

हमने ऊपर देखा है कि गोरक्ष नाथ ने स्वयं कहा है कि जो व्यक्ति छः चक्र, सोलह आधार और दो लक्ष्य तथा, व्योमपञ्चम को नहीं जानता वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। षट् चक्र की बात ऊपर बताई गई है। आधार सोलह हैं—दृष्टि को स्थिर करने वाला (१) पादांगुष्ठ, अग्नि को दीप्त करने वाला (२) मूलाधार, संकोच-विकास के अभ्यास द्वारा अपान वायु को वज्रगर्भनाड़ी में प्रवेश करा कर शुक्र और रज को आकर्षण कराने वाली वज्रोली के सहायक (३) गुह्याधार और (४) बिन्दुचक्र, मल-मूत्र और कृमि का विनाशक (५) नाड्याधार, नादोत्पादक (६) नाभिमण्डलाधार, प्राण-वायु का रोधक (७) हृदयाधार, इड़ा पिंगला में प्रवहमान वायु को रोकने वाला (८) कंठाधार और कंठमूल का वह (९) क्षुद्रघंटिकाधार जिसमें दो लिंगाकार लोरें लटक रही हैं, जहाँ जिह्वा पहुँचाने से ब्रह्मरंध्र में स्थित चंद्र मंडल का झरता हुआ अमृतरस पीना सहज होता है। खेचरी मुद्रा का सहायक (१०) ताल्वन्ताधार, जिह्वा के अधोभाग में स्थित (११) रसाधार, रोगशामक (१२) ऊर्ध्वदन्तमूल, मन को स्थिर करने वाला (१३) नासिकाग्र, ज्योति को प्रत्यक्ष करने में सहायक (१४) नासामूल, सूर्याकाश में मन को लीन करने वाला (१५) भ्रूमध्याधार और (१६) सोलहवाँ नेत्राधार जिसमें ज्योति प्रत्यक्ष अवभासित होती है। ये सब बाह्यलक्ष्य हैं। आन्तर-लक्ष्य षट्चक्र है। दो लक्ष्य यही हैं। पाँच आकाश में इस प्रकार हैं—(१) श्वेत वर्ण ज्योति रूप आकाश, इसके भीतर (२) रक्तवर्ण ज्योति रूप प्रकाश है, इसके भी भीतर (३) धूम्रवर्ण महाकाश, फिर (४) नीलवर्ण ज्योति रूप तत्वाकाश है, और इसके भी भीतर विद्युत् के वर्ण का ज्योति रूप (५) सूर्याकाश है।[1]

इस विविध ध्यानों को आसन, प्राणायाम और मुद्रा के अभ्यास से सिद्ध किया जाता है। मुद्रा का उद्देश्य शक्ति को ऊपर की ओर चलाना है, इसीलिये 'अमरौध शासन' में मुद्रा को 'सारणा' (=चलाने वाली) कहा गया है। अब, अगर विचार किया जाय तो जीव के जन्म-मरण का कारण इस सृष्टि-चक्र में पच-पच कर मरने का रहस्य सिर्फ यही है कि किसी अनादिकाल में शिव और शक्ति क्रमशः स्थूलता की ओर अग्रसर होने के लिये अलग-अलग स्फुटित हुए थे। शिव और शक्ति जिन दिन समरस होकर एकमेव हो जायेंगे उस दिन यह सारा प्रतीयमान सृष्टिचक्र अपने आप निःशेष हो जायगा। शक्ति कुण्डलिनी रूप में देह में स्थित है और शिव भी सहस्रार में विराजमान है। जन्म-जन्मान्तर के संचित मलों के भार से कुण्डलिनी दबी हुई है। एक बार यदि मनुष्य ध्यान धारणा के बल से वायु को संयमित करे और नाड़ियों को शोधकर पवित्र करे तो वह परम पवित्र सुषुम्ना मार्ग खुल जाय जिसके ब्रह्मरंध्र को ढंक कर परमेश्वरी कुण्डलिनी सोई हुई है। वस्तुतः यह सृष्टि ही कुण्डली है। वह दो प्रकार की हैं—स्थूल और सूक्ष्म। साधारणतः स्थूलरूपा कुण्डलिनी को ही लोग जान पाते हैं, अज्ञान के बोझ से दबे रहने के कारण उसके सूक्ष्म रूप को नहीं जान पाते।

---

१. सि० सि० सं० : द्वितीय उपदेश; गो० प० : पृ० १२-१४।

सिद्धियाँ स्थूला कुण्डलिनी के ज्ञान से भी मिल जाती हैं परंतु सर्वोत्तम ज्ञानरूपिणी—परा संवित्—जो साक्षात् महेश्वरी शक्ति है उसको पहचाने बिना परमपद नहीं मिलता। शक्ति जब उद्बुद्ध होकर शिव के साथ समरस हो जाती है—इसी को पिण्डाब्रह्माण्डैक्य भी कहते हैं—तो योगियों की परम काम्य कैवल्य अवस्थावाली सहज-समाधि प्राप्त होती है जिससे बढ़कर आनन्द और नहीं है। यह सब गुरु की कृपा से होता है, वेद पाठ से नहीं, ज्ञान से भी नहीं, वैराग्य से भी नहीं।[1] जो इस सहज-समाधि रूप परम विश्राम को पाना चाहे वह अच्छे गुरु के चरण कमलों की सेवा करे। उनकी कृपा होने से न परमपद ही दूर रहेगा और न शिव-शक्ति सामरस्य ही—

अनुबुभूषति यो निजविश्रम
स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुसंसरणात् परमं पदं
समसीकरणं च न दूरतः॥

—सि० सि० सं० ५५८

२. गोरक्ष-सिद्धान्त

गोरक्षनाथ के नाम पर जितने भी ग्रंथ पाये जाते हैं वे प्रायः सभी साधन-ग्रंथ हैं। उनमें साधना के लिये उपयोगी व्यावहारिक तथ्यों का ही संकलन है। बहुत कम पुस्तकें ऐसी हैं जिनसे उनके दार्शनिक मत का, और सामाजिक जीवन में उसके उपयोग का प्रतिपादन हो। सरस्वती भवन टेक्स्ट सीरीज में 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' नाम की एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक प्रकाशित हुई है। पुस्तक अधूरी ही छपी है। इसके सम्पादक सुप्रसिद्ध विद्वान् म० म० पं० गोपीनाथ कविराज हैं। पुस्तक की संस्कृत हल्की, और स्थान-स्थान पर, अशुद्ध भी है। इसमें भी सन्देह नहीं कि पुस्तक हाल की लिखी है। फिर भी इसका लेखक बहुश्रुत जान पड़ता है। पुस्तक में पुरानी ५८ पोथियों के प्रमाण संग्रह किए गए हैं।[2] उद्धृत पुस्तकों में से अनेक उपलभ्य नहीं हैं।

---

१. सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा।
बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापक वर्जिता।
तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेनतु।
ततः सूक्ष्मा परासंवित् मध्यशक्तिमहेश्वरी।

—सि० सि० सं० ४।३०-३२

२. निम्नलिखित पुस्तकों के प्रमाण उद्धृत किए गए हैं—

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति	४. ब्रह्मविदुपनिषत्
२. अवधूत गीता	५. कैवल्योपनिषत्
३. सूतसंहिता	६. तेजविदूपनिषत्

यह तो कहना ही व्यर्थ है कि गोरक्षनाथ के पहले योग की बड़ी जबर्दस्त परंपरा जो ब्राह्मणों और बौद्धों में समान रूप से मान्य थी। इसका एक विशाल साहित्य था। नाना उपनिषदों में नाना भाग से योग की चर्चा हुई है और बौद्ध साधकों के पास तो काया योग का साहित्य अन्यान्य अंगों से कही बड़ा था। इन सबसे गोरक्षनाथ ने सार संग्रह किया होगा, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके पूर्ववर्ती अनेक ग्रंथ लुप्त हो गये हैं और यह जानने का हमारे पास कोई उपाय नही रह गया है कि कहाँ से कितना अमृत

---

७. अमनस्क
८. विवेकमार्तण्ड
९. ध्यानविंदूपनिषत्
१०. मुण्डक उपनिषत्
११. आत्मोपनिषत्
१२. अमृतविंदु उपनिषत्
१३. मनुस्मृति
१४. उत्तरगीता
१५. वायुपुराण
१६. मार्कण्डेय पुराण
१७. गीता
१८. तंत्रमहार्णव
१९. क्षुरिका उपनिषत्
२०. गोरक्ष उपनिषत्
२१. बृहदारण्यक उपनिषत्
२२. छान्दोग्य उपनिषत्
२३. कालाग्निरुद्र उपनिषत्
२४. ब्रह्मोपनिषत्
२५. सर्वोपनिषत्
२६. राजगुह्य
२७. शक्ति संगम तंत्र
२८. हठ प्रदीपिका
२९. सिद्धान्त विंदु
३०. शाबरतंत्र
३१. षोड़शनित्यातंत्र
३२. षट्शांभव रहस्य
३३. पद्मपुराण
३४. महाभारत
३५. कवेषय गीता
३६. सनत्सूजातीय
३७. बह्वृच्ब्राह्मण
३८. शिवउपनिषत्
३९. माण्डूक्य उपनिषत्
४०. भागवत
४१. योगबी
४२. कपिलगीता
४३. गोरक्षस्तोत्र
४४. कल्पद्रुम तंत्र का गोरक्ष सहस्रनाम
४५. सारसंग्रह
४६. स्कदपुराण
४७. रुद्रयामल
४८. तारासूक्ति
४९. कुलार्णव तंत्र
५०. वायु पुराण
५१. सूत संहितां
५२. आदिनाथ संहिता
५३. ब्रह्मवैवर्त
५४. शिवपुराण
५५. परमहंस उपनिषत्
५६. योगशास्त्र
५७. श्रीनाथ सूत्र
५८. अखण्ड खण्ड

उन्होंने संग्रह किया था। अब भी योग साधना बताने वाली उपनिषदें कम नहीं हैं।[1] यह कह सकना बड़ा कठिन है कि इसमें कौन-से गोरक्षनाथ के पहले की लिखी हुई हैं और कौन-सी बाद की। डा० डायसन[2] ने कालक्रम से इन उपनिषदों को चार भागों में विभक्त किया है।

१. प्राचीन गद्य उपनिषत्
२. प्राचीन छन्दोबद्ध उपनिषत्
३. परवर्ती गद्य उपनिषत्
४. आथर्वण उपनिषत्

ये क्रमशः परवर्ती हैं। आथर्वण उपनिषदों में संन्यास उपनिषद्, योग उपनिषद्, सामान्य वेदान्त उपनिषद्, वैष्णव उपनिषद् तथा शैव और शाक्तादि उपनिषद् शामिल हैं। पता नही किस आधार पर डायसन ने इन सब को आथर्वण उपनिषद् कहा है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने २० योगोपनिषदों में से एक को भी 'अथर्ववेद' से सम्बद्ध नहीं माना। परन्तु डायसन का यह कथन ठीक जान पड़ता है कि योग उपनिषद् परवर्ती हैं। यदि यह मान लिया जाय कि षड़ङ्ग योग गोरक्षनाथ आदि का प्रवर्तित है, आसनों की संख्या अधिक मानना हठयोगियों का प्रभाव है और नादानुसंधान इन लोगों को ही विशिष्ट साधना है, तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इनमें कई उपनिषद् गोरक्ष परवर्ती हैं। 'अमृतनाद', 'क्षुरिका', 'ध्यानविंदु' और 'योगचूड़ामणि' आदि उपनिषदों में षडंग योग की चर्चा है, 'दर्शनोपनिषद्' में नौ और 'त्रिशिख ब्राह्मण' में अट्ठारह

---

१. मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी से अ० महादेव शास्त्री ने सन् १९२० में 'योग उपनिषदः' नामक एक योग विषयक उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित किया है। ये सभी उपनिषदें अष्टोत्तरशत उपनिषदों में प्रकाशित हो चुकी हैं; परन्तु शास्त्री जी के संस्करण में यह विशेषता है कि उसमें उपनिषद्ब्रह्मयोगी की व्याख्यायें भी हैं। इस संग्रह की उपनिषदों के ये नाम हैं :

१. अद्वयतार कोपनिषत्	११. ब्रह्मविद्योपनिषत्
२. अमृतनादोपनिषत्	१२. मण्डलब्राह्मणोपनिषत्
३. अमृतविंदूपनिषत्	१३. महावाक्योपनिषत्
४. क्षुरिकोपनिषत्	१४. योगकुण्डल्युपनिषत्
५. तेजोविन्दूपनिषत्	१५. योगचूड़ामण्युपनिषत्
६. त्रिशखब्राह्मणोपनिषत्	१६. योगतत्वोपनिषत्
७. दर्शनोपनिषत्	१७. योगशिखोपनिषत्
८. ध्यानविंदूनिषत्	१८. वराहोपनिषत्
९. नादविंदूपनिषत्	१९. शाडिल्योपनिषत्
१०. पाशुपतब्रह्मोपनिषत्	२०. हंसोपनिषत

२. फिलासफी आफ उपनिषत्स, पृ० २२-२६।

आसन बताए गए हैं। 'ब्रह्मविंदु' और 'ब्रह्मविद्या' आदि उपनिषदों में नादानुसन्धान का उल्लेख है, योगतत्व, योगशिखा और योगराज उपनिषदों में चार प्रकार के योग और प्राणापान समीकरण की विधि है। कई उपनिषदों में जालंधर और उड्डियान बंधों की चर्चा है। यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता कि ये सारी उपनिषदें गोरक्ष-नाथ के बाद ही लिखी गई हैं—कुछ में प्राचीनता के चिह्न अवश्य हैं—परन्तु इनमें से अधिकांश पर उसका प्रभाव पड़ा है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

'गोरक्ष सिद्धांत संग्रह' में प्रायः सभी मुख्य-मुख्य योगोपनिषदों के वाक्य प्रमाण रूप से उद्धृत किए गए हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो इस संग्रह में उपलब्ध नहीं हैं। गोरक्ष, सर्वकालाग्नि और शिव उपनिषदें ऐसी ही हैं। अड्यार लाईब्रेरी ने ७१ उपनिषदों का एक और उपनिषत्-संग्रह प्रकाशित किया था। उसमें 'शिवोपनिषत्' है पर और नहीं हैं। इस प्रकार 'गोरक्ष सिद्धांत संग्रह' के उद्धृत वाक्य महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं। जो हों, परवर्ती साधना साहित्य के अध्ययन के लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। उस पुस्तक के सिद्धांतों को संक्षेप में यहाँ संग्रह किया जा रहा है।

ग्रंथ के आरम्भ में ही गुरु की महिमा बताई गई है। गुरु ही समस्त श्रेयों का मूल है, इसलिये बहुत सोच-समझकर गुरु बनाना चाहिए।[1] एकमात्र अवधूत ही गुरु हो सकता है; अवधूत—जिसके प्रत्येक वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद-पद में तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य विराजमान है, जिसके एक हाथ में त्याग है और दूसरे में भोग है और फिर भी जो त्याग और भोग दोनों में अलिप्त है। 'सूत संहिता' में कहा गया है कि वह वर्णाश्रम से परे है, समस्त गुरुओं का साक्षात् गुरु है, न उससे कोई बड़ा है न बराबर। इस प्रकार के पक्षपात-विनिर्मुक्त मुनीश्वर को ही अवधूत कहा जा सकता है, उसे ही 'नाथ पद' प्राप्त हो सकता है। इस अवधूत का परम पुरुषार्थ मुक्ति है जो द्वैत और अद्वैत के द्वंद्व से परे है। 'अवधूत गीता' में कहा गया है कि कुछ लोग द्वैत को चाहते हैं, कुछ अद्वैत को; पर द्वैताद्वैतविलक्षण समतत्व को कोई नहीं जानता। यदि सर्वगत देव स्थिर, पूर्ण और निरन्तर हैं तो यह द्वैताद्वैत कल्पना क्या मोह नहीं है?[2] इसीलिये सिद्ध जालंधर ने नाथ द्वैत और अद्वैत दोनों से परे—द्वैताद्वैतविलक्षण—कह कर स्तुति की है।[3]

---

१. तुलनीय—सि० सि० सं०, पंचम उपदेश।

२. अद्वैत केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्।
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना॥ पृ० ११

३. बन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरहं भानुतेजस्करं वा।
सत्कर्तुव्यापकं त्वा पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं।
मुद्रानादविशूलैर्विमलरुचिधरं खर्परं भस्ममिश्रं।
द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वय उतपरं योगिनं शंकरं वा॥

यह मत अपने को वेदान्तियों, सांख्यों, मीमांसकों, बौद्धों और जैनों के मत से अपनी विशेषता प्रतिपादित करता है।[1] श्रुति इन लोगों के मत से साधिका नहीं है।[2] वेद दो प्रकार के माने गए हैं, स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल वेद यज्ञयाग का विधान करते हैं। योगियों को इससे कोई वास्ता नहीं उनका मतलब तो केवल ओंकारमात्र से है। यह ओंकार ही सूक्ष्म वेद है।[3] पुस्तकी विद्या का इसमें बड़ा मजाक उड़ाया गया है।[4] और अद्वैत मत से नाथमत का उत्कर्ष दिखाया गया है। इस सिलसिले में एक मनोरंजक कहानी दी गई है। शंकराचार्य अपने चार शिष्यों सहित नदी तीर पर बैठे थे। वहीं भैरव उनकी परीक्षा लेने के लिये कापालिक रूप से उपस्थित हुए और बोले कि 'आप तो अद्वैतवादी हैं, शत्रु और मित्र को समान भाव से देखते हैं, कृपया मुझे आप अपना सिर काट लेने दीजिए।' शंकराचार्य चक्कर में पड़ गए। दोनों ओर आफत थी, देते हैं तो प्राण जाता है, नहीं देते तो अद्वैत मत स्वतः परास्त हो जाता है। उन्हें निरुपाय देखकर शिष्यों में से एक ने नृसिंह भगवान को स्मरण किया। वे तुरन्तु घटनास्थल पर पहुँच भैरव से भिड़ गये। तब भैरव ने कापालिक वेश परित्याग कर अपना रूप धारण किया और प्रसन्न होकर मेघमद्र स्वर में कहा—अहो, अद्वैतवाद आज पराजित हुआ, मैंने चालाक मल्ल की भांति अपने शरीर की हानि करके भी प्रतिद्वंदी को परास्त कर दिया। आओ युद्ध करो। शंकराचार्य इस ललकार का मुकाबला नहीं कर सके क्योंकि उनकी अद्वैत-साधना से संचित और क्रियमाण कर्म तो दग्धबीज की भाँति निष्फल हो जाते हैं परन्तु प्रारब्ध कर्म बने ही रहते हैं। एक कापालिकों का योगमार्ग ही ऐसा है जिसमें सभी कर्म भस्म हो जाते हैं। सो प्रारब्ध कर्मों के प्रताप से शंकर जड़ हो गए। तब जाकर उन्होंने समझा कि उत्तम मार्ग क्या है। इसी अवस्था में उन्होंने 'सिद्धान्त बिन्दु' की रचना की जो असल में नाथमत का ग्रंथ है। इसी अवस्था में उन्होंने 'वज्र सूचिकोपनिषद्' भी लिखी।

मुक्ति क्या है? मुक्ति वस्तुतः नाथस्वरूप में अवस्थान है। इसीलिये 'गोरक्ष-उपनिषद्' में कहा गया है। अद्वैत के ऊपर सदानन्द देवता है अर्थात् अद्वैतभाव ही चरम नहीं है, सदानन्द वाली अवस्था उसके ऊपर है। वह बाह्याचार के पालन से नहीं मिल सकती। इस मत के अनुसार शक्ति सृष्टि करती है, शिव पालन करते हैं, काल संहार करते हैं और नाथ मुक्ति देते हैं। नाथ ही एकमात्र शुद्ध आत्मा हैं, बाकी सभी बुद्ध जीव है—शिव भी, विष्णु भी और ब्रह्मा भी (पृ० ७०)। न तो ये लोग द्वैत-

---

१. देखिए ऊपर, पृ० १-२।

२. पृ० २२-२८; ७५-७६।

३. पृ० २६।

४. तुल०—

पढ़ा लिखा सुआ बिलाई खाया पंडित के हाथि रह गई पोथी।

—गोरखबानी, पृ० ४२

वादियों के क्रिया ब्रह्म में विश्वास रखते हैं न अद्वैतवादियों के निष्क्रिय ब्रह्म में। द्वैतवादियों के स्थान हैं, कैलास और बैकुंठ आदि, अद्वैतवादियों का माया-शबल ब्रह्मस्थान और योगियों का निर्गुण स्थान है पर बंधमुक्ति रहित परमसिद्धान्तवादी अवधूत लोग निर्गुण और सगुण से परे उभयातीत स्थान को ही मानते हैं क्योंकि नाथ, सगुण और निर्गुण दोनों से अतीत परात्पर हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शिव, वेद, यज्ञ, सूर्य, चंद्र, निधिनिषेध, जल, स्थल, अग्नि, वायु, दिक् और काल—सबसे पर स्वयं ज्योतिः स्वरूप एकमात्र सच्चिदानंद मूर्ति हैं।

न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्वापिवायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैवकालः
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधि नैविकल्पः
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्द मूर्ते।

—सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति

३. प्रणव, सूक्ष्मवेद और परा संवित

इस देश में निर्गुण ज्ञान-मार्ग की परम्परा बहुत पुरानी है। वेद की मूल संहिताओं में ही सगुण आत्मज्ञान और निर्गुण आत्मज्ञान के बीज उपलब्ध हो जाते हैं। परन्तु संहिताभाग में सगुण आत्मज्ञान पर अधिक बल है। वागम्भृणी के इस कथन में कि 'अहं विश्वेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः' सर्वव्यापी ऐश्वर्य गुण सम्पन्न सगुण आत्मज्ञान है। इस प्रकार के अनेक वचन मूलसंहिताओं में खोजे जा सकते हैं जहाँ आत्मा को सर्वज्ञातृत्व, सर्वव्यापित्व, और सर्वकर्तृत्व आदि धर्मों या गुणों से युक्त बताया गया है परन्तु उन्हीं दिनों निर्गुण आत्मज्ञान की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। बाद में कपिल ऋषि ने इस निर्गुण आत्मज्ञान को विशुद्ध तत्त्वचिन्तनमूलक दर्शन का रूप दिया जिसे 'सांख्य' कहते हैं। सांख्य दर्शन इस देश का बहुत पुराना तत्त्वचिन्तनपरक शास्त्र है। कुछ लोग तो इसे सबसे पुराना दर्शन कहते हैं और महाभारत के शान्तिपर्व के निम्नलिखित श्लोक को अपने विश्वास के प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं।

ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे॥
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र॥

(हे राजन्! बड़े लोगों में जो ज्ञान है, और जो पुराण, वेद, सांख्य और योगशास्त्र में उपदिष्ट है और जो ज्ञान विविध रूपों में पुराणों में पाया जाता है, वह सभी सांख्य से ही आया है।)

सांख्य और योग का तत्त्वदर्शन एक ही है। कपिल ने निर्गुण आत्मज्ञान को युक्ति-तर्क द्वारा प्रतिष्ठित किया था। उसे प्राप्त करने का उपाय बताने वाला शास्त्र योग है। प्राचीन शास्त्रों से जान पड़ता है कि जो लोग तत्त्वनिदिध्यासन, मनन चिन्तन

आदि द्वारा निर्गुण आत्मज्ञान का साक्षात्कार करते थे वे 'सांख्य' कहलाते थे और जो तप, स्वाध्याय और अभ्यासवैराग्य द्वारा इस 'केवल' स्वरूप का साक्षात्कार करते थे वे योगी कहलाते थे। दोनों का तत्त्वज्ञान एक था। कुछ कहते हैं कि मूलसूत्रों से यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि सांख्य और योग का तत्त्ववाद हू-ब-हू एक ही हैं। जो भी हो, परम्परा से यही विश्वास किया जाता है कि ये दोनों तत्त्ववाद एक ही है। 'गीता' में भगवान् ने कहा है कि केवल बालबुद्धि के लोग ही सांख्य और योग को पृथक् मानते हैं, पण्डितजन ऐसा नहीं समझते। इस सांख्यमत में पुरुष अनेक हैं, प्रकृति उन्हें अपने बन्धन में बाँधती है। हैं दोनों ही अनादि। पुरुष विशुद्ध चेतनस्वरूप है, उदासीन है और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक वह बन्धन में है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः प्रकृति का ही विकास है। प्रकृति में तीन गुण-सत्व, रजस, तमस—साम्यावस्था में रहते हैं। पुरुष के संयोग से यह साम्यावस्था विक्षुब्ध होती है और क्रमशः उस बन्धन रूप जगत् का विकास होता है। बुद्धि, मन, इंद्रिय और भूतमात्र प्रकृति की ही विकृति हैं। गुणों की कमी-बेशी के कारण वे भिन्न रूपों में दिखाई दे रहे हैं। पुरुष कभी देह को, कभी मन को, कभी बुद्धि को अपना रूप मानता रहता है। ज्ञान होते ही वह इस गुणमयी प्रकृति से अलग होकर 'केवल' शुद्ध चेतन के रूप में आ जाता है। केवल रूप में बने रहने की इस अवस्था का ही नाम कैवल्य या मोक्ष है। योगशास्त्र में इसी 'केवल' रूप में स्थित होने की अवस्था को प्राप्त करने के उपाय बताए गए हैं।

इस अवस्था में चेतनस्वरूप पुरुष स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित करता है। इसीलिये योगशास्त्र में उसे 'स्वप्रकाश' कहा जाता है। 'पातंजल' में पुरुष को द्रष्टा कहा गया है। द्रष्टा दृशिमात्र है, वह प्रत्ययानुपश्य है (२।२०)। टीकाकारों ने 'दृशि' का अर्थ किया 'चित्' या स्वबोध। 'मात्र' प्रत्यय के प्रयोग से उसे सर्व विशेषण शून्य, सर्वधर्मशून्य कहा गया है : केवल, स्वबोधमात्र। सर्वविशेषण शून्य, सर्वधर्मशून्य जो बोध है वही द्रष्टा है। इसी विचार से आगे चल कर 'स्वसंवेदन' ज्ञान और ज्ञाता के विचारों का विकास हुआ है।

यह संसार द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से या गृहीता, ग्राह्य और ग्रहण रूप से त्रिपुटीकृत है। योगशास्त्र में गृहीता और द्रष्टा में अन्तर बताया जाता है। द्रष्टा अविकारी ज्ञाता है, ग्रहीता विकारी। द्रष्टा और ग्रहीता एक जैसे तो हैं पर एक नहीं हैं। ग्रहीता बद्ध या अज्ञानी जीव है। बद्ध जीव में कभी तो जानने की वृत्ति जागृत रहती है, कभी निरुद्ध। इसीलिये वह केवल 'ग्रहीता' कहा जाता है। मैं द्रष्टा हूँ, इस प्रकार की बुद्धि ही ग्रहीता है। परन्तु द्रष्टा सदा स्वद्रष्टा है। अपने को आप ही देखने वाला। उसका ज्ञान उससे भिन्न नहीं है। वह स्वसंवेदन है। उपनिषदों में कहा गया है कि जो ज्ञाता है उसे कौन जान सकता है। वह स्वयं को जानता है, स्वयं ही वेदक है, स्वयं ही वेद्य, वहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं है—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' 'नहि विज्ञातुर्विज्ञानेर्विपरिलोपोवर्तते— (बृह० उप०)।

इसी 'स्वसंवेद' शब्द से प्राकृत का 'सुसंवेद' बना है। 'सुसंवेद' ही आगे चल कर 'सुच्छंवेद' और 'सुच्छमवेद' के रूप में परिवर्तित हुआ। यह सुच्छमवेद संस्कृत में फिर में गृहीत हुआ। परवर्ती नाथपंथियों ने अपने संस्कृतग्रंथों में 'सूक्ष्मवेद' शब्द का व्यवहार किया है। 'सिद्ध सिद्धांत संग्रह' में सूक्ष्मवेद और स्थूलवेद ये दो भेद किये गए हैं। (पृ० २२-२७ और पृ० ७५-७६)। इस ग्रंथ के अनुसार स्थूलवेद यज्ञ-याग का विधान करते हैं और सूक्ष्मवेद प्रणव या ओंकार है। क्योंकि ओंकार ही वेदों का सार है।

यही निर्गुण आत्मज्ञान है।

भारतवर्ष के सभी आस्तिक दर्शन और पुराण आदि शास्त्र अपने को वेद पर आधृत या श्रुतिसम्मत मानते हैं। वेदान्त शास्त्र वेद-सम्मत सिद्धांतों का ही प्रतिपादन करता है। श्रुतियों में परात्परतत्व को समझाने के लिये अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ दी गई हैं। उनमें से किसी एक को मुख्य वक्तव्य या महा वाक्य मान कर उसी के आलोक में शेष अनुभूतियों की व्याख्या करने के कारण अनेक वेदान्ती मत प्रसिद्ध हुए हैं—परन्तु सभी वेदान्ती मानते है कि मनुष्य का सब से बड़ा लक्ष्य—परम पुरुषार्थ—इस दुःखमय जगत् से छुटकारा पाना—मोक्ष—है उनके मत से संसार दुःख रूप है और मोक्ष ब्रह्म स्वरूप ही है। कहा गया है कि जब मनुष्य जान जाता है कि वह क्या है, उसका स्वरूप ब्रह्म से अभिन्न हैं, तो उसका छुटकारा भी हो जाता है। वह जो छूट नहीं रहा है उसका कारण अज्ञान या गलत जानकारी है। इसी गलत जानकारी को 'अविद्या' कहते हैं। सही जानकारी का नाम परा विद्या है। इस सही जानकारी का एकमात्र विषय है—आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान। इसीलिये वेदान्त शास्त्र को 'अध्यात्म विद्या' या 'ब्रह्मज्ञान' भी कहते हैं। जो वास्तविक ज्ञान है उसे परा संवित् कहते हैं।

संसार में ज्ञान के लिये तीन बातें वर्तमान रहती हैं। कोई जानने वाला होता है (ज्ञाता), कुछ बात जानी जाती है (ज्ञेय) और कुछ जानकारी प्राप्त होती है (ज्ञान)। इस प्रकार संसार में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान पृथक् पृथक् होते हैं। परब्रह्म की जानकारी इससे भिन्न प्रकार की है। वहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान अलग नहीं होते। जो ज्ञाता है (आत्मा) वही ज्ञेय भी हैं (परंब्रह्म) और वही ज्ञान भी है (परा संवित्)। श्रुतियों मे कहा है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है—ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। और ब्रह्म क्या है? विशुद्ध चित्स्वरूप। सो, एक बार ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भेदबुद्धि समाप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो जो संवित है, जो संवेत्ता है और जो संवेदन है वह सब एक ही हैं। परासंवित की प्राप्ति केवल व्यवहार की भाषा है। परा संवित् स्व-संवेदन ज्ञान है। स्वयं स्वय को देखना ही स्वसंवेद है। यही पराविद्या है, यही परासंवित् है। इसीलिये जिस परतत्व को वेदान्त में ब्रह्म कहा जाता है, और शैवागमों में शिव कहा जाता है, उसे 'स्वयं' नाम दिया जाता है—स्वयं स्वयं का प्रकाशक, स्वयं स्वय का ज्ञाता और स्वयं स्वयं का ज्ञान :—

कार्य-कारण-कर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलं ।
अव्यक्तं परमं तत्वं स्वयं नाम तदा भवेत् ॥

इस अभेदमूलक आत्मज्ञान ने आगे चलकर सांख्य योग में प्रथित निर्गुण आत्मज्ञान को प्रभावित किया है। आगमशास्त्रों में अनेक प्रकार से इस परासंवित् की महिमा बताई गई है। अनेक साधनाओं के बाद चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, तब वस्तुतः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है। वही महानन्दावस्था है। उसे केवल संवित्मात्र, स्वसंवेद्य, स्वप्रकाश, स्वप्रबोध आत्मतत्व साक्षात्कार होता है। फिर साधक नित्य अस्खलित भाव से उस अवस्था में स्थित हो जाता है और नानात्व का भेद-बुद्धि का, अवसान हो जाता है। 'सिद्धसिद्धांत पद्धति' में इसी भाव को बताने के लिए कहा गया है—

निजावेशात् सम्यङ् निविड़तम नैरुत्थ्यविधिवत् ।
महानन्दावस्थास्फुरति विततां काऽपि सततम् ॥
ततः संविन्निर्त्यामलसुख चमत्कारजनकः ।
प्रकाशप्रोद्बोधो यदनुभवतो भेदविरहः ॥

यह विद्या किसी शास्त्र के द्वारा नहीं समझाई जा सकती। अधिक-से-अधिक उसकी ओर इंगित किया जा सकता है। यह अनुभवैकगम्य है, स्वसंवेद्य है।

स्वसंवेदन ज्ञान ही सूक्ष्मवेद है—शब्द रूप में भी और अर्थरूप में भी। परन्तु नाथयोगी प्रणव या ओंकार को ही सूक्ष्मवेद मानते हैं। इसका क्या अर्थ है ? आत्मज्ञान के लिये आवश्यक है कि अनात्म वस्तु का ठीक-ठीक स्वरूप समझ लिया जाय। अभेद का ज्ञान तभी हो सकता है जब ठीक ठीक मालूम हो जाय कि यह प्रपचात्मक भेद क्यों ऐसा दिखाई दे रहा है। इसके लिये शास्त्रों में इस भेदात्मक विश्व का कारण समझाया गया है। यह प्रपंच कैसे बना ? बना तो क्या; अवभासित हो रहा है। इसकी भासमानता की क्या प्रक्रिया है।

कोई नहीं बता सकता कि परिदृश्यमान विश्वप्रपंच कब शुरू हुआ। इसीलिये यह अनादि कहा जाता है। श्रुति से जाना जाता है कि सच्चिदानन्द परब्रह्म को इच्छा हुई कि "मैं एक हूँ अनेक होऊँ"—"एकोऽहं बहुस्याम्"। क्यों उसे इच्छा हुई ? उसे किस बात का अभाव था ? कोई नहीं बता सकता। यह उसकी लीला है। यही इच्छा प्रथम स्पन्द है। ज्ञान से इच्छा हुई और इच्छा ने क्रिया का रूप धारण किया। इस प्रकार ज्ञान-इच्छा-क्रिया का क्रम शुरू हो गया। वस्तुतः सारा जगत् ज्ञान-इच्छा क्रिया रूप में त्रिपुटीकृत है। शाक्त आगमों में इस त्रिपुटीकरण वाली शक्ति को ही 'त्रिपुरा' कहा गया है। ब्रह्म को यह एक शक्ति है। शैव आगमों में परब्रह्म को ही 'परशिव' कहते हैं।

इस वेदवाक्य के आधार पर ही समस्त आस्तिक दर्शन सृष्टि-प्रपंच की व्याख्या करते हैं। ज्यों ही ब्रह्म में इच्छाशक्ति का आविर्भाव हुआ त्योंही वह सगुण हो

गया। सृष्टि का हेतु यह सगुण ब्रह्म ही है। वेदान्त इसी को अपरब्रह्म कहता है और शैवागम अपरशिव। यही प्रथमा कला का प्रादुर्भाव होता है; इसलिये शैवागम इसे 'सकल' परमात्मा कहते हैं। सकल अर्थात् कलायुक्त। सच्चिदानन्द-विभव परब्रह्म या परमशिव से सगुण अपरब्रह्म या सकल परमेश्वर तक आने की स्थिति तक कितने ही रूपों की कल्पना की जा सकती है। पर (सुप्रीम) तत्त्व क्रमशः सूक्ष्म (सट्ल) और फिर क्रमशः स्थूल (ग्रॉस) रूप में व्यक्त हो रहा है। एक रूप से दूसरे तक पहुँचने की अन्तर्वर्ती अवस्थाएँ अनेक होंगी। अनन्त हो सकती हैं। साधना-मार्ग के यात्रियों ने अपने अनुभव अनेक प्रकार के बताये हैं। मूल बात यह है कि सगुण ब्रह्म या सकल परमात्मा में जो इच्छा हुई वह एक प्रकार का स्पन्द या कम्पन (वाईब्रेशन) है, उपनिषदों की भाषा में 'एजन' है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शब्द या नाद कम्पन का ही मूर्तरूप है। इसलिये शैव और शक्ति आगमों में ब्रह्म की (या शिव की) इस इच्छा को 'नाद' कहते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य अपने कानों से जो शब्द सुनता है वह स्थूल है बहुत स्थूल। केवल बौद्धिक दृष्टि से हम उस प्रथम सूक्ष्म स्पन्द की बात सोच सकते हैं। इच्छा ही नाद है। इच्छा के साथ क्रिया लगी है। क्रिया को ही बिन्दु कहते हैं। 'शारदातिलक' (१.७) में कहा गया है कि सच्चिदानन्द विभव शिव सकल (कला सहित, सगुण) परमात्मा के रूप में प्रकट हुए और उन्हीं की शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ और नाद से बिन्दु की उत्पत्ति हुई—

सच्चिदानन्दविभवात् संकलात् परमात्मनः।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तमाद्बिन्दुसमुद्भवः।

सकल परमात्मा की इस शक्ति को ज्ञानशक्ति कहते हैं। नाद इच्छाशक्ति है, बिन्दु क्रियाशक्ति है। यही ज्ञान-इच्छा और क्रिया का त्रिकोण है। नाद या इच्छाशक्ति गति है, बिन्दु या क्रियाशक्ति स्थिति। गति और स्थिति मिलकर रूप या आकार प्रकट करते हैं।

यद्यपि यह परम सूक्ष्म तत्त्व है, स्थूल उच्चरित शब्द से उसका ठीक-ठीक तात्पर्य नहीं समझा जा सकता पर लाचारी यह है कि उसको मानस पटल पर ले आने का साधन तो हमारे पास यही स्थूल शब्दों वाली भाषा है। सो, जब हम उस तत्व को समझाने के लिये भाषा का प्रयोग करते हैं तो सारी बात उसमें अँटती नहीं। इसलिये ऐसे प्रसंगों में भाषा को साधनमात्र मानना चाहिए। उसकी सीमा में नहीं उलझना चाहिए। यहाँ स्थूल शब्दों में इस बात को समझने का प्रयत्न किया जा रहा है। मान लीजिये प्रथम स्पन्द नादरूप में प्रकट हुआ। हमारे पास सबसे सूक्ष्म अक्षर अ-कार है। सबसे स्थूल ओष्ठ्य वर्णों का अन्तिम म-कार है जो ओष्ठों को तो शब्द कर ही देता है, नाक तक की सहायता लेता है। अब, हमारा जाना हुआ मूलस्वर या नाद अ-कार ही है। मान लीजिये, प्रथम स्पन्द 'अ' रूप में गतिशील हुआ। यदि सिर्फ गतिशील ही रहे तो कम्पन या स्पन्द नहीं होगा। स्थिति भी चाहिए। नाद ही

गति है बिन्दु ही स्थिति है। गति और स्थिति का विलास ही जगत् है। सो गति रूप नाद सृष्टि के लिये आवश्यक है, उसके साथ बिन्दु भी। मकार अनुस्वार या चंद्रबिंदु रूप में ही तो बदलता है। अब 'अ' स्वर 'म्' व्यंजन से रुद्ध हुआ। कंठ से ओष्ठ तक उसे यात्रा करनी पडी और ओष्ठ बन्द हो गए। बन्द होते होते वह 'उ' जैसा हो जाएगा। इस प्रकार अ-उ-म् प्रथम स्पन्द हुआ। पर समाप्त नहीं हुआ। यह तो कम्पन है, चलता ही रहेगा। एक बार उठकर बन्द हो गया तो फिर कम्पन कैसा ? अ-उ-म् के इस अक्षरत्रय का मिलित रूप है 'ओम्'। स्थूलवर्णों से समझाया गया है, इसलिये इसके स्थूल उच्चारण पर ही ध्यान जायगा। परन्तु यह समझाने का एक तरीका भर हैं। प्रथम विश्व-ब्रह्माण्डव्यापी स्पन्द (कास्मिक वाईब्रेशन) कुछ इसी प्रकार का—लेकिन अत्यन्त सूक्ष्म रूप में—होगा इसीलिए यह ओंकार विश्व का आरम्भ हैं। सगुणब्रह्म का यह नवरूप है। 'नव', 'नवीन' आदि शब्द बहुत अच्छे नहीं हैं। क्योंकि जो नया होता है वह पुराना भी हो जाता है। प्रथम नया स्पन्द कभी पुराना नहीं हुआ। वह प्रति क्षण नित्य स्पन्दित हो रहा है। इसलिये केवल 'नव' कहना ठीक कहना नहीं है —वह 'प्रणव' है—'नवंनवं जायमान' है। स्वयंवेद्य ज्ञान का यह प्रथम व्यक्त रूप है। कोई आश्चर्य नहीं कि नाथ-साधकों ने इसे 'सूक्ष्मवेद' कह दिया। कबीरदास इस रहस्य को जानते थे। वे जानते थे कि जो आदि ओंकार को ठीक-ठीक जानता है वह सृष्टि और प्रलय के रहस्य को उस रहस्य के उस मूलकर्ता को जो लिख कर मिटाया करना है, जानता है। 'ज्ञान चौंतीसा' में इसीलिए उन्होंने कहा है—

ओं ओंकार आदि जो जाने। लिखि के मेटे सो सोई जाने॥

इसी आरंभिक समष्टिव्यापिनी वाक् को 'श्रीमद्भगवद्गीता' में 'एकाक्षर ब्रह्म' कहा है। एक ही कम्पन या स्पन्द के रूप को स्पष्ट करने के लिये इसे 'एकाक्षर' कहा है। नाथ-साधक जब कहते हैं कि सारी सृष्टि ओंकार से हुई है तो वे शैव और वेदान्त दर्शनों की भाषा में बोलते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि जिस स्वसंवेद्य अर्थ को इसके द्वारा प्रकट करना अभीष्ट था वह इसके द्वारा पूरा व्यक्त नहीं हुआ। स्वसंवेद्य ज्ञान में ज्ञातृ-ज्ञेय-भेद मिट गया रहता है पर ओंकार या एकक्षरात्मक स्पन्दन या एजन में वह भेद आरम्भ होता है। प्राकृत के शब्द का संस्कृतीकृत रूप 'सूक्ष्मवेद' नाथ-साधकों के यहाँ अर्थान्तर में संक्रमित हुआ है।

आगमों में ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति को ही बीज, नाद, बिन्दु कहा गया है। आधिदैविक भाषा में कहें तो ये ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। इस त्रिधा-विभाजित शक्तित्रय के अधिष्ठातृ देवता ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। सृष्ट करने को उद्यत अपरब्रह्म ही के ठीक पूर्व की निष्कलुष अवस्था को निरंजन कहा जाता है। निरंजन ही सकल परमात्मा या अपरब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त होता है।

परंब्रह्म या परशिव से अपरंब्रह्म या सकल परमात्मा तक की परिणति का व्यवहार में काई विशेष उपयोग नहीं है। पर मध्यकाल के आगमों और निर्गुणमार्गी

साहित्य में मध्यवर्ती अवस्थाओं की कल्पना की गई है और उन कल्पनाओं के आधार पर अविकसित बुद्धि के अनुयायियों ने पौराणिक गप्प लिखे हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है परंब्रह्म से निरंजन तक की यात्रा की सैकड़ों अवस्थाओं की कल्पना की जा सकती है। कुछ की भी गई है। उदाहरण के लिये नाममत को लिया जाय। जब शिव में कार्यकरण का कर्तृत्व नहीं होता अर्थात् कार्यकरण के चक्र के संचालन कर्म से विरत हो जाते हैं तब वे कुल और अकुल के भेद से परे हो जाते हैं और अव्यक्तावस्था में विराजमान रहते हैं। इसलिये इस अवस्था में उन्हें शास्त्रकारगण 'स्वयं' कहकर स्मरण करते हैं।[1]

इस परमशिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें 'सगुण' शिव कहा जाता है। पहले बताया जा चुका है कि यह इच्छा (=सिसृक्षा=सृष्टि करने की इच्छा) ही शक्ति है। अब इस अवस्था में परमशिव से एक ही साथ दो तत्व उत्पन्न होते हैं—शिव और शक्ति। वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई स्फुरित होती है। (१) परमशिव की अवस्थामात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्ती, और प्रायः स्फुरित होने की उपक्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है। इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखो शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते हैं। शिव की इस अवस्था का नाम 'अपरंपदम्' है। धीरे-धीरे शक्ति क्रमशः (२) स्फुरण की ओर उन्मुख होती हैं, फिर (३) स्पन्दित होती है, फिर (४) सूक्ष्म अहन्ता (=मैं-पन अर्थात् अलगाव का भाव) से युक्त होती है और अन्त में (५) चेतनशीला होकर अपने अलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएँ क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली कही जाती है[2] इन अवस्थाओं में शिव भी क्रमशः परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध होते हैं।[3] इस प्रकार निखिलानन्द सन्दोह शिव पाँच अवस्थाओं से गुजरते हुए प्रथम तत्व परमात्मा या सगुणशिव के रूप में प्रकट हुए और शक्ति भी पाँच अवस्थाओं से अग्रसर होती हुई द्वितीय तत्व कुण्डली या

---

१. कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम।
अव्यक्तं परमं तत्वं स्वयं नाम तदा भवेत्॥
—सि० सि० १।८ सन्त १।४।

२. निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पंचधा।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिंडः शिवे॥
—सि० सि० सं० १।१३।

३. ततोऽस्मितापूर्वमाविमात्रं स्यादपरं परम्।
तत्स्व सर्वेदनाभासमुत्पन्नं पस्मं पदम्॥
रवेच्छामांत्रंततः शून्यं सत्तामात्रं निरंजनम्।
तस्मात्ततः रवसाक्षादभूः परमात्मपदं मतम्॥ वही, १।१४-१५।

कुण्डलिनी के रूप में प्रादुर्भूत हुई। यह कुण्डली समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है, इसी की इच्छा से, इसी की सहायता से, शिव इस विश्वप्रपंच की उत्पत्ति पालन और विलय में समर्थ होते हैं। यही परमात्मा और कुण्डली—शिव और शक्ति—प्रथम दो सूक्ष्म तत्व हैं। इनसे ही अत्यन्त सूक्ष्म 'परपिण्ड' की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार नीचे लिखी सारणी से शिव और शक्ति के स्फुरण का विकास स्पष्ट हो जायगा—

स्वयं (पर) शिव

अपर-१	१-निजा
पर-२	२-परा
शून्य-३	३-अपरा
निरंजन-४	४-सूक्ष्मा
परमात्मन्-५	५-कुण्डली

इसी प्रकार की योजना अन्य आगमों में भी मिलता है। शब्द सब समय स ान नहीं होते पर मतलब सबका एक ही होता है—परशिव का अपरशिव में परिणत होने के अनेक उपक्रम। इसी प्रकार कहा जा सकता है कि ब्रह्म या परतत्व के प्रथम उपक्रम को सहज नाम दिया जा सकता है। उसमें कोई भी वैशिष्ट्य नहीं आया परन्तु वैशिष्ट्य अंकुरित होने की प्रक्रिया शुरू हो गई है। परब्रह्म का यह दूसरा रूप सहज है, तीसरा अंकुर। फिर अंकुर रूप में प्राप्त होने को स्थिति इच्छा कही जा सकती है। इच्छा होते ही अत्यन्त सूक्ष्म रूप से आरंभिक इदंता और अहंता का योगसूत्र 'सोऽहं' वृत्ति की अभिव्यक्ति होगी और इससे इदं और अहं का अचिन्त्य ऐक्य स्वयं अभिव्यक्त होता रहेगा। सृष्ट्युक्त परंब्रह्म निरंजन के पूर्व की अवस्था 'अक्षर'—जो अभी तक निज रूप से क्षरित नहीं हुई है कही जा सकती है। इस प्रकार से संग्रह श्लोक बनेंगे—

सहजानन्द विभवं यत्तत्त्व परतः परम्।
सकलत्वं गम्यमानं सहजं भावमास्थितम्।
अंकुरत्वं व्रजत्यस्मात् परेच्छा संप्रवर्तते।
इदताऽहन्तयोर्योग परं सोऽहमुदीर्यते।
अचिन्त्यरूपतां याति अक्षरं च ततोभवेत्।
तस्मात् सृष्टयै यतन् देवो निरंजन इहोच्यते॥

अर्थात् सहजानन्द परतत्व से क्रमशः सहज—अंकुर—इच्छा—सोऽहं—अचिन्त्य—अक्षर—निरंजन प्रादुर्भूत हुए। यही वह क्रम है जो ऊपर कबीर मनसूर में बताया गया है। कबीर मनसूर में वह अविकसित मस्तिष्क के अधिकारियों की दृष्टि में रख कर पौराणिक शैली में कहा गया है। आध्यात्मिक सत्य को आधिदैविक भाषा में कहने वाली शैली को ही पौराणिक शैली कहा जाता है। इस शैली में इन, अपरब्रह्म या निरंजन भाव तक की, अवस्थाओं को लोक-विशेष के रूप में कहा गया है और उन लोकों के अधिष्ठातृ-देवता के रूप में ब्रह्म के तत्तत् स्वरूप को बैठा दिया गया है। पुराणों में और संहिताओं में व्यापक रूप से इस शैली का प्रयोग मिलता है।[1]

योगसूत्र (१.२७) में प्रणव अर्थात् ओंकार को ईश्वर का वाचक कहा गया है। भाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि प्रणव ईश्वर का वाचक है और ईश्वर उसका वाच्य है तो यह वाच्य-वाचक सम्बन्ध किस प्रकार का है? क्या वह संकेत-कृत है अथवा प्रकाश-प्रदीप की भाँति अवस्थित है? इसका शंका का तात्पर्य यह है: कुछ पदार्थ हैं जिनमें पद या नाम का संकेत किसी एक शब्द के द्वारा होता है; जैसे घट। घट शब्द कहने से घड़ारूप पदार्थ का बोध होता है परन्तु यदि घट शब्द का उच्चारण न किया जाय तो भी घड़ारूप पदार्थ ज्यों का त्यों बना रहता है। अर्थात् घट पद के बिना भी घट पदार्थ के ज्ञान में कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती। परन्तु कुछ दूसरे पदार्थ ऐसे हैं जिनके लिये शब्दमय चिंतन की आवश्यकता होती है। संकेत उसमें

---

१. उदाहरणार्थ विश्वनाथ सिंह की बीजक टीका (पृ० २४०) में उद्धृत 'सदाशिव संहिता' के ये वचन—

सौमित्रिरुवाच—
महर्लोकः क्षितेरुर्ध्वमेककोटिप्रमाणतः।
कोटिद्वयेन विख्यातो जनलोको व्यवस्थितः।
चतुष्कोटिप्रमाणं तु तपोलोको विराजितः।
उपरिष्टात्ततः सत्यमष्टकोटिप्रमाणतः।
आयुः प्रमाणं कौमारं कोटिषोड़शसंभवम्।
तदूर्ध्वोपरि संख्यातं ध्रमालोको सुनिष्ठितम्।
शिवलोकस्तदूर्ध्वं तु प्रकृत्या च समागतम्।.....
तदूर्ध्वं सर्व सत्वानां कार्यकारणमानिनाम्
निलयं परमं दिव्यं महावैष्णवसंज्ञकम्।.....
यदूर्ध्वं तु परं दिव्यं सत्यलोकं व्यवस्थिम्
न्यासिनां योगिनां स्थानं भगवद्मांवितात्मनाम्।
महाशंभुमदतेऽत्र सर्वशक्ति समन्वितः।
तदेर्ध्वं तु स्वयं भातं गोलाकं प्रकृतेः परम्। —इत्यादि

भी है किन्तु उस नाम का अर्थ तद्विषयक सम्पूर्ण सम्बन्धों के चिन्तन से ही अवगत हो सकता है; जैसे पिता। पिता एक सम्बन्ध विशेष है। इसका अपने आपमें कोई अर्थ नहीं है। कोई व्यक्ति विशेष किसी व्यक्ति विशेष का पिता होता है। इसलिये पिता शब्दार्थ एक प्रकार के अनुव्यवसाय की अपेक्षा रखता है। पिता शब्द का अर्थ वस्तुतः प्रदीप और प्रकाश के समान है। जिस प्रकार प्रदीप होने से प्रकाश का भान होता है। उसी प्रकार किसी अन्य व्यक्ति के सम्बन्ध में पिता शब्द का शब्दार्थ ज्ञात होता है। शब्दमय चिन्तन के अभाव में पिता शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं होगा। इसी लिये भाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि प्रणव क्या ईश्वर का उसी प्रकार से वाचक है जिस प्रकार 'घट' पद 'घड़ा' पदार्थ का या इस शब्द का संकेत शब्दमय चिन्तन के द्वारा होता है जिस प्रकार पिता और प्रकाश शब्द का हुआ करता है। भाष्यकार का कहना है कि प्रणव अर्थात् ओ३म् शब्द ईश्वर का संकेत है—अवस्थित विषय के ले आने या प्रकाशन करने के अर्थ में इसके बाद दूसरा प्रश्न यह है कि प्रणव क्या उसी प्रकार का संकेत है जिस प्रकार अन्य पदार्थों के संकेत हुआ करते हैं? अनेक दार्शनिक संप्रदायों में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नहीं माना जाता। एक ही शब्द एक भाषा में एक अर्थ में प्रयुक्त होता है, दूसरी भाषा में दूसरे अर्थ में। फिर एक काल में एक ही भाषा में किसी शब्द का प्रयोग एक अर्थ में होता है और दूसरे काल में दूसरे अर्थ में। बहुत से पदार्थों के नये नाम भी गढ़ लिये जाते हैं। ठीक है, लेकिन सब होने पर भी शब्द और अर्थ का संकेत केवल व्यक्तिगत इच्छा का विषय नहीं है, वह एक प्रकाश की सामाजिक स्वीकृति चाहता है। गुलाब के फूल को कोई यदि पद्म नाम चाहे तो नहीं दे सकता, क्योंकि अधिकांश मनुष्यों के चित्त में पद्म शब्द दूसरे अर्थ में संकेतित है। अब प्रश्न यह है कि यह प्रणव या ओ३म् क्या ईश्वर के पतञ्जलि मुनि ने संकेतिक कर दिया है या अन्य शब्दों की भाँति इसे भी सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है। इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि सम्प्रतिपत्ति की नित्यता के कारण शब्दार्थ का सम्बन्ध भी नित्य होता है, ऐसा आगमशास्त्र के जानकार लोग कहते हैं। सम्प्रतिपत्ति का अर्थ टीकाकारों ने समान व्यवहार की परम्परा बताया है। मन एक शब्द का जब एक अर्थ में व्यवहार करता है तब वह व्यवहार परम्परा शुरू होती है। जहाँ तक ओंकार का प्रश्न है वह अनादि काल से इसी अर्थ में व्यवहृत होता आ रहा है। इस लिये विभिन्न सर्गों में इसी अर्थ में व्यवहृत होने के कारण ओंकार शब्द ईश्वर का वाचक नित्यरूप से होता आया है। श्रुति में भी कहा है—'एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्।' योगि याज्ञवल्क्य ने कहा है –

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः।
तस्योंकारः स्मृतोनाम तेनाहूतः प्रसीदति।।

अर्थात् परमेश्वर का रूप किसी ने देखा नहीं। वे भाव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं और मनोमय हैं। ओंकार उनका नाम स्मरण किया जाता है क्योंकि उसके द्वारा

आह्वान किये जाने पर वे प्रसन्न होते हैं कुछ लोगों का यह सिद्धान्त है कि अनादि परम्परा-क्रम से घट, पट इत्यादि शब्द अपने-अपने अर्थों में सिद्धवत् प्रयुक्त होते आ रहे हैं। इसलिये शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानना चाहिए। वे लोग भाष्यकार के 'संप्रतिपत्ति' का अर्थ उसी प्रकार की नित्यता बताते हैं। परन्तु अधिकांश टीकाकारों को यह मत ग्राह्य नहीं। वस्तुतः भाष्यकार का आशय यही जान पड़ता है कि यह नित्यता युग-युगान्तर की सामाजिक स्वीकृति के कारण है। इसी को वे सदृश-व्यवहार परम्परा कहते हैं। इसीलिये योगभाष्य के टीकाकारों ने इसे कूटस्थ-नित्यता की भाँति न बता कर एक नया शब्द 'प्रवाह-नित्यता' बना लिया है। इसका तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न युगों के व्यवहार के प्रवाह में सदा इसका इसी अर्थ में प्रयोग होने के कारण यह 'प्रवाह-नित्य है।'

परन्तु भाष्यकार ने इस नित्यता के लिए आगमवादियों को प्रमाण रूप में उपस्थित किया है। आगमों में स्पष्ट कर दिया गया है कि ओंकार घट-पटादि की तरह संकेतव्यापक शब्द नहीं है, बल्कि वह स्वयं अर्थ ही है। प्रणव, समष्टिव्यापी स्पन्द या एजन का जो रूप रहा होगा, उसी का स्थूल नाद में ऐसा उच्चारण होता है। यह वाचक नहीं है, बल्कि वाच्य का स्थूल उच्चरित नादात्मक रूप है। इसका अर्थ समष्टिगत प्रथम स्पन्द है जो नित्य नवीन तरंगों को उत्पन्न कर रहा है। परमात्मतत्व की कुण्डली-शक्ति जिस रूप में तरंगित हो रही है उसी को स्थूल रूप में श्रोत्रग्राह्य बनाने का प्रयत्न ओंकार है और उसी को नेत्र ग्राह्य या दृग्विषय बनाने का प्रयत्न कुण्डलीदण्ड, अर्धचन्द्र और विन्दु रूप में, उपस्थापित स्थूल विग्रह (ॐ) एक मोटा प्रयत्न है। यह उस अर्थ में वाचक नहीं है जिस अर्थ में घट-पटादि तत्तत् पदार्थों के वाचक हुआ करते हैं। यह वाच्य का ही प्रत्यक्ष, स्थूल विग्रह है। इस प्रकार आगमशास्त्र ओंकार या प्रणव को सृष्टयर्थ उपक्रान्त परमेश्वर का रूप ही मानते हैं। स्थूल स्पन्द यह सम्पन्न शब्द और अर्थ दोनों ही हैं। इसीलिये वे ओंकार को वेद्य या वेदक न मानकर—वाच्य या वाचक न मानकर—वेद ही मानते हैं। इसी की नित्यता 'प्रवाह-नित्यता' नहीं है बल्कि 'स्वरूप-नित्यता' है। यह स्मरण रखने की बात है कि 'पातंजल योगसूत्र' के भाष्यकार ने प्रवाह-नित्यता शब्द का व्यवहार नहीं किया, यह टीकाकारों के मस्तिष्क की उपज है। इसी प्रकार 'सदृश-व्यवहार-नित्यता' भी टीकाकारों की ही देन है। भाष्यकार तो 'सम्प्रतिपत्ति-नित्यता' शब्द का व्यवहार करते हैं—"सर्गान्तरेष्वपि वाच्य-वाचक शक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते संप्रतिपत्तिनित्यता नित्यः शब्दार्थ सम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते (१. २७)।"

ऊपर जो आगमों के अनुसार प्रणव की व्याख्या की गयी है उसके प्रकाश में देखने से 'समप्रतिपत्ति' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इसका अर्थ है कि प्रणव का परमात्मत्वत के अर्थ में व्यवहार विशिष्ट रूप से प्रतिपन्न होने के कारण नित्य है। वह किसी के द्वारा किसी समय संकेतित नहीं हुआ, बल्कि युक्ति-तर्क के द्वारा तद्रूप-सिद्ध (प्रतिपन्न) होने के कारण विशेष रूप से स्वय-सिद्धि है। परन्तु फिर भी सूत्रकार और

भाष्यकार दोनों ने 'वाच्य-वाचक' शब्द का ही प्रयोग किया ही है। पुराणों में भी शिव को या परमात्मा को 'प्रणव-वाच्य' बताया गया है। टीकाकारों ने भी लिंग पुराण का यह वचन उद्धृत किया है —'शम्भो' प्रणव-वाच्यस्य भावना तज्जापादपि।' इस प्रकार प्रणव को इन लोगों ने वाचक अवश्य स्वीकार किया है।

योगशास्त्र के अनुसार ईश्वर शुद्ध अर्थात् धर्माधर्म से रहित, प्रसन्न अर्थात् अविद्यादि क्लेशों से रहित, केवल अर्थात् मन, बुद्धि आदि से हीन, और इसीलिये अनुपसर्ग अर्थात् जाति, आयु तथा भोग से शून्य पुरुष विशेष है। वह आगमों के परमात्मतत्त्व से भिन्न है। इसलिये आगमों द्वारा वर्णित परमात्मतत्त्व पातञ्जल योग द्वारा प्रथित ईश्वरतत्त्व से स्वरूपतः भिन्न है। आगमों में ओंकार को सूक्ष्मवेद कहा गया है। इसका अर्थ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

जैसा कि ऊपर बताया गया है प्रत्येक वस्तु मोटे तौर पर तीन रूपों में प्रतिभासित हुआ करती है—पर (Supreme), सूक्ष्म (Subtle) और स्थूल (Gross)। ज्ञान भी यद्यपि अपने मूलरूप में शुद्ध ज्ञान ही है तथापि लोक में यह भी मोटी जानकारी अपेक्षाकृत सूक्ष्म जानकारी और विशुद्ध जानकारी के रूप में प्रतिभाषित होता है। जब हम किसी शब्द का वाच्य-वाचक-रूप में प्रयोग करते हैं तो यह भी एक जानकारी ही है। घट शब्द का अर्थ घड़ा है—यह एक मोटा ज्ञान है। कई बार ऐसा होता है कि कोई पद भी मालूम रहता है और उनका अर्थ भी मालूम रहता है। दोनों के सामने उपस्थित रहने पर भी उनका सम्बन्ध अज्ञात रहता है। उदाहरण के लिए कोविदार शब्द लीजिये। काव्य पढ़ने से और कोश में उसका अर्थ भी लिखा रहने से मुझे मालूम है कि यह किसी फूल का नाम है। मान लीजिये कि मैं किसी बगीचे में जाता हूँ। वहाँ कोविदार के पेड़ भी लगे हुए हैं और उनमें फूल भी हैं। वहाँ कोविदार पदार्थ मेरे सामने हैं। मुझे कोविदार पद भी मालूम है और कोविदार पदार्थ भी सामने है। परंतु जब तक कोई जानकार आदमी नहीं बता देता कि इसी का नाम कोविदार है तब तक मुझे कोविदार पद और पदार्थ के सम्बन्ध का पता नहीं चलता। इससे स्पष्ट है कि पद और पदार्थ के अतिरिक्त एक और वस्तु है जो दोनों का मेल कराती है। यही प्रत्यय है। अर्थात् पद और पदार्थ को मिलाने वाला तत्त्व-द्रष्टा का चेतन मन है। जहाँ कहीं वाच्य और वाचक होगा वहीं चेतन-द्रष्टा का यह ज्ञान उपस्थित होना चाहिए। नहीं तो अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। इस प्रकार यदि प्रणव को परमात्मा का वाचक माना जाए तो स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी चेतनतत्त्व की प्रतीति भी इसके साथ संबद्ध है। लेकिन आगमों के अनुसार प्रणव या ओंकार सूक्ष्मवेद है अर्थात् ज्ञान ही है। वह ज्ञाता नहीं है, ज्ञेय भी नहीं है। वह स्वयं ज्ञान है। दूसरे शब्दों में ज्ञेय की प्रतीति का साधन है। स्थूल-ज्ञान से वह भिन्न है। वह सूक्ष्म ज्ञान है। इसलिये उसे वाचक नहीं कहा जा सकता। परन्तु उसमें भी ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिटा नहीं है। वहाँ भी ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान-भेद बना हुआ है। इस बात को आगमों में अनेक प्रकार से समझाया गया है। अ, उ और म इन तीन अक्षरों को कभी बीज,

नाद और विन्दु कहा गया है, कभी ज्ञान, इच्छा और क्रिपा कहा गया है। ये स्थूल बीज, नाद और विन्दु से भिन्न, केवल भावरूप में वर्तमान होने के कारण सूक्ष्म है। यही कारण है कि आगमों में यज्ञ-याग का विधान करने वाले ध्वन्यात्मक वेद को स्थूलवेद कहा है। और यज्ञ-याग की साधनभूत सामग्रियों को रूप देने वाले, भावरूप में वर्तमान ओंकार रूप समष्टिगत स्पन्द को सूक्ष्मवेद कहा है। यह भी साधन है। परज्ञान नहीं है, अपरज्ञान है। परज्ञान तो परासंवित् जहाँ ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान एकमेव हो जाते हैं। वहाँ ज्ञान दृश्य या दर्शनमात्र है। वह द्रष्टास्वरूप भी है। इसीलिये परा-संवित् इससे भी अधिक सूक्ष्म है। शैवागमों में इस परासंवित् की महिमा इस प्रकार बताई गई हैं—"प्रत्येक पिण्ड में वही चंचला परासंवित् रूपायित हो रही है। प्रत्येक मनोभाव में उसी परासंवित् का रूप स्फुरित हो रहा है। और प्रत्येक बौद्धिक व्यापार में उसी परासंवित् का प्रकाश उद्भासित हो रहा है। इस प्रकार परासंवित ही संसार के स्थूल और सूक्ष्म सभी पदार्थों को रूप, प्रकाश और बोध के रूप में प्रकाशित हो रही है।

१२

गोरक्षनाथ के समसामयिक और परवर्ती सिद्ध

नाथपंथ के चौरासी सिद्धों में से कई वज्रयानी परम्परा के सिद्ध हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन उभय सामान्य सिद्धों में से कुछ तो गोरखनाथ के पूर्ववर्ती होंगे और कुछ समसामयिक ! गोरखनाथ के अप्रतिद्वन्द्वी व्यक्तित्व और अप्रतिहत प्रभाव को देखते हुए यह अनुमान करना अनुचित नहीं है कि उसके बाद का कोई भी ऐसा व्यक्ति नाथ-परम्परा का सिद्ध नहीं माना गया होगा जो सम्पूर्ण रूप से उनका अनुयायी न हो। जिन सम्प्रदाय-प्रवर्तक सिद्धों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं उनके अतिरिक्त निम्नलिखित सिद्धों के विषय में नाना मूलों से हम कुछ जानकारी संग्रह कर सके (अधिकांश में यह बातें दन्तकथाओं पर ही आधारित हैं पर कुछ बातें समसामयिक या परवर्ती ग्रंथों से मिल जाती हैं।)

१. चौरंगीनाथ	१३. ढैण्टस
२. चामरीनाथ	१४. चुणकर
३. तंतिपा	१५. भादे
४. दारिपा	१६. कामरी
५. विरूपा	१७. धर्मपापतंग
६. कामरी	१८. भद्रपा
७. कनखल	१९. सबर
८. मेखल	२०. सान्ति
९. धोबी	२१. कुमारी
१०. नागार्जुन	२२. सियारी
११. अचिति	२३. कमलकंगारि
१२. चम्पक	२४. चर्पटीनाथ

नीचे हम उनका संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं—

१. चौरंगीनाथ—तिब्बती परम्परा में गोरक्षनाथ के गुरुभाई माने गये हैं।[1]

---

१. गंगा : पृ० २६०

इनकी लिखी कही जाने वाली एक पुस्तक—'प्राणसंकली'—पिंडी के जैन ग्रंथ भांडार में सुरक्षित है। इसमें इन्होंने अपने को राजा सालवाहन का बेटा, मच्छंद्रनाथ का शिष्य और गोरखनाथ का गुरुभाई बताया है। इस छोटी-सी पुस्तक से यह भी पता चलता है कि इनकी विमाता ने इनके हाथ पैर कटवा दिए थे। ये ही पंजाब की लोक कथाओं के पूरनभगत हैं जिनके विषय में हम आगे कुछ विस्तार पूर्वक लिखेंगे। चौरंगीनाथ की 'प्राण संकली' की भाषा शुरू में पूर्वी है पर बाद में राजस्थानी-जैसी हो जाती है। शुरू का अंश इस प्रकार हैं—

सत्य वदंत चौरंगीनाथ आदि अन्तरि सुनौ ब्रितांत सालवाहन घरे हमारा जनम उतपति सतिमा झुट बोलीला ॥१॥ ह अम्हारा भइला सासत पाप कलपना नहीं हमारे मने हाथ पाव कटाय रलायला निरंजन बने सोष सन्ताप मने परभेव सनमुष देषीला श्रो मछंद्रनाथ गुरुदेव नमसकार करीला नमाइला माथा ॥२॥ आसीरवाद पाइला अम्हे मने भइला हरषित होठ कंठ तालुकारे सुकाईला धर्मना रूप मच्छंद्र-नाथ स्वामी ॥३॥ मन जानै पुन्य पाप मुष वचन न आवै मुषे बोलव्या कैसा हाथ रे दोला फल मुषे पीलीला ऐसा गुसाईं बोलीला ॥४॥ जीवन उपदेस भाषिला फल आदम्हे विसाला दोष बुध्या त्रिषा बिसारला ॥५॥ नहीं मानै सोक धर धरम सुमिरला अम्हे भइला सचेत के तम्ह कहारे वाले बोले पुछीला ॥६॥

स्पष्ट ही यह भाषा पूर्वी है। यदि 'प्राण संकली' सचमुच चौरंगीनाथ की रचना है तो मानना पड़ेगा कि चौरंगीनाथ पूर्वी प्रदेश के रहने वाले थे। मैं इस पुस्तिका का संपादन कर रहा हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि इसमें पुराने अंशों के साथ नये अंश भी जोड़ दिए गए हैं। जितनी भी परंपराएँ उपलब्ध हैं वे सभी पूरनभगत को स्यालकोट (पंजाब) से ही संबद्ध बताती हैं। 'तनजुर' में चौरंगिपा की एक पुस्तक है जिसका नाम है 'तत्त्व भावनोपदेश'। ठीक इसी नाम की एक पुस्तक गोरक्षपाद की भी बताई जाती है। इतना यहाँ और उल्लेख योग्य है कि 'प्राण संकली' नामक एक छोटी-सी रचना भी गोरखनाथ की मानी जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि चौरंगीनाथ नामक किसी पूर्व देशीय सिद्ध की कथा से पूरनभगत की कथा का साम्य देखकर दोनों को मान लिया गया है।

२. **चामरीनाथ**—सम्भवतः तिब्बती परम्परा के चौसठवें सिद्ध चँवरिपा के अभिन्न हैं जिन्हें मगधदेश का रहनेवाला घी-विक्रेता बनिया जाति में उत्पन्न और गोरक्षनाथ का परवर्ती बताया गया है।

तंतिपा—तेरहवें वज्रयानी सिद्ध तंतिपा हैं। इन्हें तिब्बती परम्परा में मगध देश का ब्राह्मण और जालंधरपाद का शिष्य कहा जाता है। राहुलजी ने 'गंगा के पुरातत्त्वांक में एक स्थान पर इन्हें मगधदेशवासी ब्राह्मण (पृ० २२१) लिखा है और दूसरी जगह अवन्ती देश का तांती (पृ० २५६)। नाम देखने से दूसरी ही बात

ज्यादा विश्वसनीय जान पड़ती है। कभी कभी इन्हें ढेण्ढणपाद से अभिन्न भी माना गया है जो ठीक नहीं जान पड़ता।

४. **दारिपा**—संभवतः वज्रयानी सिद्ध (नं० ७७) दारिकपा से अभिन्न हैं। इन्हें उड़ीसा का राजा बताया गया है। जब परम सिद्ध लुईपा (लूहिपा) उधर गए तो ये इनके ब्राह्मण मंत्री उनके शिष्य हो गये। गुरु ने इन्हें वेश्या दारिका (वेश्या-की कन्या) की सेवा का आदेश दिया था। इस व्रत में उन्हें सफलता मिली। दारिका (लड़की) की सेवा करके सिद्धि पाने के कारण इन्हें 'दारिकपा' कहा जाने लगा। इनके निम्नलिखित पद से इनके राजा होने का तथा लुइपा का शिष्य होने का अनुमान किया जा सकता है।

राआ राआ राआ रे
अबर राअ मोहेर बाधा।
लुइ पाअ पए दारिक
द्वादश भुवनें लाधा॥

अर्थात्, 'राजा तो मैं अब हुआ हूँ और राज्य तो मोह के बंधन हैं। लुई पद के चरणों का आश्रय करने से दारिक ने चौदहों भुवन प्राप्त कर लिया है।' महामहोपाध्याय पं० हर प्रसाद शास्त्री ने इन्हें बंगला का कवि माना है'[1] और महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन ने उड़िया का[2]। इनके लोकभाषा में लिखित कई पद प्राप्त हुए हैं। भाषा उनकी निस्सन्देह पूर्वी प्रदेशों की है लेकिन वह उस अवस्था में है जिसे आज को सभी पूर्वी भाषाओं का पूर्णरूप कहा जा सकता है। सहजयोगिनी चिन्ता इन्हीं की शिष्या थीं और घंटापा शिष्य थे। 'तनजुर' में इनकी लिखी ग्यारह पोथियाँ संगृहीत हैं।

५. **विरूपा**—वज्रयानी सिद्ध तीसरे से अभिन्न। गोरक्षनाथ और कानिपा के समकालीन थे। सिद्ध नागबोधि के शिष्य थे। हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि वज्रयान और कालचक्रयान दोनों में इनकी पुस्तकें मान्य हैं। पुस्तकों में 'छिन्नमस्तासा धन', 'रक्तयमारि साधन' प्रसिद्ध हैं। इनकी चार पुस्तकें गान की हैं—'विरूपगीति का', 'विरूप तदचतुरशीति','कर्मचण्डालिका','दोहाकोष गीति' और 'विरूपवज्र गीतिका'।[3] इनके अतिरिक्त 'अमृत सिद्धि मार्ग फलान्वितापवादक' और 'सुनिष्पंच तत्वोपदेश' भी इनके लिखे हैं।[4] इनका सिर्फ एक पद मूल रूप में उपलब्ध हुआ है जो बौ० गा० दो० में और गंगा के पुरातत्वांक में भी संगृहीत है।

---

१. बौ० गा० दो० : पृ० ३०।
२. गंगा : पृ० २५१।
३. बौ० गा० दो० : पृ० २८।
४. गंगा : पृ० २५०।

६. **कमारी**—यदि वज्रयानी सिद्ध पैंतालीस से अभिन्न हों तो जाति के लुहार थे।

७. **कनखल**—वज्रयानी सिद्धयोगिनी कनखला। (नं० ६७) से अभिन्न जान पड़ती हैं। ये कृष्णाचार्यपाद (कानिपा) की शिष्या थीं। छपे 'वर्णरत्नाकर' में इनका नाम केवल षल (खल) है जो संभवतः गलती से छपा है। इसका पूर्ववर्ती भाग (कन) कान्ह के नाम के साथ जुड़ गया है।

८. **मेखल**—सिद्धयोगिनी मेखलापा (नं० ६६) से अभिन्न जान पड़ती हैं। ये भी कानिपा की शिष्या थीं। कृष्णाचार्यपाद (कानिपा) के 'दोहा कोष पर मेखला नाम की संस्कृत टीका' संभवतः इन्हीं की लिखी हुई है। तिब्बत में ये छिन्न-मस्ता देवी के रूप में पूजी जाती हैं।

९. **धोबी**—वज्रयानी सिद्ध अट्ठाईस से अभिन्न जान पड़ते हैं। सालिपुत्र (?) देश में धोबी कुल में उत्पन्न हुए थे।

१०. **नागार्जुन**—महायान मत के प्रसिद्ध नागार्जुन से ये भिन्न थे। अलबेरूनी ने लिखा है कि एक नागार्जुन उनसे लगभग सौ वर्ष पहले वर्तमान थे। साधन माला में ये कई साधनाओं के प्रवर्तक माने गए हैं। इन साधनाओं में कई बातों का खुलासा होता है। नागार्जुन, शबरपाद (सबर) और कृष्णाचार्य का काल भी मिल जाता है।

'साधन माला' में कृष्णाचार्य की कुरुकुल्ला साधना का उल्लेख है। इस कुरुकुल्ला को ध्यानी बुद्ध की अभिव्यक्ति से उद्भूत बताया गया है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य का अनुमान है कि कुरुकुल्ला की उपासना के प्रथम प्रवर्तक शबरपाद नामक सिद्ध हैं जिनका समय सप्तम शताब्दी सन् ईसवी का मध्यभाग है। ये नागार्जुन के शिष्य थे। नागार्जुन ने भी एक विशेष देवी 'एकजटा' की उपासना का प्रवर्तन किया था। 'साधन माला' में बताया गया है कि इस एकजटा देवी की साधना की नागार्जुनपाद ने भोट देश (तिब्बत) से उद्धार किया था। इसी देवी का एक नाम 'महाचीन तारा' भी है। तारा की उपासना ब्राह्मण तंत्रों में भी विहित है। 'साधन माला' में कुरुकुल्ला के भी अनेक रूपों का वर्णन है जिन में एक रूप है तारोद्भवा कुरुकुल्ला। इस प्रकार कुरुकुल्ला, एकजटा और तारा की उपासनाओं में कोई सम्बन्ध स्पष्ट ही मालूम होता है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने 'परानन्द सूत्र की भूमिका' (पृ० १०-११) में दिखाया है कि महाचीन तारा ने ही आगे चल कर हिंदुओं की चतुर्भुजी तारा (जो दस महाविधाओं में हैं) का रूप ग्रहण किया है। हिन्दू तंत्रों की उग्रा, महोग्रा, वज्रकाली, सरस्वती, कामेश्वरी आदि देवियों को तारा की ही अभिव्यक्ति बताया गया है। दस महाविद्यालयों की छिन्नमस्ता को बौद्ध वज्रयोगिनी का समशील बताया गया और कहा गया है कि इसकी उपासना के भी मूल प्रवर्तक शबरपाद ही थे। ऐसा जान पड़ता है कि कृष्णपाद या कृष्णाचार्य इस देवी के उपासक थे। कृष्णाचार्य की शिष्या मेखलापा तिब्बत में छिन्नमस्ता के रूप में पूजी जाती हैं। इससे दो बातों का अनमान होता है। प्रथम तो कृष्णाचार्य का समय निश्चित रूप से शबरपाद के बाद

सिद्ध होता है और दूसरा यह कि परवर्ती शाक्त मत के विकास में इनका बहुत बड़ा हाथ है।

'प्रबन्ध चिन्तामणि' से पता चलता है कि नागार्जुन पादलिप्त सूरि के शिष्य थे और उनसे ही इन्होंने आकाश-गमन की विद्या सीखी थी। समुद्र में पुराकाल में पार्श्वनाथ की एक रत्नमूर्ति द्वारका के पास डूब गई थी जिसे किसी सौदागार ने उद्धार किया था। गुरु से यह जान कर कि पार्श्वनाथ के पादमूल में बैठ कर यदि कोई सर्वलक्षण समन्विता स्त्री पारे को घोटे तो कोटिवेधीरस सिद्ध होगा। नागार्जुन ने अपने शिष्य राजा सातवाहन की रानी चंद्रलेखा से पार्श्वनाथ की रत्नमूर्ति के सामने पारद-मर्दन करवाया था। रानी के पुत्रों ने रस के लोभ से नागार्जुन को मार डाला था। इस कथा में कई ऐतिहासिक असंगतियाँ हैं पर इससे कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं। (१) प्रथम यह कि नागार्जुन रसेश्वर सिद्ध थे (२) दूसरी यह कि गोरखपंथियों की पारसनाथी शाखा के प्रवर्त्तक भी शायद वही हैं और (३) तीसरी यह कि वे पश्चिम भारत के निवासी थे। नागार्जुन को परवर्ती योगियों ने "नागा अरजंद" कहा है। इनके सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हैं। नाथपंथ के बारह आचार्यों में इनकी गणना है।

एक परवर्ती सिद्ध नागनाथ के साथ भी कभी-कभी इनको मिलाकर दोनों को अभिन्न मान लिया जाता है।

११. **अचिति**—वज्रयानी सिद्ध अचिन्तिपा (नं० ३८) से अभिन्न। धानरूप देश में लकड़हारे का काम करते थे। प्रसिद्ध है कि एक बार लकड़ी काट कर इन्होंने उसे एक नाग से बाँध लिया था। अपने आप में इतने मस्त थे कि उन्हें पता ही नहीं चला कि नाग है या रस्सी उपयुक्त शिष्य देखकर इन्हें जालंधर नाथ के शिष्य कानिपा ने दीक्षा दी थी।

१२. **चम्पक**—चम्पारण्य देश (आधुनिक चंपारन) के निवासी थे। 'तनजुर' में इनका एक ग्रंथ 'आत्मपरिज्ञान दृष्टि उपदेश' नाम से उपलब्ध है।

१३. **ढेन्टस**—संभवतः ढेण्ढण पाद का नाम ही विकृत होकर ढेन्टस हो गया है। बौ० गा० दो० में इनका पद संगृहीत है।

१४. **चुणकरनाथ**—डा० बड़थ्वाल ने उन्हें गोरखनाथ के समय का सिद्ध माना है। इनके कुछ पद हिन्दी में मिले हैं। इन पदों की भाषा को देखकर डा० बड़थ्वाल ने इन्हें चरपटनाथ का पूर्ववर्ती समझा है। (योग प्रवाह, पृ० ७२)

१५. **भादे**—तिब्बती परंपरा में इन्हें श्रावस्ती का ब्राह्मण और कानिपा का शिष्य कहा गया है। जाति के चित्रकार थे। बौ० गा० दो० में इनका एक पद संग्रहीत है।

१६. **कामरी**—वज्रयानी सिद्ध कंबलाँबरपाद (कमरिपा) से शायद भिन्न नहीं है। ये बौद्ध दर्शन के बड़े मान्य पंडित थे। प्रज्ञापारमिता दर्शन पर इनके चार ग्रंथ भोट भाषा में प्राप्य हैं। सुप्रसिद्ध सिद्ध वज्रघंटापाद के शिष्य और राजा इन्द्रभूति के

गुरु थे। राहुल जी ने (गंगा, पृ० २५२) इन्हें उड़ीसा देशवासी कहा है। हरप्रसाद शास्त्री इन्हें बंगला कवि समझते हैं। (पृ० ३७) वस्तुतः ये मगध में उत्पन्न ब्राह्मण थे और दीर्घकाल तक उड्डियान में रहे थे। वज्रयान के ये प्रसिद्ध आचार्य और युगनद्ध हेरुक के उपासक थे।

१७. **धर्मपापतंग**—जान पड़ता है कि धर्मपा और पतंग दो नाम हैं जो गलती से एक साथ पढ़ दिये गए हैं। इन्हीं का दूसरा नाम गुण्डरी पाद है जाति के लुहार थे। इनके पद बौ० गा० दो० में प्राप्य हैं।

१८. **भद्रपा**—तिब्बती परम्परा के अनुसार मणिभद्र देश के ब्राह्मण थे। राहुल जी का अनुमान है कि मणिधर देश, बघेलखंड का मैहर है।

१९. **सबर**—इस नाम के दो सिद्ध हो गए हैं। एक राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०) के कायस्थ लूहिपा के गुरु और दूसरे दसवीं शताब्दी के सिद्ध। दोनों को एक तूसरे से घुला मिला दिया गया है। सबर के लिखे अनेक ग्रंथ भोट अनुवाद में सुरक्षित हैं। (गंगा, पृ० २४७) पं० हरप्रसाद शास्त्री ने इनकी पुस्तक वज्रयोगिनी साधन के आधार पर अनुमान किया है कि ये उड़ीसा के राजा इन्द्रभूति और उनकी कन्या लक्ष्मीकरा के दल के आदमी थे। इन लोगों ने उड़ीसा में वज्रयान का बड़ा प्रचार किया था (बौ० गा० दो० २९)। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या सचमुच ही उड्डियान उड़ीसा ही है? इस बात का विचार हम पहले ही कर आए हैं। वज्रयोगिनी के संबंध में इनकी कई पुस्तकें हैं। इनके दो गान बौ० गा० दो० में संग्रहीत हैं।[1] डा० भट्टाचार्य ने इन्हें नागार्जुन का शिष्य माना है। उनके मत से महायान मत में जो करुकुल्ला की साधना है उसके आदि प्रवर्तक यही हैं।

२०. **सान्ति (शान्ति)**—वज्रयानी सिद्ध बारह से अभिन्न। इस नाम के अनेक सिद्ध हुए हैं (बौ० गा० दो०, पृ० २९) परन्तु दसवीं शताब्दी में एक बहुत बड़े पंडित विक्रमशिला विहार के द्वाररक्षक पंडित के रूप में नियुक्त थे। उनका नाम भी शान्तिपाद था। संभवतः नाथ सिद्ध यही होंगे। राहुल जी ने (गंगा०, पृ० २५८) लिखा है कि मगध देश में ब्राह्मणकुल में इनका जन्म हुआ था। ये इतने बड़े विद्वान् थे कि इन्हें लोग 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा करते थे। बौद्धदर्शन पर इनके लिखे अनेक ग्रंथ थे जो भोट अनुवाद में ही शेष रह गये हैं। राहुल जी ने लिखा है कि वज्रयानी सिद्धों में इतना जबर्दस्त पंडित दूसरा नहीं हुआ।

२१. **कुमारी**—संभवतः वज्रसिद्ध कुमारिपा से अभिन्न है।

२२. **सियारी**—वज्रयानियों के एक सिद्ध का नाम शृगालीपाद है जो मगध के शूद्रकुल में उत्पन्न हुए थे और महाराज महीपाल (९७४-१०२६ ई०) के राज्यकाल में वर्तमान थे। सियारी और ये अभिन्न हो भी सकते हैं।

२३. **कमल कंगारी**—जान पड़ता है ये दो सिद्ध हैं, गलती से हरप्रसाद शास्त्री

---

१. परानंदसूत्र की प्रस्तावना : पृ० १०-११।

महाशय ने एक में लिख दिया है। वज्रयानी सिद्धों में एक कमलपा या कपालपा हो गए हैं जो दसवीं शताब्दी में वर्तमान थे और संभवतः बंगाल में शूद्रकुल में उत्पन्न हुए थे। छपे हुए 'वर्णरत्नाकर' में कमल और कंगारी दो सिद्ध माने गए हैं।

२४. **चर्पटीनाथ**—डा० मोहनसिंह ने पंजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी की ३७४ नं० की हस्तलिखित प्रति से चर्पटीनाथ के नाम पाई जाने वाली एक कविता अपनी पुस्तक के परिशिष्ट (पृ० २०) में उद्धृत की है और इसका अंग्रेजी भाव भी दिया है। इसमें एक लक्ष्य करने योग्य बात यह है कि चर्पटीनाथ ने भेष के जोगी को बहुत महत्त्व नहीं दिया है, आत्मा का जोगी कहलाने को ही बहुमान दिया[1] है। इसके अन्त में वाह्याचार धारण करने वाले अन्य संप्रदायों की व्यर्थता भी बताई गई है। जब काल की घटा सिर पर चढ़ आएगी तो स्वेत या नील पट या लंबी जटा, या तिलक या जनेऊ कुछ भी काम नहीं आएगा। इन वाह्याचारों के साथ कान फाड़ने वालों को भी एक ही सुर में सावधान किया गया है।

इक सेति पटा इक नीलि पटा, इक तिलक जनेऊ लबि जटा।
इक फीए एक मोनी इक कानि फटा, जब आवैगी कालि घटा।

इससे मिलता-जुलता पद हिंदू विश्वविद्यालय की एक प्रति से डा० मोहनसिंह ने ही संग्रह किया है।[2] उसमें कान फाड़ने वालों की बात नहीं है, पर उन सिद्धों को सावधान किया गया है जो हठ करके तप करते हैं।

इस संसार कंटिओं की बाड़ी
निरख निरख पगु धरना।
चरपटु कहै सुनहु रे सिधो
हठि करि तपु नहिं करना॥

श्री संत संपूर्णसिंह ने तरनतारन से 'प्राणसंगली' छपाई है उसमें चरपटीनाथ तथा गुरु नामक देव की बातचीत छपी है। उसमें भी यह पद है—

---

१. सुधु फटकि मनु गिआनि रता। चरपट प्रणिवै सिध मता।
वाहिरि उलटि भवन नहिं जाउ। काहे कारनि कांननि का चीरा खाउ।
विभूति न लगाओ जिउतरि उतरिजाइ। खर जिउ धूड़ि लेटे मेरी बलाई।
सेली न बाँधो लेवों ना भ्रिगानी। ओढउँ ना खिथा जो होइ पुरानो।
पत्र न पूजो उड़ा न उठावी। कुत्ते की निआईं माँगने न जावो।
बासी करि के भुगति न खाओ। सिंघिआ देखि सिंगी न बजाओ।
दुआरि दुआरे धूआ न पाओ। भेखि का जोगी न कहावो।
आतिमा का जोगी चरपटनाउ।

२. पृ० २३।

इक पीत पटा इक लंब जटा, इक सूत जनेऊ तिलक ठटा।
इक जंगम कही अै भसम घटा, जउलइ नहीं चीनै उलटि घटा॥
तब चरपट सगले स्वांग नटा।

—अध्याय ७६, पृ० ७८४

यहाँ प्रसंग से ऐसा जान पड़ता है कि चरपटनाथ रसायन सिद्धि की खोज़ में थे और निराश हो चुके थे। इस पद का भाव यह है कि वेश बनाने से क्या लाभ, सभी वेश तब तक स्वांग मात्र हैं जब तक उनसे मृत्यु को जीतने में सहायता न मिले। यदि मृत्यु पर विजय ही नहीं मिली तो इन टंटों से क्या लाभ? और मृत्यु पर विजय केवल रसायन से ही हो सकती है। सारी वार्ता रसायन के विषय में ही है।

इनके अतिरिक्त एक और अतिच्छिन्न हस्तलेख से भी कुछ अंश संग्रह करके डा० मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक में छपाया है। इन सारे वाक्यों को पढ़ने से दो बातें बहुत स्पष्ट है: (१) चर्पटीनाथ वाह्य वेश के विरोधी थे और (२) कनफटा संप्रदाय में रहकर भी उसकी वाह्य-प्रक्रियाओं को नहीं मानते थे। यह प्रवृत्ति नाथ-मार्ग में कब आई, यह विचारणीय है। 'वर्णरत्नाकर' में चर्पटीनाथ का नाम आने से इतना तो स्पष्ट है कि चौदहवीं शताब्दी के पहले वे अवश्य प्रादुर्भूत हो चुके थे। 'प्राणसंगली' के वार्तालाप से यह भी मालूम होता है कि वे रसायन-सिद्धि के अन्वेषक थे। इस पर से सिर्फ इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि वे गोरक्षनाथ के थोड़े परवर्ती थे, संभवतः रसायनवादी बौद्ध सिद्धों के दल से आकर गोरक्षनाथ के प्रभाव में आए थे और अन्त तक वाह्य वेश के विरोधी बने रहे।

उनसठवें वज्रयानी सिद्ध का नाम भी चर्पटी है। तिब्बती परंपरा में उन्हें मीनपा का गुरु माना गया है। परन्तु नाथ-परंपरा मे इन्हें गोरखनाथ का शिष्य माना जाता है। एक अनुश्रुति के अनुसार गोरक्षनाथ के आशीर्वाद से उत्पन्न हुए थे। मीन चेतन में इन्हें कर्पटीनाथ कहा गया है। इनके 'चतुर्भवाभिवासन क्रम' का तिब्बती अनुवाद प्राप्य है। रज्जबदास के 'सरबंगीग्रंथ' में इन्हें चारणी के गर्भ से उत्पन्न बताया गया है। डा० बड़थ्वाल ने लिखा है कि चंबा रियासत की राजवंशावली में इनकी चर्चा आती है। बोगेल और ओमेन ने बताया है कि चंबा के राजप्रासाद के सामने वाले मंदिरों में चर्पट का मंदिर है जो सूचित करता है कि अनुश्रुतियों का राजा साहिल्ल देत सचमुच ही चर्पट का शिष्य था (योग प्रवाह, पृ० १८३ और आगे) इनके कुछ हिंदी पद 'योग प्रवाह' में संगृहीत हैं।

२. परवर्ती सिद्ध

सं० २०१४ वि० काशी नागरी प्रचारिणी सभा से 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है (सं०—ह० प्र० द्विवेदी)। इसमें निम्नलिखित सिद्धों की कही जानेवाली वाणियाँ हैं।

(१) अजयपाल जी
(२) काणेरी (सती, पाव)
(३) गरीबजी
(४) गोपीचन्द्र जी
(५) घोड़ाचौली
(६) चरपटनाथ
(७) चौरंगीनाथ
(८) चौणकनाथ (चुणकर नाथ)
(९) जलन्ध्री पाव
(१०) दत्त जी (दत्तात्रेय)
(११) देवल जी
(१२) धूंधलीमल जी
(१३) नागाअर्जनजी
(१४) पार्वतीजी
(१५) पृथ्वीनाथजी
(१६) बालानाथजी
(१७) बालगुन्दाई
(१८) भरथरी
(१९) मच्छेन्द्रनाथजी
(२०) महादेवजी
(२१) रामचन्द्र जी
(२२) लषमणजी
(२३) सतवन्ती जी
(२४) सुकुल हंसजी
(२५) हणवन्त जी

इनमें महादेव-पार्वती और रामचन्द्र जी के नाम से प्राप्त रचनाओं के वास्तविक रचयिता कौन हैं, यह कहना कठिन है। इन पदों में किसी सिद्ध ने इन देवताओं के उपदेश देशी भाषा में लिख लिए होंगे, शेष में से कुछ का पता विविध स्रोतों से चल जाता है। कुछ सिद्धों के बारे में बहुत-कुछ निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि वे गोरखनाथ के समसामयिक रहे होंगे। मच्छन्द्रनाथ तो उनके गुरु ही थे, शेष में से चौरंगीनाथ, नागार्जुन, चुणकरनाथ, और चरपटी नाथ के बारे में जो सूचना प्राप्त है उनके आधार पर इन्हें गोरखनाथ का समसामयिक या थोड़ा परवर्ती माना जा सकता है।

इनमें चौरंगीनाथ, नागार्जुन, चुणकरनाथ, भरथरि, गोपीचन्द और चरपट या चरपटीनाथ के बारे में ज्ञात सामग्री का कुछ परिचय दिया जा चुका है। शेष के बारे में कुछ विचार किया जा रहा है।

१. कणेरी—इस संग्रह में काणेरी के कई पद हैं। कुछ लोग कानफा और काणेरी को एक ही सिद्ध मानते हैं। 'योगि संप्रदायाविष्कृति' में कृष्णपाद को ही कर्णरिपा या काणेरी नाथ कहा गया है। किंतु प्रेमदास ने अपनी सिद्धवन्दना में इन दोनों को अलग-अलग सिद्ध समझा है। जान पड़ता है काणेरी के दीर्घ ईकारांत रूप को देखकर परवर्ती काल में इन्हें स्त्रीसिद्ध मान लिया गया है। इनके नाम से पाए जाने वाले पद एक प्रति में सती काणेरी के नाम से मिलता है तो दूसरी प्रति में काणरी पाव के नाम से। कृष्णपाद, कान्हूपा, कानफा आदि नामों को मैंने एक ही माना है और उनके विषय में अन्यत्र विस्तार से लिखा है। ये जालंधर पाद के विषय थे और गोरखनाथ के समसामयिक थे। चर्यापदों में इनके गान मिलते हैं और उन्होंने स्वयं अपने को कापालिक कहा है। वर्तमान नाथ पंथ में इनके नाम का एक उप-संप्रदाय (वामारग, वाममार्ग) आज भी जीवित है परन्तु उसे आधा संप्रदाय ही माना जाता है। इनके

दोहों का एक संग्रह दोहाकोष नाम से हरप्रसाद शास्त्री ने छपाया था उस पर मेखला नामक संस्कृत टीका भी मिलती है जो संभवतः इनकी शिष्या मेखला की लिखी हुई है।

२. **गोपीचन्द**—गोपीचन्द या राजा गोविन्दचन्द जालंधर के नाम के शिष्य बताये जाते हैं। माता के उपदेश से इन्होंने अपनी दो सुन्दरी रानियों—उदुना और पुदुना (उदयिनी और पद्मिनी)—को छोड़कर वैराग्य लिया था। रानियों ने इन्हें फिर से गृहस्थ धर्म में प्रवेश करने का आग्रह किया था परन्तु ये वैराग्य में दृढ़ रहे। गोपी यन्त्र या सारंगी के ये ही आविष्कर्ता माने जाते हैं।

३. **भरथरी**—भर्तृहरि का प्राकृत रूप है। भर्तृहरि संस्कृत साहित्य में बहुत परिचित हैं। उनके तीन सतक काव्य मर्मज्ञों के हृदय हार बने हुए हैं। 'वाक्यपदीय' नामक व्याकरण ग्रंथ के भी ये रचयिता माने जाते हैं। संभवतः ये सन् ईस्वी की सातवीं शती के पूर्व वर्तमान थे। क्योंकि इतसिंग नामक चीनी यात्री ने जो ६७८-६८५ ई० तक बौद्ध देशों का भ्रमण करता रहा, इनके नाम और ग्रंथों से परिचित था। ह्वेनत्सांग ने भी इनकी चर्चा की है। और इन्हें बौद्ध बताया है। परन्तु इनके ग्रंथों को देखने से ये शैव ही जान पड़ते हैं। छठीं-सातवीं शताब्दी की लोकभाषा के अन्य कवियों के लिखे हुए जो नमूने प्राप्त हैं, उनसे मिलान करने पर प्रस्तुत संग्रह में भरथरी के नाम से संगृहीत पदों की भाषा आर्वाचीन मालूम होती है। जान पड़ता है कि भर्तृहरि ने लोकभाषा में कुछ पद लिखे थे जिनकी भाषा क्रमशः बदलती गई। नाथ-मार्ग में अनेक पुराने संप्रदायों के अंतर्भुक्त हो जाने के बाद भर्तृहरि के ये पद भी नाथ सिद्धों के संग्रहों में गृहीत हो गये पर उनकी भाषा बहुत बदल गई। हमारे संग्रह में उनका जो रूप उपलब्ध है वह पंद्रह शताब्दी के पहिले का नहीं हो सकता।

वैराग्य शतक कई श्लोक अत्यंत भ्रष्ट रूप में संगृहीत हैं। इनके भ्रष्ट रूप को देखकर कदाचित् भाषा विशेषज्ञों को कोई नयी बात सूझ जाय इस आशा से उन्हें ज्यों-का-त्यों संग्रह कर दिया गया है।

४. **अजयपाल**—(अजैपाल) डा० बड़थ्वाल ने इन्हें गढ़वाल का राजा माना है। इनकी रचनाओं में 'दीवान' पद मुसलिम दरबार के दीवानों की याद दिलाता है। 'तम्बा' (तम्बू कैम्प) भी इस अनुमान की पुष्टि करता है कि वे मुसलिम काल में ही पैदा हुए थे। पं० हरिकृष्ण रतूड़ी का मत है कि राजा अजयपाल ने ही राज-राजेश्वरी और सत्यनाथ दोनों मन्दिरों की स्थापना संवत् १५१२ के लगभग की जब राजधानी चाँदपुर से हटाकर देवलगढ़ में स्थापित हुई (योग प्रवाह, पृ० २०२) इस प्रकार अजयपाल का समय पन्द्रहवीं शताब्दी में होना चाहिए। बड़थ्वाल जी का कहना है कि ये राजा थे, इसका एक प्रमाण यह है कि नाथसिद्धों में सिर्फ तीन ऐसे हैं जिन्हें नाथ या पाव जैसे आदरार्थक विशेषण सहित नहीं स्मरण किया गया, भरथरी, गोपी-चंद और अजैपाल। प्रथम दो राजा थे, इसलिये ये भी राजा रहे होंगे। परन्तु इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार भरथरी और गोपीचन्द को स्पष्ट

रूप से राजा कहा गया है उस प्रकार अजैपाल को नहीं कहा गया, बल्कि 'बाबा अजयपाल, कहा गया है। इसलिए उनका राजा होना निश्चित नहीं है। मुझे बड़थ्वाल जी मत में विशेष सार नहीं दिखता किन्तु इतना निश्चित जान पड़ता है कि ये चौदहवीं शताब्दी के बाद ही हुए होंगे। 'वर्णरत्नाकर' की सूची में इनका नाम नहीं है।

५. लक्ष्मण या लक्ष्मणनाथ—बालनाथ, बालगुन्दाई भी इन्हीं के नाम जान पड़ते हैं। अजयपाल की शताब्दी में एक पद इस प्रकार आता है।

"लषमण कहे हो बाबा अजयपाल तुम कुण आरम्भ धीरं"

इससे अनुमान होता है कि लषमण (लक्ष्मणनाथ) के ये गुरु थे।

परम्परा से प्रचलित है कि लषमणनाथ का ही नाम बालनाथ या बालापीर था।

नाथ संप्रदाय में जो आईपंथ गोरक्षनाथ की शिष्या विमलादेवी द्वारा प्रवर्तित माना जाता है उसी संप्रदाय में थे। इनका पूरा नाम बालगोविंद है। आईपंथ वाले नाम के साथ आई जोड़ते हैं। इसलिए इनका नाम बालगोविंददाई पड़ा जिसका संक्षिप्त रूप बालगुंदाई हुआ। सम्भवतः ये तेरहवीं शताब्दी में वर्त्तमान थे। और करकाई और भूष्टाई के थोडे परवर्ती थे। बालनाथ, लक्षमणनाथ और बालगुंदाई से नाम से पाए जाने वाले कई पद समान हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ये तीनों नाम एक ही सिद्ध के हैं।

६. हणवन्तजी—इनके बारे में कुछ निश्चित नहीं मालूम। लेकिन ये धज संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनके दो शिष्य मगरधज और विविकिधज (मकरध्वज विवेकध्वज) 'वर्णरत्नाकर' की सिद्ध सूची में मिल जाते हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ये चौदहवीं शताब्दी के पहले ही हो चुके थे। रामभक्त हनुमानजी के साथ इनको अभिन्न मान लिया गया है जो नाम साम्य के कारण उत्पन्न भ्रांति मात्र है। इनके नाम से प्राप्त पदों में कुछ पद थोड़ा बदलकर कबीरदास के नाम पर भी चलते हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि ये कबीरदास के पूर्ववर्ती थे।

हणवन्त की बानियों में पूर्वी भाषा के लक्षण दिखते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ये किसी पूर्वी प्रदेश के सिद्ध थे।

७. घोड़ाचौली—'हठयोग प्रदीपिका' में जिस सिद्धों के कालदण्ड का खंडन करनेवाला बताया गया है उनमें घोड़ाचौली का भी नाम है। आईपंथ के प्रसिद्ध सिद्ध चौलीनाथ ये ही जान पड़ते हैं। इस प्रकार ये चौदहवीं शताब्दी से बहुत पहले उत्पन्न हुए होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इनका समय सन् ईस्वी की बारहवीं शताब्दी के पूर्व माना जा सकता है। इस संग्रह में इसकी जो बानियाँ संगृहीत हैं उनमें रावल, पागल, वनखंडी, आई पंथ, पंखि (पंक) धूज या धज, गोपाल, इन पंथों की चर्चा है। इससे जान पड़ता है कि इन पंथों के आविर्भाव के बाद ही ये हुए होंगे। अपनी सबदी ये अपने को मछींद्र का दास कहा है।

८. **धूंधलीमल और गरीबनाथ**—'मुंहणोत नैणसीरी ख्यात' में बताया गया है कि ये गरीबदास के गुरु थे। लाखड़ी से १२ कोस की दूरी पर धीणोद है। वहाँ के अजयसर पर्वत पर धूंधलीमल रहते थे। इन्हीं के शिष्य गरीबनाथ थे। उनके आशीर्वाद से भीम कच्छ का राजा हुआ था। इनके शिष्य गरीबनाथ के शाप से धोधों का राज्य नष्ट हुआ था। प्रभासपाटन के एक शिलालेख से जाड़ेचा भीम का समय संवत् १४४२ (१३८७ ई०) है इसलिए धूंधलीमल और गरीबनाथ का समय भी ईसवी सन् की चौदहवीं शती का उत्तरार्ध होना चाहिए।

९. **दत्तजी**—दत्तजी दत्तात्रेय का विकृत रूप है। दत्तात्रेय की संस्कृत रचनाएँ प्रसिद्ध ही हैं। ऐसा जान पड़ता है कि किसी कम पढ़े-लिखे साधु ने संस्कृत श्लोकों को बुरी तरह बिगाड़कर और उनमें अपनी रचना जोड़कर चला दिया है। संभवतः इन पदों के लेखक पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए थे क्योंकि 'रोजी' 'राजा' जैसे शब्द इन रचनाओं में प्राप्त होते हैं।

१०. **देवलनाथ**—ये गरीबनाथ के पूर्ववर्ती थे। इनके विषय में विशेष कुछ नहीं मालूम है।

११. **पृथ्वीनाथ**—ये कबीर के परवर्ती थे क्योंकि इनकी रचनाओं में कबीर का नाम आता है। इस प्रकार ये सोलहवीं शताब्दी के आस-पास हुए होंगे।

१२. **परबत सिद्ध**—नाथ योगियों के प्राप्त वाणियों में नामों की विचित्र तोड़-मरोड़ है। कभी-कभी एक ही नाम को उच्चारण-विकृति के कारण भिन्न-भिन्न मान लिया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि परबत सिद्ध (जो निश्चित रूप से चौदहवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती हैं) बाद में उसी प्रकार 'पार्वती या पारबती' बना दिए गए जिस प्रकार काणेरी पाव 'सती काणेरी' हो गए। इसका एक कारण यह है कि 'परबत' शब्द का तृतीयान्त या सप्तम्यन्त पुराना रूप 'परबति' होता है। बाद में इस इकार ने इस सिद्ध को स्त्री सिद्ध समझने की भ्रान्ति पैदा की है। इस संग्रह में परबत सिद्ध का एक 'भूगोल पुराण' दिया हुआ है। यह 'पुराण' पंजाब के एक सज्जन ने भेजा था। गुरुनानक द्वारा रचित बताई जानेवाली 'प्राण संकली' (तरन तारन से प्रकाशित) में यह हू-ब-हू इसी रूप में है। इसीलिये इनके रचयिता के बारे में संदेह होता है। परन्तु यह काफी पुरानी भाषा है। इसमें सन्देह नहीं। इससे खड़ी बोली का एक पुराना रूप प्राप्त होता है।

१३-१४. **लुकुल हंस और सतधंती**—के बारे में कुछ मालूम नहीं।

इस प्रकार इस संग्रह में जिन नाथसिद्धों की वाणियाँ संगृहीत हैं उनमें से अधिकांश चौदहवीं शताब्दी (ईसवी) के पूर्ववर्ती हैं। कुछ चौदहवीं शताब्दी के हैं और बहुत थोड़े उसके बाद के। भाषा की दृष्टि से इन पदों का महत्त्व स्पष्ट है। यद्यपि इन वाणियों के रूप बहुत-कुछ विकृत हो गए हैं, परन्तु भाषा का कुछ-न-कुछ पुराना रूप उनमें रह गया है। खड़ीबोली का तो इन पदों में बहुत अच्छा प्रयोग हुआ है। खड़ी बोली के धारा प्रवाहित प्रयोग का नया स्रोत इन पदों में पाया जायगा।

१३

परवर्ती सिद्ध-संप्रदाय में प्राचीन मत

१. संप्रदाय भेद

गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित योगि-संप्रदाय नाना पंथों में विभक्त हो गया है। पंथों के अलग होने का कोई-न-कोई भेदक कारण हुआ करता है। हमारे पास जो साहित्य है उस पर से यह समझना बड़ा कठिन है कि किन कारणों से और किन साधना-विषयक या तत्त्ववाद-विषयक मतभेदों के कारण ये सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय की इस समय जो व्यवस्था उपलब्ध है उस पर से ऐसा मालूम होता है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय उनके अव्यवहित पश्चात् उत्पन्न हो गये। भर्तृहरि उनके शिष्य बताये जाते हैं, कानिपा उनके समकालीन ही थे, पूरनभगत या चौरंगीनाथ भी उनके गुरुभाई और समकालीन बताये जाते हैं, गोपीचन्द उनके समसामयिक सिद्ध कानिपा के शिष्य थे। इन सबके नाम से संप्रदाय चला है। जालंधर नाथ उनके गुरु के सतीर्थ थे, उनका प्रवर्तित संप्रदाय भी गोरक्षनाथ के संप्रदाय के अंतर्गत माना जाता है। इस प्रकार गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती समसामयिक और ईषत्परवर्ती जितने सिद्ध हुए उन सबके प्रवर्तित संप्रदाय गोरक्षपंथ में शामिल हैं। इसका रहस्य क्या है ?

हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि वर्तमान नाथपंथ में जितने संप्रदाय हैं वे मुख्य रूप से उन बारह पंथों से सम्बद्ध हैं जिनमें आधे शिव के द्वारा प्रवर्तित हैं और आधे गोरक्षनाथ द्वारा। इनके अतिरिक्त और भी बारह (या अट्ठारह सम्प्रदाय) थे जिन्हें गोरक्षनाथ ने नष्ट कर दिया। उन नष्ट किये जाने वालों में कुछ शिवजी के सम्प्रदाय थे और कुछ स्वयं गोरक्षनाथजी के। अर्थात् गोरक्षनाथ की जीवितावस्था में ही ऐसे बहुत से सम्प्रदाय थे जो अपने को उनका अनुवर्ती मानते थे और उन अनधिकारी सम्प्रदायों का दावा इतना भ्रामक हो गया कि स्वयं गोरक्षनाथ ने ही उनमें से बारह या अट्ठारह को तोड़ दिया ! क्या यह सम्भव है कि कोई महान् गुरु अपने जीवित काल में ही अपने मार्ग को भिन्न-भिन्न उपशाखाओं में विभक्त देखे और उनके मतभेदों को तो दूर न करे बल्कि उनकी विभिन्नता को स्वीकार कर ले ? इस विचित्र आचरण का रहस्य क्या है ?

गोरक्षनाथ का जिस समय आविर्भाव हुआ था वह काल भारतीय धर्म साधना

में बड़े उथल-पुथल का है। एक ओर मुसलमान लोग भारत में प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्धसाधना क्रमशः मंत्र-तंत्र और टोने-टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। दसवीं शताब्दी में यद्यपि ब्राह्मणधर्म सम्पूर्णरूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धों, शाक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद के प्राधान्य को नहीं मानता था। यद्यपि उनके परवर्ती अनुयायियों ने बहुत कोशिश की है कि उनके मार्ग को श्रुसिसम्मत मान लिया जाय परन्तु यह सत्य है कि ऐसे अनेक शैव और शाक्त संप्रदाय उन दिनों वर्तमान थे जो वेदाचार को अत्यन्त निम्नकोटि का आचार मानते थे और ब्राह्मण-प्राधान्य एकदम नहीं स्वीकार करते थे।

हमारे आलोच्य काल के कुछ पूर्व शैवों का पाशुपत मत काफी प्रबल था। हुएन्त्सांग ने अपने यात्रा-विवरण में इसका उल्लेख बारह बार किया है। 'वैशेषिक-दर्शन' के टीकाकार प्रशस्तपाद शायद पाशुपत ही थे। बाणभट्ट ने अपने ग्रंथों में इस मत की चर्चा की है। परन्तु यह मत वेदवाह्य ही माना जाता था। शंकराचार्य ने[1] अपने 'शारीरिक भाष्य' में इसका खण्डन किया है। 'लिंग पुराण' में पाशुपत मत को तीन प्रकार का बताया गया है—वैदिक, तांत्रिक और मिश्र। वैदिक लोग लिंग, रुद्राक्ष और भस्म धारण करते थे, तांत्रिक लोग तप्त-लिंग और शूल आदि का चिह्न धारण करते थे और मिश्र पाशुपत समान भाव से पंचदेवों की उपासना किया करते थे। 'वामन पुराण' में शैव, पाशुपत, कालामुख और कपाली की चर्चा है। अनुश्रुति के अनुसार २८ शैव आगम और १७० उपागम थे। इन आगमों को निगम (अर्थात् वेद) के समान, और उनसे भिन्न स्वतंत्र प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है। काश्मीर का शैव-दर्शन इन आगमों से प्रभावित है। वैसे तंत्र-शास्त्र में निगम का अर्थ वेद माना भी नहीं जाता। 'आगम' शाक्त तंत्रों में उस शास्त्र को कहते हैं जिसे शिव ने देवी को सुनाया था और 'निगम' वह है जिसे शिव को स्वयं देवी ने ही सुनाया था। इस प्रकार ये संप्रदाय स्वयं भी वेदों को बहुत महत्त्व नहीं देते थे और वैदिक मार्ग के बड़े-बड़े आचार्य भी उन्हें अवैदिक समझते थे। हमने कौल-साधना के ब्राह्मण-विरोधी स्वर का थोड़ा परिचय पिछले अध्यायों में पाया है।

क्रमशः ब्राह्मण मत प्रबल होता गया और इसलाम के आने के बाद सारा देश जब दो प्रधान प्रतिस्पर्द्धी धार्मिक दलों के रूप में विभक्त हो गया तो किनारे पर पड़े हुए अनेक संप्रदायों को दोनों में से किसी एक को चुन लेना पड़ा। अधिकांश लोग ब्राह्मण और वेद-प्रधान हिन्दू-संप्रदाय में शामिल होने का प्रयत्न करने लगे। कुछ सम्प्रदाय मुसलमान भी हो गए। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के बाद क्रमशः वेदवाह्य

१। सा चेयं वेदवाह्येश्वरकल्पनाऽनेकप्रकारा।....माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारणयोग-विधिदुःखान्ताः पञ्चपदार्थः पशुपतिनेश्वररेण पशुपाशविमोक्षणोपायदिष्टाः पशु-पतिरीश्वरो निमित्तकारणमितिवर्णयन्ति....इत्यादि।'शारीरिक भाष्य' २-२-३७।

संप्रदायों की यह प्रवृत्ति बढ़ती गई कि अपने को वेदानुयायी सिद्ध किया जाय। शैवों ने भी ऐसा किया और शाक्तों ने भी। परन्तु कुछ मार्ग इतने वेदविरोधी थे कि उनका सामंजस्य किसी प्रकार इन मतों में नहीं हो सका। वे धीरे-धीरे मुसलमान होते रहे। गोरक्षनाथ ने योग मार्ग में ऐसे अनेक मार्गों का संघटन किया होगा। हमने ऊपर देखा है कि उनके गुरु और गुरुभाई तथा गुरु सतीर्थ कहे जाने वाले लोगों का मत भी उनका संप्रदाय माना जाने लगा है। इस पुस्तक में हमने जालंधरनाथ, मत्स्येंद्रनाथ और कृष्णपाद के प्राप्य ग्रंथों से उद्धरण देकर उनके मतों का साधारण परिचय दिया है। स्पष्ट ही वे लोग वेदों की परवा करने वाले न थे। इन सबके शिष्य और अनुयायी, भारतीय धर्मसाधना के उस उथल-पुथल के जमाने में गोरक्षनाथ के नेतृत्व में संघटित हुए। परन्तु जिनके आचरण और विश्वास इतने दूर विभ्रष्ट थे कि वे किसी प्रकार योग मार्ग का अंग बन ही नहीं सकते थे, उन्हें स्वीकार नहीं किया। शिवजी के द्वारा प्रवर्तित जो संप्रदाय उनके द्वारा स्वीकृत हुए वे निश्चय ही बहुत पुराने थे। एक सरसरी निगाह से देखने पर भी स्पष्ट हो जायगा कि आज भी उन्हीं संप्रदायों में मुसलमान योगी अधिक हैं जो शिव द्वारा प्रवर्तित और बाद में गोरक्षनाथ द्वारा स्वीकृत थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे बहुत के शैव, बौद्ध, और शाक्त-संप्रदाय थे जो वेदबाह्य होने के कारण न हिन्दू थे और न मुसलमान। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में परिचित हुआ तो नाना कारणों से देश दो प्रतिद्वंदी, धर्मसाधनामूलक दलों में विभक्त हो गया। जो शैव-मार्ग और शाक्तमार्ग वेदानुयायी थे, वे बृहत्तर ब्राह्मणप्रधान हिन्दू समाज में मिल गए और निरन्तर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। वह प्रयत्न आज भी जारी है। उत्तर भारत में ऐसे अनेकसंप्रदाय थे जो वेदबाह्य होकर भी वेदसम्मत योगसाधना या पौराणिक देव-देवियों की उपासना किया करते थे। ये अपने को शैव, शाक्त और योगी कहते रहे। गोरक्षनाथ ने उनको दो प्रधान दलों का पाया होगा—(१) एक तो वे जो योगमार्ग के अनुयायी थे, परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे, दूसरे (२) वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे—शैवागमों के अनुयायी थे—परन्तु गोरक्षसम्मत योग मार्ग के उतने नजदीक नहीं थे। इनमें से जो लोग गोरक्षसम्मत मार्ग के नजदीक थे उन्हें उन्होंने योगमार्ग में स्वीकार कर लिया, बाकी को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के मार्गों से ऐसे बहुत से संप्रदाय आ गए जो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे परन्तु बाद में उन्हें गोरखनाथी माना जाने लगा। धीरे-धीरे जब परम्पराएँ लुप्त हो गईं तो उन पुराने सम्प्रदायों से मूल प्रवर्तकों को भी गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने लगा। इस अनुमान को स्वीकार कर लेने पर वह व्यर्थ का वाद-समूह स्वयमेव परास्त हो जाता है जो गोरक्षनाथ के काल-निर्णय के प्रसंग में पंडितों ने रचा है। इन कथा-कथित शिष्यों के काल के अनुसार वे कभी आठवीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं, कभी दसवीं, कभी ग्यारहवीं और कभी-कभी तो पहली दूसरी शताब्दी से भी!!

ऊपर का मत केवल अनुमान पर ही आश्रित नहीं है। कभी-कभी एकाध प्रमाण परम्पराओं के भीतर से निकल भी आते हैं। शिव और गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों की परम्परा स्वयमेव एक प्रमाण है, नहीं तो यह समझ में नहीं आता कि क्यों कोई महागुरु अपने जीवितकाल में ही अनेक सम्प्रदायों का संगठन करेगा ? सम्प्रदाय मतभेद पर आधारित होते हैं और गुरु की अनुपस्थिति में ही मतभेद उत्पन्न होते हैं, गुरु के जीवितकाल में होते भी हैं तो गुरु उन्हें दूर कर देते हैं। परन्तु प्रमाण और भी है। 'योगि संप्रदायाविष्कृति' (पृ० ४१६-२०) में लिखा है कि धवलगिरि से लगभग ८०-९० कोस की दूरी पर पूर्व दिशा में, वर्तमान त्रिशूल गंगा के प्रभवस्थान पर्वत पर वाममार्गी लोगों का एक दल एकत्रित होकर इस विषय पर विचार कर रहा था कि किस प्रकार हमारे दल का प्रभाव बढ़े। बहुत छानबीन के बाद उन्होंने देखा कि आजकल श्री गोरक्षनाथ जी का यश चारों ओर फैल रहा है, यदि उनसे प्रार्थना की जाय कि वे हमें अपने मार्ग का अनुयायी स्वीकार कर लें तो हम लोगों का मत लोकमान्य हो जाय। उन्होंने इसी उद्देश्य से उन्हें बुलाया। सब कुछ सुनकर श्री गोरक्षनाथ जी ने कहा कि "आप यथार्थ रीति से प्रकट कर दें कि अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं या प्रतिष्ठा की उपेक्षा कर अपने अवलम्बित मार्ग की वृद्धि करना चाहते हैं। यदि प्रतिष्ठा चाहते हैं तो आप अन्य सब झगड़ों को छोड़ कर केवल योगक्रियाओं से ही सम्बन्ध जोड़ लें। इसके अतिरिक्त यदि (अपने पहले से ही) गृहीत मत को पुष्टि करना चाहते हैं तो हम (यह) नहीं सह सकते कि साधुओं का कार्य जहाँ मुमुक्षुजनों की सन्मार्ग पर चढ़ा देना है वहाँ वे उन विचारों को कुत्सित पथ में प्रविष्ट करने के लिए कटिबद्ध हो जायँ।" वाममार्गियों ने—जिन्हें लेखक ने यहाँ 'कपाली' लिखा है—दूसरी बात को ही स्वीकार किया और इसीलिए गुरु गोरक्षनाथ ने उनको प्रार्थना अस्वीकृत कर दी। यह पुराने सम्प्रदाय को अपने मार्ग में स्वीकार न करने का प्रमाण है।

पुराने मार्ग को स्वीकार करने का भी उदाहरण पाया जा सकता है। प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ जी जब गोरखबंसी (आधुनिक कलकत्ते के पास) आये थे तो वहाँ काली जी से उनकी मुठभेड़ हो गई थी। काली जी को ही हारना पड़ा था और उनके समस्त शाक्त शिष्य गोरक्षनाथ के योगमार्ग में शामिल हो गये। तभी से गोरक्ष-संप्रदाय में काली पूजा प्रचलित हुई। इन दिनों सारे भारतवर्ष में नाथ-पंथी लोगों में काली की पूजा प्रचलित है। यह कथा 'योगि संप्रदायाविष्कृति' (पृ० १६४-१६६) में दी हुई है परन्तु लेखक की सुधारक मनोवृत्ति ने इतना जोड़ दिया है कि काली ने योगियों से मांसादि की बलि नहीं लेने की प्रतिज्ञा की थी। लेखक को इस बात का बड़ा खेद है कि आजकल "जिह्वास्वादन के वशीभूत यागिवेशधारी ठगिया और प्रपंची लोग" उस नियम का उल्लघन कर रहे हैं! इस विषय की अधिक चर्चा करने के पहले एक बार आधुनिक पंथों और पुराने पंथों के सम्बन्ध पर विचार लिया जाय। संक्षेप में देखा जाय कि किस प्रकार मुख्य पंथों का सम्बन्ध शिव और गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित पुराने संप्रदायों के साथ स्थापित किया जाता है। नीचे का ब्यौरा उसी सम्बन्ध को बताने

के लिये दिया जा रहा है। इसे तैयार करने में मुख्य रूप से ब्रिग्स साहब की पुस्तक का सहारा लिया गया है, परन्तु अन्य मूलों से प्राप्त जानकारियों को भी स्थान दिया गया है।

(१) शिव के द्वारा प्रवर्तित प्रथम संप्रदाय भुज के कण्ठरनाथी लोगों का है। कण्ठरनाथ के साथ अन्य किसी शाखा का सम्बन्ध नहीं खोजा जा सका है।

(२) और (३) शिव द्वारा प्रवर्तित पागलनाथ और रावल संप्रदाय परस्पर बहुत मिश्रित हो गये हैं। ध्यान देने की बात है कि गोरखपुर में सुनी हुई परम्परा के अनुसार पागलनाथी संप्रदाय के प्रवर्तक पूरनभगत या चौरंगीनाथ हैं। ये राजा रसालू के वैमात्रेय भाई माने जाते हैं। ज्वालामुखी के माननाथ राजा रसालू के अनुयायी बताये जाते हैं, इसलिए कभी-कभी माननाथ और उनके अनुवर्ती अर्जुन नागा या अरजननंगा को भी पागलपंथी मान लिया जाता है, वस्तुतः अरजननंगा नागार्जुन का नामान्तर है। फिर अफगानिस्तान के रावल—जो मुसलमान योगी हैं—दो संप्रदायों को अपने मत का मानते हैं—(१) मादिया और (२) गल। गल को ही पागलपंथी कहते हैं। इस प्रकार इन दोनों शाखाओं से पागलपंथ का सम्बन्ध स्थापित होता है। इन लोगों को रावल गल्ला भी कहते हैं। इनका मुख्य स्थान रावलपिंडी में है—जो एक परम्परा के अनुसार पूरनभगत और राजा रसालू के प्रतापी पिता गज की पुरानी राजधानी थी। गजनी के पुराने शासक भी ये ही थे और गजनी नाम भी इनके नाम पर ही पड़ा था। गजनी का पुराना हिन्दू नाम 'गजवनी' था। बाद में गज ने स्यालकोट को अपनी राजधानी बनाया था। रावलों का स्थान पेशावर रोहतक और सुदूर अफगानिस्तान तक में है।

(४) पंख या पंक से निम्नलिखित सम्प्रदाय संबद्ध माने जा सकते हैं—

(i) **सतनाथ या सत्यानाथी**—जिनकी प्रधान गद्दी पुरी में और जिनके अन्य स्थान मेवा थानेश्वर और करनाल में हैं। ये ब्रह्मा के अनुवर्ती कहे जाते हैं।

(ii) **धर्मनाथ**—जो कोई राजा थे और बाद में योगी हो गये थे।

(iii) **गरीबनाथ**—जो धर्मनाथ के साथ ही कच्छ गये थे।

(iv) **हाड़ीभरग**[1] (?)

---

१. पागलबाबा के कथनानुसार मैंने इन्हें सतनाथ से सम्बद्ध समझा है। परन्तु ब्रिग्स ने रसेल और हीरालाल (ट्रा० का० से० प्रो०) के आधार पर इनका सम्बन्ध किसी सन्तनाथ से बताया है। मैं यह ठीक नहीं कर सका कि सतनाथ और संतनाथ एक ही हैं या भिन्न भिन्न।

(५) शिव के पाँचवें संप्रदाय मारवाड़ के 'बन' से किसी शाखा का कोई सम्बन्ध नहीं मालूम हो सका।

(६) गोपाल या राम के—

(i) **सन्तोषनाथ**—ये ही सम्भवतः इसके मूल प्रवर्तक हों। 'कौलावली निर्णय' और 'श्यामा रहस्य' के मानव गुरुओं से मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि के साथ इनका भी नाम है।[1]

(i:) जोधपुर में दासगोपालनाथियों का सम्बन्ध बताया जाता है।

(७) चाँदनाथ कपिलानी—

(i) **गंगानाथ**

(ii) **कायानाथ**—(परन्तु, आगे देखिये)

(iii) **कपिलानी**—अजयपाल द्वारा प्रवर्तित।

(iv) **नीमनाथ** } दोनों जैन हैं।
(v) **पारसनाथ** }

(८) हेठनाथ—

(i) **लक्ष्मणनाथ**। कहते हैं, ये ही प्रसिद्ध योगी बालानाथ थे। (योग प्रवाह, पृ० १८६) इसकी दो शाखाएँ हैं—

(ii) **दरियापंथ** हरद्वार के चन्द्रनाथ योगी ने[2] इनको नाटेश्वरी (नाटेसरी) सम्प्रदाय का माना है और अलग स्वतन्त्र पंथ होने में सन्देह उपस्थित किया है। परन्तु टिला में उद्भूत स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में भी इसकी ख्याति है। दरिया-पंथी साधु क्वेटा और अफगानिस्तान तक में हैं।

(iii) **नाटेसरी**—अंबाला और करनाल के हेठ तथा करनाल के बाल जाति वाले इसी शाखा के हैं।[3]

कुछ लोग कहते हैं, राँझा इसी संप्रदाय में थे। डा० बड़थ्वाल के मत से बालानाथ बालयती थे इसलिए उन्हें ही लक्ष्मणनाथ कहते हैं। पंजाब में बालानाथ का टीला प्रसिद्ध है।

(iv) **जाफ़र पीर**—अपने को ये लोग राझाँ और बालकेश्वरनाथ के अनुयायी (या संबद्ध) मानते हैं, इसलिए इनका सम्बन्ध नाटेसरी सम्प्रदाय से जोड़ा भी जा सकता है। कभी-कभी इनका सम्बन्ध संतोषनाथ से भी जोड़ा जाता है।'[4] ये लोग मुसलमान हैं।

---

१. कौलावली तंत्र, पृ० ७६।
२. यो० सं० आ : पृ० ४६१।
३. ब्रिग्स : पृ० ६४-६५।
४. वही, पृ० ७२।

(६) आई पंथ से चोलीनाथ—'हठयोग प्रदीपिका' के घोड़ाचूली सिद्ध से इस सम्प्रदाय का संबंध होना संभव है। घोड़ाचूली परम्परा के अनुसार गोरखनाथ के गुरुभाई थे। इनकी कुछ हिन्दी रचनाएँ भी मिली हैं (यो० प्र०, पृ० ६८-७०)।

(i) आई पंथ का सम्बन्ध करकाई और भूष्टाई[1] दोनों से बताया जाता है। पागलबाबा के मत से करकाई ने ही आई पंथ का प्रवर्तन किया था। थे दोनों गोरक्षनाथ के शिष्य थे। हरद्वार के आईपंथी अपने को पीर पारसनाथ का अनुयायी बताते हैं।[2] आई देवी (=माता) की पूजा करने के कारण ये लोग आईपंथी कहलाये। ये लोग गोरक्षनाथ की शिष्या विमला देवी को अपनी मूल प्रवर्तिका मानते हैं। पहले ये लोग अपने नाम के आगे आई जोड़ा करते थे, नाथ नहीं। पर नरमाई के शिष्य मस्तनाथ जी के बाद ये लोग भी अपने नाम के आगे 'नाथ' जोड़ने लगे।

(ii) मस्तथान—ये लोग 'बाबा' कहे जाते हैं। गलती से कभी 'बाबा' अलग संप्रदाय मान लिया जाता है।[3]

(iii) माई पंथ (?)

(iv) बड़ी दरगाह, (v) छोटी दरगाह } दोनों ही मस्तनाथ के शिष्य हैं। बड़ीवाले मांस-मदिरा नहीं सेवन करते छाटी वाले करते हैं।

(१०) वैराग पंथ, रतननाथ

(i) वैराग पंथ—भरथरी या भर्तृहरि द्वारा प्रवर्तित।

(ii) माई नाथ (?)—एक अनुश्रुति के अनुसार माईनाथ—जो अनाथ बालक थे और मेवों द्वारा पाले पासे गए थे—भरथरी के अनुयायी थे।

(iii) प्रेमनाथ

(iv) रतननाथ—भर्तृहरि के शिष्य पेशावर के रतननाथ जो बाह्य मुद्रा नहीं धारण करते थे। कभी टोके जाने पर छाती खोल के मुद्रा दिखा दी थी—ऐसी प्रसिद्धि है। दरियानाथ से भी इनका सम्बन्ध बताया जाता है। मुसलमान योगियों में इनका बड़ा नाम है। इनके नाम से संबद्ध तीर्थ काबुल और जलालाबाद में भी हैं।

---

१. आई पंथ वाले पहले अपने नाम के आगे आई जोड़ते थे, इसलिए ये लोग आई के अनुयायी ही होंगे, प्रवर्तक नहीं।

२. ब्रिग्स : पृ० ६५।

३. यो० सं० आ० : पृ० ४६२।

(v) **कायानाथ या काणमुद्दीन**—कायानाथ के शरीर के मल से बना हुआ, बालक कायानाथ बाद में चल कर सिद्ध और संप्रदायप्रवर्तक हुआ।

(११) जैपुर के पावनाथ—

(i) **जालंधरिपा**

(ii) **पा-पथ** (?)

(iii) **कानिपा**—गोपीचंद इसी शाखा के सिद्ध हैं। गोपीचंद का ही नाम सिद्ध संगरी है। सँपेरे इनको अपना गुरु मानते हैं।[1]

(iv) **बामारग** (?)

(१२) **धजनाथ**—

(i) **धजनाथ**—महावीर हनुमान के अनुयायी बताये जाते हैं। प्रसिद्धि है कि सिंहल में जब मत्स्येन्द्रनाथ भोगरत थे उस समय उनका उद्धार करने गोरखनाथ गए थे। उनसे हनुमान की लड़ाई हुई थी।[2] बाद में हनुमान को उनका प्रभाव मानना पड़ा था। चौदहवीं शताब्दी के एक नाथ सिद्धों की सूची में 'धज' नामधारी दो सिद्धों का उल्लेख है।[3] विविकिधज और मगरधज। प्रसिद्धि है कि मकरध्वज हनुमान के पुत्र थे। संभवतः विविकिधज और मगरधज इस पंथ से संबद्ध हों। कहते हैं इनका स्थान सिंहल या सीलोन में है। परन्तु यह भूल है। आगे देखिए। डा० बड़थ्वाल ने लिखा है कि हनुमन्त वस्तुतः वक्रनाथ नामक योगी का ही नामान्तर है।

ऊपर इन योगियों के मुख्य-मुख्य स्थानों का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः सारे भारतवर्ष में इनके मठ और अखाड़े हैं। अंगना (उदयपुर), आदिनाथ (बंगाल), काद्रिमठ (मद्रास), गंभीरमठ (पूना), गरीबनाथ का टिला (सारमौर स्टेट), गोरक्षक्षेत्र (गिरनार), गोरखबंशी (दमदम, बंगाल), चंद्रनाथ (बंगाल), चंचुल-गिरिमठ (मद्रास प्रान्त), त्र्यम्बक मठ (नासिक), नीलकंठ महादेव (आगरा), नोहरमठ (बीकानेर), पंचमुखीमहादेव (आगरा), पाण्डुधुनी (बंबई), पीर सोहर (जम्मू),

---

१. प्रसिद्धि है कि जब जालंधरनाथ को कानपा कुएँ से नहीं निकाल सके तो गोरक्षनाथ ने उनकी सहायता की। गुरु के उद्धार-महोत्सव में लोगों को मनोवांछित भोग दिया गया। किसी नवीन भक्त ने नाथ का प्रभाव देखने की गरज से मन ही मन सर्प की कामना की और पत्तल में सर्प आ गया। उसी अभिशप्त शिष्य के अनुयायी सँपेरे हुए जो कानबेलिया कहे जाते हैं। किसी-किसी ने इन्हें अलग संप्रदाय कहा है (तुल०यो० सं० आ०, पृ० ३३७-८)।

२. यो० सं० आ० : पृ० १६३....

३. बौ० गा० दो० : पृ० ३६।

४. योगप्रवाह : पृ० १८६।

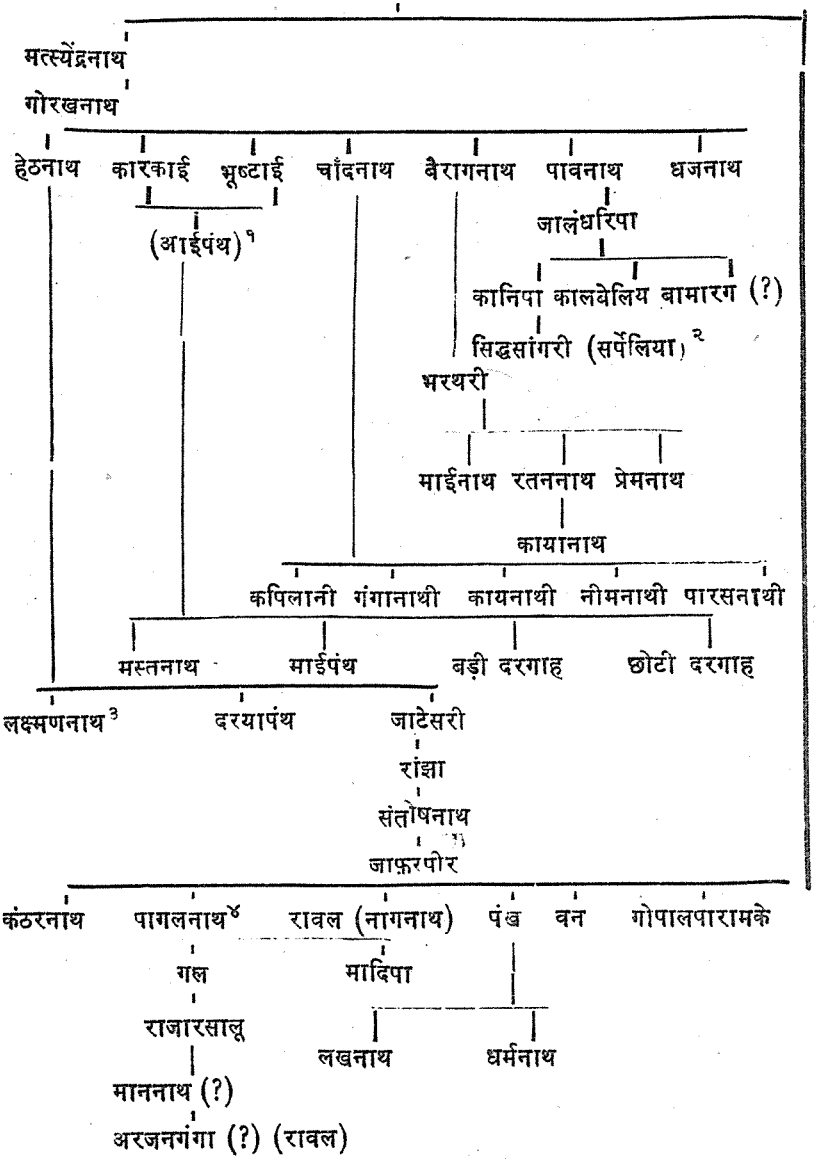

१. कोई-कोई केवल कारकाई संप्रदाय से ही आईपंथ की उत्पत्ति मानते हैं।
२. कालबेलिय किसी-किसी के मत से अलग-अलग संप्रदाय नहीं है। विडबांमरी ही कानबेलिय कहलाते हैं।
३. कालान्तर में लक्ष्मणनाथ से ही दरियानाथ और नाटेसरी की उत्पत्ति है।
४. किसी परम्परा के अनुसार सम्पूर्ण पागलनाथजी शाखा रावलों की छयशाखा है।

बत्तीस रसाला (मतारा), भर्तृगुफा (ग्वालियर), भर्तृगुफा (गिरनार), मंगलेश्वर (आगरा), महानादमंदिर (बर्दवान, बंगाल), महामंदिरमठ (जोधपुर), योगि गुहा (दिनाजपुर), योगिभवन (बगुड़ा, बंगाल), योगिमठ (मेदिनीपुर), लादुवास (उदयपुर) हांडीभरगनाथ का मंदिर (मैसूर), हिंगुआमठ (जैपुर) आदि इनके मठ हैं जो समूचे भारतवर्ष में विस्तृत हैं।[1] यह नहीं समझना चाहिए कि जिस पंथ का जो मुख्य स्थान है उसके अतिरिक्त और कोई स्थान उनके लिये आदरणीय नहीं है। वस्तुतः सभी पंथ सब स्थानों का सम्मान करते हैं। ऊपर के विवरण से चार्ट पृष्ठ १६८ द्वारा पंथों का प्रसार जाना जाता है :

ध्यान से देखा जाय तो गोरक्षनाथ के प्रवर्तित संप्रदायों में कई नाम परिचित और पुराने हैं। कपिलानी अपना संबंध कपिलमुनि से बताते हैं और इनका मुख्य-स्थान गंगासागर में है, जहाँ कपिलमुनि का आश्रम था। कपिलमुनि 'सांख्यशास्त्र' के प्रवर्तक माने जाते हैं। सांख्य और योग का घनिष्ठ संबंध हमने पहले ही लक्ष्य किया है। 'भागवत' में कपिलमुनि योग और वैराग्य के उपदेष्टा के रूप में प्रसिद्ध हैं। 'सांख्यशास्त्र' को निरीश्वर योग कहते हैं। और 'योगदर्शन' को सेश्वर सांख्य। ऐसा जान पड़ता है कि कपिलमुनि के अनुयायी जो निरीश्वरवादी योगी थे, गोरक्षनाथ के मार्ग में बाद में आ मिले थे। चाँदनाथ संभवतः वह प्रथम सिद्ध थे जिन्होंने गोरक्ष-मार्ग को स्वीकार किया था। नसी शाखा के नीमनाथो और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थंकरों के अनुयायी जान पड़ते हैं। जैनसाधना में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे। उनका यह संप्रदाय गोरक्षनाथ योगियों में अन्तर्भुक्त हुआ है। कहना व्यर्थ हैं कि जैन-मत वेद और ब्राह्मण को प्रधानता नहीं मानता। भरथरी के वैरागपथ पर आगे विचार किया जा रहा है। पावनाथ के जालंधरपाद संभवतः वज्रयानी सिद्ध थे। उनकी जितनी पोथियाँ मिली हैं वे सभी वज्रयान की हैं और उनके शिष्य कृष्णपाद की साधना का परिचय तो हमें मिल ही चुका है। कृष्णपाद ने स्वयं अपने को कापालिक कहा है, परन्तु कापालिक का अर्थ सब समय शैवकापालिक ही नहीं होता। जो हो, इसमें तो कोई संदेह नहीं कि जालंधरपाद का पूरा का पूरा संप्रदाय बौद्ध वज्रयान से संबद्ध था। धजनाथ के विषय में आगे विचार किया जा रहा है। वे ही सभी पंथ भिन्न-भिन्न धर्म साधनाओं से सबद्ध होने पर भी योगमार्गी अवश्य थे।

आईपंथ वाले विमलादेवी के अनुयायी माने जाते हैं। आई अर्थात् माता। ये लोग अपने नाम के सामने नाथ न जोड़ कर आई जोड़ा करते थे। करकाई और भूष्टाई का वस्तुतः नाथपंली नाम कर्कनाथ और भृष्टनाथ (शभुनाथ ?) होना चाहिए। माता की पूजा देखकर अनुमान होता है कि वे किसी शाक्तमत से गोरक्षनाथ के योग-मार्ग में अन्तर्भुक्त हुए होंगे। विमलादेवी गोरक्षनाथ की शिष्या बताई जाती है परन्तु

---

१. श्री अक्षयकुमार वंद्योपाध्याय : गंभीरनाथ प्रसंग, पृ० ५१-५३।

नित्याह्निकतिलक में एक महाप्रभावशालिनी सिद्धा विमलादेवी का नाम है, जो मत्स्येंद्र नाथ की मतानुवर्तिनी रही होंगी। उन्होंने गोरक्षनाथ से दीक्षा भी ली हो तो आश्चर्य नहीं। हस्तिनापुर में कोई वैश्य जाति के सेठ थे, नाम था शिवगण। उनकी पुत्री का नाम विनदेवी था। गुप्तनाम श्री गुप्तदेवी था। एक बार भेरी के शब्द से इन्होंने बौद्धों को वित्रासित किया। तब से इनकी कीर्ति का नाम बौद्धत्रासिनी (बोधत्रासनी) माता पड़ गया। जब उनका जन्म हुआ तो स्त्रीरूप में उत्पन्न हुई थी पर अधिकार-काल में पुरुष-मुद्रा में दिखीं और बलपूर्वक अधिकार दखल किया। परन्तु पशु लोग (पाखंडी) उन्हें स्त्रीरूप में ही देखते थे। इनके दस नाम हैं—

विमला च शिखा चैव विदेषी (च) सुशोभना।
नागकन्या कुमारी बंधारणी पयोधारणो
रक्षाभद्रा समाख्याता देव्या नामानि वै दश।
नामान्येतानि यो वेत्ति सोऽपि कौलाहो (?) भवेत् ॥'[1]

यह कह सकना कठिन है कि यही विमलादेवी आईपंथ की पूजनीया विमला देवी हैं या नहीं। मैंने अनुसंधित्सु पाठकों का ध्यान आकर्षण करने के लिए इस बात को यहाँ लिख दिया।

स्पष्ट ही, गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित कहे जाने वाले पंथों को पुराने सांख्ययोग-वादी, बौद्ध जैन, शाक्त सभी हैं। सब की एकमात्र सामान्यधर्मिता योग मार्ग है।

शिव के द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय भी गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती होना चाहिए। इन्हें स्वीकार करके भी गोरक्षनाथ ने जब अपने नाम से इन्हें नहीं चलाया तो कुछ न कुछ कारण होना चाहिए। मेरा अनुमान है कि ये लोग मन्त्र-तन्त्र को करते होंगे पर हठ-योग सिद्धियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते होंगे। यह लक्ष्य करने की बात है कि शिव द्वारा प्रवर्तित कहे जाने वाले सम्प्रदायों का प्रसार अधिकतर काश्मीर, पश्चिमी पंजाब पेशावर और अफगानिस्तान में है, जहाँ अत्यन्त प्राचीनकाल से शैवमत प्रबल था। ज्ञान की वर्त्तमान अवस्था में इससे कुछ अधिक कहना संभव नहीं है।

इस प्रकाश में कुछ उलझी हुई समस्याओं का विचार किया जाय।

२. रावल-शाखा

१. रावलसंप्रदाय योगियों की बड़ी भारी शाखा है। कभी-कभी कहा गया है कि यह रावल शब्द संस्कृत के 'राजकुल' शब्द का अपभ्रंश है। प्राचीनकाल के तीन राजवंशों ने यह विरुद धारण किया था—(१) मेवाड़ के राजकुल ने[2] (२)

---

१. कौलज्ञान निर्णय, भूमिका, पृ० ७०-७१।

२. रावलाख्यां पदवी दधानो बाप्पाभिधानः सरराज राजा।
—राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग ३।

आबू के परमारों ने[1] और (३) जालोर के चौहानों ने[2]। और किसी राजघराने ने यह विरुद धारण किया था या नहीं यह नहीं मालूम हो सका है। परन्तु रावल शब्द से सबसे अधिक प्रसिद्धि चित्तौड़ के बाप्पा रावल ही को मिली थी। इस पर से यह अनुमान होता है कि रावलपंथ का किसी राजकुल से संबंध रहा होगा। यह ध्यान देने की बात है कि केवल बप्पा के साथ यह शब्द अपने अपभ्रंश रूप में चलता है, अन्यान्य लेखों में संस्कृत 'राजकुल' शब्द का ही व्यवहार है। बाप्पा से गुरु-गोरक्षनाथ के मिलन की प्रसिद्धि कई विद्वानों ने लिखी है। इस प्रसिद्धि के आधार पर गोरक्षनाथ का समय निर्णय करने का प्रयास भी किया गया है।

महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने 'राजपूताने के इतिहास' में बाप्पा का समय सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी का पूर्वभाग निश्चित किया है। महाराणा कुंभा के समय जो 'एकलिंगमाहात्म्य' नामक पुस्तक लिखी गई, उसमें लिखा है कि पुराने कवियों ने कहा है कि संवत् ८१० वि० (ई० सन् ७५३) में एकलिंग का वर पाया हुआ प्रथम राजा बाप्पा हुआ।[3] ओझा जी ने इस वर्ष को बाप्पा के राज्य-त्याग का संवत् सिद्ध किया है। बप्पा इसके पूर्व ही सिंहासनासीन हो गये थे।[4] परन्तु बाप्पा सम्बन्धी प्रसिद्धियों के प्रसंग में ओझा जी ने गोरक्षनाथ वाली प्रसिद्धि की कोई चर्चा नहीं की है। बाप्पा और उनके गुरु के सम्बन्ध में जितनी प्रसिद्धियाँ हैं, उनमें बाप्पा के गुरु का नाम हारीतऋषि या हारीत राशि बताया गया है, जो लकुलीश पाशुपत संप्रदाय के कोई सिद्ध पुरुष थे। फ्लीट ने सन् १९०७ में एक प्रबन्ध लिखा था जिसमें एकलिंगजी के मन्दिर को लकुलीश संप्रदाय का सिद्ध किया था।[5] एकलिंग मन्दिर में एक लेख पाया गया है जो सन् ८७१ ई० का लिखा है। इस लेख से इस मन्दिर की स्थिति बहुत पुरानी सिद्ध हो जाती है और ऐसा माना जा सकता है कि बाप्पा ने ही इस मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई होगी। इधर बाप्पा का एक सोने का सिक्का भी अजमेर से मिला है जो घिस जाने पर तौल में ६६ रत्ती के करीब

---

१. एवमियं व्यवस्था श्री चंद्रावतीपति राजकुल श्रीसोमसिंह देवेन····
—आबू पर देलवाड़ा के मन्दिर का प्रशस्ति-लेख।

२. महाराजकुल श्रीसामन्तसिंह देव कल्याण विजयराज्ये····इत्यादि।
—सांचोर का शिलालेख

३. उक्तं च पुरातनैः कविभिः
आकाशचन्द्र दिग्गजसंख्ये संवत्सरे वभूवाष्टः।
श्रीएकलिंगशंकरलब्धवरो बाप्पभूपालः॥

४. राजपूताने का इतिहास : पृ० ४१२।

५. कर्नल आफ रायल एसियाटिक सोसायटी: १९०७ : पृ० ४२०।

हैं। इस सिक्के का जो विवरण प्रकाशित हुआ है।[1] उससे यह निश्चित रूप में सिद्ध हो जाता है कि बाप्पा रावल वस्तुतः ही लकुलीश पाशुपत मत के अनुयायी थे। इसके सामने की तरफ (१) वर्तुलाकार माला के नीचे 'श्री बोप्प' लिखा हुआ है (२) माला के पास बाईं ओर एक त्रिशूल है (३) त्रिशूल की दाहिनी ओर दो पत्थरों की बेदी पर एक-एक शिवलिंग है जो बाप्पा के इष्टदेव एकलिंगजी का सूचक है, (४) इसकी दाहिनी ओर नंदी है और (५) लिंग तथा नंदी के नीचे प्रणाम करते हुए बाप्पा का अधलेटा अंग है। पीछे की तरफ भी एक गौ खड़ी है 'जो बाप्पा के प्रसिद्ध गुरु लकुलीश सम्प्रदाय के कनफड़े साधु (नाथ) हारीतराशि की कामधेनु होगी जिसकी सेवा बाप्पा ने की थी, ऐसी कथा प्रसिद्ध है।'[2] इस सिक्के के चिह्न सूचित करते हैं कि बाप्पा लकुलीश[3] पाशुपत-संप्रदाय के शिष्य थे। बाप्पा का सिक्का और उनके विषय में उपलब्ध प्रसिद्धियाँ दोनों ही इस बात का पक्का प्रमाण है कि लकुलीश संप्रदाय के बड़े भक्त थे। प्रायः भिन्न-भिन्न संप्रदाय के भक्त राजगण अपने नाम के साथ संप्रदाय वाचक शब्द जोड़ा करते थे। बुद्ध के उपासक अपने को परम सौगत, विष्णु के उपासक परम भागवत और शिव के उपासक परम माहेश्वर जोड़ा करते थे। क्या रावल या महारावल शब्द भी संप्रदायवाचक है।

'आथर्वशिर उपनिषद्' में पाशुपतों के विशिष्ट पारिभाषित शब्दों के पाये जाने से पंडितों ने अनुमान किया है कि अवान्तर उपनिषत्काल में इस सम्प्रदाय का जन्म हो चुका था।[4] इस संप्रदाय के ऐतिहासिक संस्थापक का नाम लकुलीश या नकुलीश था। इनका जन्म बड़ौदा राज्य के कायावरोहण (कायारोहण, कारवान्, बड़ौदा

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग १, पृ० २४१-८५ में म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का लेख।

२. राजपूताने का इतिहास : पृ० ४१५-४१६।

३. 'इस समय उस संप्रदाय का मानेवाला कोई नहीं रहा, यहाँ तक कि लोग बहुधा उस संप्रदाय का नाम भी भूल गये हैं, परन्तु प्राचीन काल में उसके अनुयायी बहुत थे जिनमें मुख्य साधु (कनफडे, नाथ) होते थे। उस संप्रदाय का विशेष वृत्तान्त शिलालेखों तथा 'विष्णु पुराण', 'लिंग पुराण' आदि में मिलता है। लकुलीश उस संप्रदाय का प्रवर्तक होना चाहिए। उनके मुख्य चार शिष्यों के नाम कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य मिलते हैं। एकलिंगजी के पुजारी कुशिक की परम्परा में से हारीतराशि बाप्पा का गुरु माना जाता है। इस सम्प्रदाय के साधु निहग होते थे, गृहस्थ नहीं और मूंड़कर चेला बनाते थे। उनमें जाति-पाँति का कोई भेद न था।"—राजपूताने का इतिहास (पृ० ४१६) में ओझा जी की टिप्पणी।

४. पं० बलदेव उपाध्याय : विश्वभारती पत्रिका खण्ड १, पृ० २४५।

राज्य) में हुआ था ऐसा कहा जाता है।[१] 'शिवपुराण' में कारवण माहात्म्य है जो लकुलीश के जन्म-ग्राम की महिमा बताने के लिए लिखा गया है। लकुलीश की मूर्तियाँ राजपूताना, गुजरात, मालवा आदि में पाई गई हैं। इन मूर्तियों की बाह्य वेशभूषा भी उन्हें अन्य मूर्तियों से स्पष्ट रूप से विशिष्ट बना देती है। माथे पर बना केश-कलाप, एक हाथ में बीजपूरक का फूल और दूसरे में लगुड़ (लाठी) इन मूर्तियों की विशेषता है। लगुली अर्थात् लकुटि धारण करने के कारण ही लकुलीश की लकुलीशता है।[२] मथुरा में उपलब्ध शैवस्तंभ तथा उस पर उत्कीर्ण शिलालेख के अध्ययन से लकुलीश का समय विक्रम के दो सौ वर्ष बाद ठहरता है। यह वही युग है जिसमें कुषाण-वंशीय नरेश हुविष्क को सुवर्ण मुद्राओं पर लकुटधारी शिव की मूर्तियाँ मिलती हैं।[३]

लकुलि, लगुलि (=लाठी ?) आदि शब्दों का रूप ही सूचित करता है कि वे देशी शब्दों के संस्कृत रूप हैं। लकुलीश पाशुपतमत प्रधानतया निचले स्तर के लोगों में बहुत प्रचलित था। वैदिक और भागवत लोग शुरू-शुरू में इस मत को सिर्फ अवैदिक ही नहीं मानते थे, इसके मानने वालों को पापयोनि में उत्पन्न भी मानते थे। 'भागवत' में एक स्थान पर इनको सच्छास्त्र परिपंथी कहा गया है और पापव्रतियों को इस दीक्षा में प्रवेश करने का अभिशाप दिया गया है।[४] रावल वस्तुतः इसी 'लाकुल' शब्द का रूपान्तर है। सातवीं शताब्दी के पहले ये लोग कुछ सम्मान पाने लगे थे क्योंकि इनमें कुछ असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान् पैदा हो गये थे। आठवीं शताब्दी में बाप्पा ने जब रावल उपाधि धारण की तो वस्तुतः उन्होंने अपने को अपने विशिष्ट संप्रदाय का अनन्य भक्त सिद्ध करना चाहा था। इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि गोरक्षनाथ के संप्रदाय में रावल या लाकुल पाशुपत मिल गये थे। भाण्डारकर ने लिखा है कि सन् ६४३ से आरंभ करके सन् १२८५ ई० तक की प्रशस्तियों में शैव मात्र को लकुलीश कहा गया है।[५] सन् १२८७ का एक लेख सोमनाथ में प्राप्त हुआ है जिसमें गोरक्षनाथ का नाम

---

१. म० म० पं० गौ० ही० ओझा : राजपूताने का इतिहास, पृ० ४१०।

२. विश्वभारती पत्रिका : खण्ड १, पृ० २४५।

३. वही : पृ० २७६।

४. भवव्रतधरा ये च ये च तान्न् समनुव्रताः
पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः
नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैत्यं सुरातवम् ॥ —भागवत, ४।२।

५. रायल एसियाटिक सोसायटी को बंबई शाखा के जर्नल (जिल्द २२, पृ० १५१ और आगे) में डाक्टर डी० आर० भाण्डारकर ने लिखा है राजपूताने के अनेक मन्दिरों में उन्होंने लकुटधारी शिवमूर्तियाँ देखी हैं। ये सभी द्विभुज मूर्तियाँ और उनके एक हाथ में लकुट है। इन द्विभुज मूर्तियों को देखकर भाण्डारकर ने यह अनुमान किया है कि ये मूर्तियाँ किसी ऐसे सिद्ध की स्मारिका हैं जो बाद में चलकर शिव का अवतार मान लिए गए थे। लकुलीश यही सिद्ध थे।

लकुलीश के साथ लिखा गया है।[1] यह भी लक्ष्य करने की बात है कि धर्मनाथ के विषय में एक अनुश्रुति इस प्रकार की है कि वे पेशावर से धिनोधर आए थे और चारणदेवी नामक विधवा के हाथ में से पुनर्वार पैदा हुए थे और इस पुनरुद्भूत सिद्ध का नाम 'रावल पीर' पड़ा था। 'रावल पीर' शब्द ही 'लाकुल गुरु' की याद दिलाता है। इस पर से मेरा अनुमान है कि रावल नाम से प्रसिद्ध योगियों की समूची शाखा वस्तुतः लकुलीश पाशुपत संप्रदाय की उत्तराधिकारी है। इन लोगों में जाति-पाँति का बंधन पहले भी नहीं था इसलिये वे लोग क्रमशः मुसलमान होते गए। शुरू-शुरू में जब गोरक्षनाथ ने शैव और योगमूलक संप्रदायों का संगठन किया होगा तो इन्हें संप्रदाय में इसलिये स्वीकार किया होगा कि उन दिनों ये शास्त्रज्ञ संप्रदाय की प्रतिष्ठा पा गए थे। इनमें योग-प्रक्रिया भी पर्याप्त मात्रा में थी। गोरक्षनाथ के पंथ में आने के बाद, जैसा कि हुआ करता है, इन लोगों के संप्रदाय में गोरक्षनाथ लकुलीश के अवतार मान लिये गए होंगे और बाप्पा रावल के साथ गोरक्षनाथ के संबंध की कहानी चल पड़ी होगी।[2]

इस प्रसंग में एक उल्लेख योग्य तथ्य की चर्चा करना असंगत नहीं है। सोमनाथ में उपलब्ध चित्रप्रशस्ति में दाता का नाम उलूकराज लिखा हुआ है। भाण्डारकर ने लिखा है कि शिव के दो अवतारों के नाम उलूक थे और इस प्रशस्ति के उलूक वैसे ही किसी शैव संप्रदाय के उपासक होंगे। परन्तु फ्लीट ने 'वायुपुराण' या 'लिंग पुराण' में कोई ऐसा प्रमाण नहीं पाया।

अब भी, उलूक कौन थे इस विषय में पंडितों ने तरह-तरह के अनुमान किए हैं। 'महाभारत' (सभापर्व २७.५) में लिखा है कि जब अर्जुन उत्तर देश जय करने गए थे 'उलूक' नाम की एक जाति से उनका सामना हुआ था। ये लोग संभवतः 'उल्लू' टोटेमवाली जाति के थे। अब लक्ष्य करने की बात है कि संस्कृत में उलूक का पर्याय 'कौशिक' भी है। क्यों कौशिक शब्द उलूक का वाचक हो गया इसका कोई संगत कारण अभी तक नहीं बताया जा सका है। परन्तु उलूक लाकुलीश संप्रदाय के जैव थे। लकुलीश के साक्षात् शिष्य का नाम 'कुशिक' था। 'उलूक' जाति के लोग इन्हीं कुशिक की परंपरा में पड़ने के कारण 'कौशिक' कहे जाते होंगे। पुरानी परंपरा

---

१. ब्रिग्स · पृ० २४०।

२. इस विषय में अनुसंधित्सु पाठकों की जानकारी के लिये एक और बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है। रावल अपने को नागनाथ का अनुयायी कहते हैं। लकुलीश की मूर्तियों को अभी तक इतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया है कि उनके चित्र प्रकाशित हों, इसलिये उन मूर्तियों की विशेषता के विषय में कुछ कह सकना कठिन है। परन्तु डा० बर्गीज ने एलोरा (वेरूल) की गुफाओं में एक शिव के योगी चित्र का अंकन प्रकाशित किया है। उसमें शिव बाएँ हाथ में लाठी लिए हुए पद्म पर समासीन हैं और पद्म नागों के फण पर है। फ्लीट ने इसको लकुलीश मूर्ति माना है। इससे रावलों के नागनाथी होने पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

के भूल जाने पर 'कौशिक' शब्द उलूक पक्षी का पर्याय समझ लिया गया है। इस व्याख्या से 'उलूक' जाति संबंधी बाद का एक युक्तिसंगत निर्णय हो जाता है! शकुनि के एक भाई का नाम भी 'उलूक' था। इस पर से फ्लीट ने अनुमान किया है कि 'उलूक' जाति या तो उसका वंशज है या फिर 'उलूक' कोई जाति ही है। शकुनि गांधार के राजा थे इसलिये उलूकों का स्थान उधर ही हो सकता है। यह लक्ष्य करने की बात है कि रावलों के प्रधान पीठ अब भी अफगानिस्तान में ही अधिक हैं।

'सर्वदर्शन संग्रह' में कणाद-दर्शन को ही औलूक्य दर्शन कहा गया है। इस नाम के कारण टीकाकार ने दो बताए हैं। एक तो यह कि कणाद उलूक ऋषि के वंशज थे। दूसरा वह कि शिवजी ने उलूक का रूप धारण करके कणाद मुनि को छः पदार्थों के ज्ञान का उपदेश दिया था। कणाद का वैशेषिक दर्शन प्रसिद्ध है। 'सर्वदर्शन संग्रह' में किसी प्राचीन ग्रंथ का एक श्लोक उद्धृत करके बताया गया है कि किस दृढ़ता से ये लोग शिव के साक्षात्कार को मुक्ति (दुःख निवृत्ति) का उपाय मानते थे। जिस दिन आदमी आसमान को इस प्रकार ढँक लेंगे जिस प्रकार चमड़े से कोई बर्तन ढँका जाता है उसी दिन वे शिव को जाने बिना भी दुःख का अन्त पा जायेंगे![1] अर्थात् शिव को जाने बिना परमसुख का मिलना असंभव है। आगमों को पढ़कर महेश्वर के गुण को सुनना, सुने हुए को अनुमान से ठीक-ठीक समझना और समझे हुए को ध्यानाभ्यास से मन में बार-बार अनुभव करना—तीन प्रकार से अपनी बुद्धि को शिव में लगाने से उच्चतम योग प्राप्त होता है।[2] औलुक्य लोगों का यही विश्वास है!

३. पूरन भगत और राजा रसालू

पूरन भगत (चौरंगीनाथ) और राजा रसालू—सारे पंजाब में और सुदूर अफगानिस्तान तक में पूरन भगत और राजा रसालू की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। ये दोनों ही सियालकोट के राजा सालवाहन (शालिवाहन) के पुत्र बताए जाते हैं। कहते हैं, पूरन भगत अन्त में बहुत बड़े योगी हो गए थे और चौरंगीनाथ नाम से प्रसिद्ध हुए। मियाँ कादरयार की लिखी हुए एक पंजाबी कहानी पर 'संगपूरन भगत' गुरुमुखी अक्षरों में छपी है। कहानी का सारांश इस प्रकार है।

पूरनभगत उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के वंशज थे। उनके बापदादों ने सियालकोट के थाने पर अधिकार कर लिया था। इनके पिता का नाम सलवान (सालवाहन-शालिवाहन) था। जन्म के बाद ज्योतिषी के आदेशानुसार पूरन बारह वर्ष तक एकान्त में रखे गये थे। इस बीच राजा ने लूण नामक एक चमार की युवती से शादी कर ली। एकान्तवास के बाद पूरन अपने माँ बाप से मिले। उन्होंने सहजभाव से

---

१. यदाचर्यंददाकाशं वेष्टयिष्यंसि मानवाः।
तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥—स० द० सं०, पृ० २१

२. आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासबलेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम ॥—वही, पृ० २१

विमाता को 'माँ' कहकर पुकारा, इस पर गर्विणी नई रानी का यौवनभाव आहत हुआ। उसने कई अपप्रस्ताव किए। अन्त में पूरनभगत के सरल स्वभाव से उसकी उद्दामता अत्यन्त प्रबल हो उठी। ईर्ष्या से अंधी होकर इस रानी ने राजा से उल्टी-सीधी लगाकर पूरन के हाथ पैर कटवा कर और आँखें फुड़वाकर कुएँ में डलवा दिया। इस कुएँ से गुरु गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया। गुरु के आशीर्वाद से उनके हाथ पैर और आँखें फिर से मिलीं। जब वे नगर लौटकर गए और उनके पिता को इस छल का पता लगा तो राजा ने कठोर दण्ड देना चाहा पर पूरन ने निषेध किया। पूरन की माँ रो-रोकर अंधी हो गई थी। पूरन की कृपा से उन्हें आँखें मिलीं और उन्हीं के वरदान से पुत्र भी हुआ। पिता ने आग्रहपूर्वक उन्हें राजसिंहासन देना चाहा पर पूरन ने अस्वीकार कर दिया। अन्त में वे गुरु के पास लौट गए और बड़े भारी सिद्ध हुए। हाथ पैर कट जाने के कारन वे चौरंगी हुए थे। इसीलिए इनका नाम चौरंगीनाथ हुआ। स्यालकोट में अब भी वह कुआँ दिखाया जाता है जहाँ पूरन भगत को फेंका गया था।

पूरन भगत की यह कहानी यो० स० आ० में भी दी हुई है (पृ० ३७२)। वहाँ स्यालकोट का नाम शालीपुर दिया हुआ है। सम्भवतः ग्रंथकार ने स्याल का शुद्ध संस्कृत रूप 'शालि' समझा है। परन्तु वास्तव में पुराना नाम 'साकल' है।

राजा रसालू पूरन भगत के वैमात्रेय भाई थे। इनके समय को लेकर पंडितों ने अनेक अनुमान भिड़ाए हैं। सन् १८८४ ई० में टेंपुल ने खोज करके देखा कि राजा रसालू का समय सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी हो सकता है। उनके अनुमान का आधार यह था कि पंजाब की दो जाट जातियाँ—सिद्ध और संसी—अपने को इनके वंश का बताती हैं। सिद्ध लोग अपना संबंध जैसलमेर के संस्थापक जैसल नामक राजपूत राजा से बताते हैं। इस राजा की मृत्यु सन् ११६८ ई० में हुई थी और इसने जैसलमेर की स्थापना सन् ११५८ ई० में की थी। संसी लोग और भी पुराने काल से अपना सम्बन्ध बताते हैं। वे अपने को सालवाहन के पिता राजा गज के बंशधर मानते हैं। टाड ने लिखा है कि राजा गज से गजनी के सुलतान की लड़ाई हुई थी। अन्त तक गज हार गया था और पूरब की ओर हटने को बाध्य हुआ था। उसी ने स्यालकोट की स्थापना की थी। बाद में उसने गजनी को भी अपने अधिकार में कर लिया था। यह सातवीं शताब्दी के अंत की घटना है और इस प्रकार राजा रसालू का काल आठवीं शती होता है। अरबी-इतिहास लेखकों ने आठवीं शताब्दी के प्रतापी हिन्दू राजा की बहुत चर्चा की है। उसके नाम को नानाभाव से लिखा है। एक दूसरा प्रमाण भी इस विषय में संग्रह किया जा सका है। रिसल नामक एक हिन्दू राजा के साथ मुहम्मद कासिम ने सिंध में संधि की थी। संधि का समय आठवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग है। इस प्रकार टेम्पुल ने अनुमान किया है कि रिसल असल में रसालू ही होगा और उसका समय आठवी शताब्दी के आदिभाग में होना चाहिए[1] कुछ पंडितों ने तो

---

१. ब्रिग्स : पृ० २३६-२४१।

राजा शालिवाहन को शकसंवत् का प्रवर्तक माना है। डा० हर्चिसन ने इन्हें पँवार राजपूत माना है। ये इनके मत से यदुवंशी राजपूत थे और रावलपिण्डी—जिसका पुराना नाम गजपुरी है। इनकी राजधानी थी। बाद में सीथियनों से घोर युद्ध के बाद इन्हें पूरब की ओर से हटना पड़ा। तभी स्यालकोट में इनकी राजधानी हुई। ब्रिग्स साहब ने इन सब बातों पर विचार करके यही निष्कर्ष निकाला है कि यह सब कहानियाँ केवल यही सिद्ध करती हैं कि राजा रसालू के समय में सीमांत पर हिंदुओं और विधर्मियों का जबर्दस्त संघर्ष चल रहा था। और इसीलिये पूरन भगत और राजा रसालू का समय वस्तुतः ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व में ही होना चाहिए।[1]

स्पष्ट ही है कि राजा रसालू या पूरनभगत को ग्यारहवीं शताब्दी में खींच ले आने का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। केवल अनुमान के बल पर समस्त प्रकार की परम्पराओं और ऐतिहासिक सच्चाइयों के विरुद्ध कोई निर्णय करना साहस मात्र है। परम्पराएँ और ऐतिहासिक प्रमाण स्पष्टरूप से पूरनभगत और राजा रसालू को गोरक्षनाथ के पूर्व ले जाते हैं। इसका एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि वस्तुतः ही ये दोनों गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती हैं। उनके द्वारा प्रवर्तित या समर्थित शैव साधकों में कुछ योगाचार रहा होगा जिसे गोरक्षनाथ ने नये सिरे से अपने मत में शामिल कर लिया होगा। उनको गोरक्षनाथ का शिष्य बताने वाली कहानियाँ परवर्ती हैं। गोरक्षनाथ अपने काल के इतने प्रसिद्ध महापुरुष हुए थे कि उनका नाम अपने पंथ के पुरोभाग में रखे बिना उन दिनों किसी को गौरव मिलना सम्भव नहीं था। जो लोग वेद विमुखता और ब्राह्मविरोधिता के कारण समाज में अगृहीत रह जाते, वे उनकी कृपा से ही प्रतिष्ठा पा सकते थे।

इस प्रकार पूर्ववर्ती संप्रदाय का नवोदित शक्तिशाली संप्रदाय में अंतर्भुक्त होना अनहोनी बात नहीं है। परवर्ती इतिहास में इसके अनेक प्रमाण हैं। चैतन्यदेव के नवोदित भक्तिमार्ग में अनेक तांत्रिकमत प्रवेश कर गये थे। नित्यानन्द के साथ बहुत बड़ा अर्धबौद्ध दल उस सम्प्रदाय में आ गया था। सूरदास गऊघाट पर रहा करते थे और शिष्य बनाया करते थे। महाप्रभु बल्लभाचार्य से जब वे प्रभावित हुए तो समस्त शिष्य बल्लभ सम्प्रदाय में प्रविष्ट हो गये। कबीरदास के पंथ में अनेक पूर्ववर्ती योगी जातियाँ शामिल हो गई थीं—यह हम अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में दिखा चुके हैं। यह लक्ष्य करने की बात है कि रावल लोग—जो वस्तुतः लाकुल या लकुलीश सम्प्रदाय के पाशुपत थे—अपना सम्बन्ध राजा रसालू से बताते हैं और उनकी एक प्रधान शाखा—गल या पागलपंथी—चौरंगीनाथ को अपना मूल प्रवर्त्तक मानते हैं। चौरंगीनाथ पूरनभगत का ही नामान्तर बताया जाता है।

४. पुरी के सतनाथ

यह भी शिव द्वारा प्रवर्तित टंक या पंथ की शाखा से सम्बद्ध बताया जाता है।

---

१. ब्रिग्स : पृ० २३८-२४१।

धरमनाथ इसी सम्प्रदाय के थे जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि रावल पीर के रूप में पुनर्बार अवतरित हुए थे। इन दिनों भी पुरी के सतनाथी लोग अपने को अन्यान्य सम्प्रदायों से कुछ विशिष्ट मानते हैं। सन् १९२४ में पुरी महन्त ने ब्रिग्स साहब को बताया था कि वे लोग कपड़े से लिपटा हुआ जो एक तृणदण्ड रखते हैं, वह उनका विशेष चिह्न है।[1] इसे वे लोग 'सुदर्शन' कहते हैं। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि लगुलि या लाठी लकुलीश की विशेषता है। ब्रिग्स साहब को भी इस दंड को देखकर सन्देह हुआ है कि यह लकुलीश सम्प्रदाय का अवशेष होगा[2] लकुलीश सम्प्रदाय में किस प्रकार का लगुड़ धारक किया जाता था, उसका आभास हुविष्क की सुवर्ण मुद्राओं से मिल जाता है।[3] लकुट शिव क्यों धारण करते हैं। इस मत के अनुसार समस्त बद्ध जीव 'पशु' हैं और शिव एकमात्र स्वतंत्र पशुपति हैं। पशुओं अर्थात् बद्धजीवों का नियपन ही लकुट या लगुल धारण करने का उद्देश्य है। इस प्रसंग में यह उल्लेख योग्य है कि दीर्घकाल से गोरक्षपंथी योगी एक प्रकार का दण्ड या डंडा धारण करते आ रहे हैं। कबीरदास ने भी इस डंडे को लक्ष्य किया था और मलिक मुहम्मद जायसी ने भी।[4]

यह खूब सम्भव है कि जिसे सतनाथी साधु 'सुदर्शन' कहते हैं वह लाकुलीशों के लकुल का अवशेष हो। तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी तक सतनाथी धरमनाथ को 'रावल' समझा गया था। इस पर से भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि सतनाथी शाखा भी पाशुपतों की ही कोई शाखा होगी जो बाद में गोरक्षनाथ के प्रभाव में आई होगी।

शिव के अन्यान्य सम्प्रदायों के बारे में विशेष कुछ ज्ञात नहीं हो सका है किंतु अधिक शोध करने पर उनका भी सम्बन्ध किसी न किसी पुराने शैव सम्प्रदाय से अवश्य सिद्ध होगा।

---

१. ब्रिग्स : पृ० १२४।

२. वही : पृ० २२, टिप्पणी।

३. चे० एफ० फ्लीट ने रायल एसियाटिक सोसायटी के सन् १९०७ ई० के जर्नल (पृ० ४२१ की पाद टिप्पणी) में लिखा है कि लकुल 'खट्वांग' नामक शिव के शस्त्र का पर्याय होगा। 'खट्वांग' खटिया के पाये के आकार का शस्त्र होता था जो बहुत कुछ गदा के समान ही समझा जाना चाहिए। यह लक्ष्य करने की बात है कि दक्षिण के पल्लव राजा लोग अपनी पताकाओं पर खट्वांग का चिह्न व्यवहार किया करते थे। फ्लीट ने कहा कि यदि लकुल और खट्वांग एक ही हों तो इन पल्लवों को भी लकुल-सम्प्रदाय का अनुयायी समझना चाहिए।

४. कंथा पहिरि डंड कर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा॥
मुंदरा स्रवन कंठ जपमाला। कर उपदान कांध बघछाला॥
—पदुमावती, पृ० २३८।

पाठकों को यह जानने की इच्छा हो सकती है कि लकुलीश मत के मान्य सिद्धांत क्या थे ?[१] अभी तक इस संप्रदाय का उल्लेख योग्य एक ही ग्रंथ अनन्तशयन संस्कृत ग्रंथमाला में कौंडिन्यकृत 'पंचार्थ भाष्य' के साथ प्रकाशित हुआ है। इन पशुपतों के अनुसार पाँच ही पदार्थ होते हैं, कारण, कार्य, योग, विधि और दुखांत। इनमें (१) कारण तो साक्षात् पशुपति अर्थात् शिव ही हैं, (२) कार्य तीन हैं, (i) बद्धजीव जिसे 'पशु' कहा जाता है (ii) उसका ज्ञान (विद्या) और (iii) उसे परतंत्र बनाने वाली जड़ वस्तु (कला)। जो पशु (जीव) शरीर और इंद्रियों को धारण किये रहता है वह 'सांजन' कहलाता है और जो इनसे मुक्त हो गया होता है वह निरंजन। (३) चित्तद्वार से आत्मा और ईश्वर के सयोग को योग कहते हैं और (४) बाह्य आचारों को विधि। विधि दो प्रकार की होती है, व्रत और द्वार। भस्मस्नान, भस्मशयन, उपहार, जप, प्रदक्षिणा आदि व्रत हैं। इन लोगों की विधियों में नाचना, गाना, अट्टहास करना, स्त्री का स्वांग करना, अनर्गल बकना, लोकनिंदित कार्य करना, उच्छिष्टभक्षण आदि का उल्लेख है। (५) दुःखांत दुःख से परनिवृत्ति या मोक्ष को कहते हैं, जो योग और विधि द्वारा प्राप्त होता है। 'सर्वदर्शन संग्रह' में इनके मत की विस्तृत चर्चा है। वहाँ बताया गया है कि ये लोग वैष्णवों की बताई हुई मुक्ति को सर्वदुःख से निवृत्ति नहीं मानते क्योंकि वैष्णव लोगों का विश्वास है कि आत्मा मुक्त होने पर भी विष्णु का सेवक बना रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी पारतंत्र्य दुःख से निवृत्ति नहीं हुई। पर इनके मत मुक्त होने पर जीव परमेश्वर के गुण से युक्त होकर उन्हीं के समान हो जाता है।[२]

५. योगमार्गीय शाखा

गोरक्षनाथ के प्रवर्तित छः मार्ग बताए जाते हैं। इनमें जिन पन्थों का पुराना परिचय प्राप्त है, वे मुख्यतः योगमार्गीय हैं। उनमें कई प्रकार की पुरानी साधनाओं के भग्नावशेष अब भी पाए जा सकते हैं। इनमें वाममार्गी, शाक्त, बौद्ध और सम्भवतः वैष्णवयोगपरक संप्रदाय अंतर्भुक्त हुए हैं। कुछ इनमें ऐसे हैं, जिनका कोई पुराना संबंध नहीं खोजा जा सका। परन्तु अधिकांश ऐसे हैं जिनका पुराना संबंध आसानी से सिद्ध किया जा सकता है। अब यह बात अविदित नहीं रही कि नवीं शताब्दी के पहले लगभग सभी संप्रदायों में योगमार्ग और तांत्रिक क्रियाओं का प्रचार हो गया था।

---

१. हिन्दी पाठक निम्नलिखित प्रबन्ध पढ़ सकते हैं :
(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० २५६-७ में पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा की टिप्पणी।
(२) विश्वभारती पत्रिका (खंड १, पृ० २४२-२४६) में पं० बलदेव उपाध्याय का लेख।

२. स० द० सं० : पृ० १६१।

क्या वैष्णव और क्या शैव, सभी में मंत्र, मुद्रा, योग, चक्र आदि की उपासना प्रचलित हो गई। शैव और वैष्णव दोनों ही संप्रदायों में आगमों और संहिताओं की प्रामाण्यता स्वीकृत हुई। आगम तीन प्रकार के हैं, वैष्णवागम या संहिताएं, शैवागम और शाक्त-आगम या तंत्र। हमें पूर्ववर्ती अध्यायों में शैव और शाक्त आगमों का परिचय थोड़ा बहुत मिल चुका है। इस स्थान पर प्रसंग प्राप्त वैष्णव-संहिताओं की संक्षिप्त चर्चा कर लेने से आगे कही जाने वाली बात कुछ अधिक स्पष्ट होगी।

वैष्णवागम दो प्रकार के हैं : 'पांचरात्र संहिताएं' और 'बैखानससूत्र'। दक्षिण में अब भी ऐसे बहुत से मन्दिर हैं जहाँ वैखानस सहिताओं का व्यवहार होता है; परन्तु प्राचीन काल में और अधिक होता था। कहते हैं, रामानुजाचार्य के हस्तक्षेप से वैखानस संहिताओं का व्यवहार उठ गया और उनके स्थान पर पाँचरात्र संहिताओं का प्रचार बढ़ा। तिरुपति के वेंकटेश्वर मंदिर तथा काँजीवरम् के कई मंदिरों में अब भी वैखानस संहिताएँ व्यवहृत होती हैं। पाँचरात्र संहिताओं और वैखानस संहिताओं की व्यवहार विधि में अन्तर है। अप्पयदीक्षित का कहना है कि पाँचरात्र मत अवैदिक है और वैखानस मत वैदिक। सो, पाँचरात्र मत का अभ्युत्थान इस युग की प्रधान विशेषता है। श्रेडर ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'इन्ट्रोडक्शन टु दि पाँचरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्न्य संहिता' में कहा है कि यद्यपि बहुत सी संहिताएँ बाद में बनी हैं परन्तु इनमें बारह प्राचीन संहिताएँ निश्चित रूप से नवीं शताब्दी के पहले बन चुकी थीं और कुछ का अस्तित्व तो सन् ईसवी के पूर्व भी था।

इन संहिताओं में शैव आगमों की भाँति ही चार विषयों का प्रतिपादन है :— (१) ज्ञान अर्थात् ब्रह्म, जीव तथा जगत् के पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण, (२) याग अर्थात् मोक्ष के साधनोभूत योगक्रियाओं का वर्णन; (३) क्रिया अर्थात देवालय के निर्माण, पूजन, मूर्ति प्रतिष्ठा आदि विषयों के विधान और (४) चर्या अर्थात् नित्य और नैमित्तिक कृत्य, मूर्तियों तथा यंत्रों की पूजापद्धति और पर्वविशेष के उत्सवादि।[1] इनमें चर्या का वर्णन ही बहुत अधिक हुआ करता है। बाकी में क्रिया, ज्ञान और योग की चर्चा हुआ करती है। बहुत कम संहिताओं में चारों पदों पर ध्यान दिया गया। 'पाद्मतंत्र' एक ऐसी संहिता है जिसमें सभी पाद भली भाँति आलोचित हैं। पर इसमें भी योग के लिये ग्यारह पृष्ठ, ज्ञान के लिये पैंतालीस, क्रिया के लिए दो सौ पन्द्रह और चर्या के लिये ३४६ पृष्ठ हैं।[2] इसी से संहिताओं का प्रधान वक्तव्य विषय समझा जा सकता है। वस्तुतः ये प्रधान विषय क्रिया और चर्या ही हैं। इसीलिये संहिताओं को वैष्णवों का कल्पसूत्र कहा जाता है। शास्त्रीय विभाग को छोड़ दिया जाय तो इनमें मन्त्र, यंत्र, मायायोग, योग, मन्दिर निर्माण प्रतिष्ठान विधि, संस्कार

---

१. भारतीय दर्शन : पृ० ४६३।

२. श्रेडर : इन्ट्रोडक्शन टु दि पाँचरात्र ऐन्ड अहिर्बुध्न्य संहिता, पृ० २२।

(आह्निक), वर्णाश्रम धर्म और उत्सव, इन्हीं दस विषयों का विस्तार अधिक है।[1] यह विषय सूची ही स्पष्ट कर देती है कि संहिताओं में तांत्रिक पद्धति और योग की प्रधानता है। प्रकृत प्रसंग यह है कि हमारे आलोच्य काल में वैष्णव-संप्रदाय में योग-क्रिया का प्रवेश हो गया था। और इन योग और तन्त्रमूलक शास्त्रों को अवैदिक भी बताया जाने लगा था। इसी प्रकार बौद्ध, जैन, आदि मार्गों में भी योग क्रिया का प्रवेश हुआ था। इनमें निश्चय ही स्तर-भेद वर्तमान था। कुछ शाखाएँ ऐसी थीं जो संप्रदाय के वैदिकता-प्रवण मार्ग से दूर विक्षिप्त हो गई थीं और योग क्रियाओं को अधिकाधिक अपनाने लगी थीं। गोरक्षनाथ के मार्ग में इन्हीं संप्रदायों का सम्मिलन हुआ। आगे भिन्न-भिन्न मार्गों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(१) भर्तृहरि—गोरक्षनाथ के एक अन्य पंथ का नाम वैराग्य पंथ है। भरथरी या भर्तृहरि इस पंथ के प्रवर्तक हैं। भर्तृहरि कौन थे, इस विषय में पंडितों में नाना प्रकार के विचार हैं परन्तु पंथ का नाम वैराग पंथ देखकर अनुमान होता है कि 'वैराग्य शतक' नामक काव्य के लेखक भर्तृहरि ही इस पंथ के मूल प्रवर्तक होंगे। दो बातें संभव हैं—(१) या तो भर्तृहरि ने स्वयं कोई पंथ चलाया हो और उसका नाम वैराग्य मार्ग दिया हो या (२) बाद में किसी अन्य योगमार्ग ने 'वैराग्य शतक' में पाये जाने वाले वैराग्य शब्द को अपने नाम के साथ जोड़ लिया हो। 'वैराग्य शतक' के लेखक भर्तृहरि ने दो और शतक लिखे हैं, 'शृङ्गार शतक' और 'नीति शतक'। इन तीनों शतकों को पढ़ने से भर्तृहरि की जिन्दादिली और अनुभवीपन खूब प्रकट होते हैं। चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा है कि भर्तृहरि नामक कोई राजा था जो सात बार बौद्ध संन्यासी बना और सात बार गृहस्थ आश्रम में लौट आया। वैराग्य और शृङ्गार शतकों में भर्तृहरि के इस प्रकार के संशयित भावावेगों का प्रमाण मिलता है। संभवतः शतकों के कर्त्ता भर्तृहरि इत्सिंग के भर्तृहरि ही हैं। उनका समय सप्तम शताब्दी के पूर्वभाग में ठहरता है। कहानी प्रसिद्ध है कि अपनी किसी रानी के अनुचित आचरण के कारण ये विरक्त हुए थे। 'वैराग्य शतक' के प्रथम श्लोक से इस कहानी का सामंजस्य मिला लिया जा सकता है! परन्तु इसी भर्तृहरि से गोरक्षनाथ के उस शिष्य भर्तृहरि को जो दसवीं शताब्दी के अन्त में हुए होंगे अभिन्न समझना ठीक नहीं है। यदि 'वैराग्य शतक' के कर्त्ता भर्तृहरि गोरक्षनाथ के शिष्य थे तो क्या कारण है कि सारे शतक में गोरक्षनाथ का नाम भी नहीं आया है? यही नहीं, गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित हठयोग 'वैराग्य शतक' के कर्त्ता परिचित नहीं जान पड़ते। मेरा इस विषय में यह विचार है कि भर्तृहरि दो हुए हैं, एक तो 'वैराग्य शतक' वाले और दूसरे उज्जैन राजा जो अन्त में जाकर गोरक्षनाथ के शिष्य हुए थे। भर्तृहरि का वैराग्य-मत गोरक्ष द्वारा अनुमोदित हुआ और बाद में परिवर्ती भर्तृहरि के नाम से चल पड़ा। इस मत को भी गोरक्ष द्वारा 'अपना' मत माना जाना इसीलिए हुआ होगा कि कपिलयानी शाखा तथा नीम-

१. श्रेडर : इन्ट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र ऐण्ड आनिर्बुध्न्य संहिता, पृ० २६।

नाथी पारसनाथी—शाखा की भाँति इनमें योगक्रियाओं का बहुत प्रचार होगा। द्वितीय भर्तृहरि के विषय से आगे कुछ विचार किया जा रहा है। यह विचार मुख्य रूप से दन्तकथाओं पर आश्रित है। इसके विषय में नाना प्रकार की कहानियाँ प्रचलित हैं। मुख्य कथा यह है कि ये किसी मृगीदल-बिहारी मृग को मार कर घर लौट रहे थे। तब मृगियों ने नाना प्रकार के शाप देना शुरू किया और वे नानाभाव से विलाप करने लगीं, दयार्द्र राजा निरुपाय होकर सोचने लगा कि किसी प्रकार यह मृग जी जाता तो अच्छा होता। संयोगवश गुरु गोरक्षनाथ यहाँ उपस्थित हुए और उन्होंने इस शर्त पर कि मृग के जी जाने पर राजा उनका चेला हो जायगा, मृग को जिला दिया। राजा चेला हो गया। कहते हैं गोपीचंद की माता मयनामती (मैनावती) इनकी बहन थीं।

हमारे पास 'विधना क्या कर्तार' का बनाया हुआ 'भरथरी चरित्र' है जो दूधनाथ प्रेस, हवड़ा से छपा है। इस पुस्तक के अनुसार भरथरी या भर्तृहरि उज्जैन के राजा इंद्रसेन के पौत्र और चंद्रसेन के पुत्र थे। वैराग्य ग्रहण करने के पूर्व राजा सिंहलदेश की राजकुमारी सामदेई से विवाह करके वहीं रहता था। वहीं मृग का शिकार करते समय उसकी गुरु गोरखनाथ से भेंट हुई थी। हम पहले ही विचार कर चुके हैं कि योगियों का सिंहलदेश वस्तुतः हिमालय का पाददेश है, आधुनिक सीलोन नहीं।

एक और कहानी में बताया जाता है कि भर्तृहरि अपनी पतिव्रता रानी पिंगला की मृत्यु के बाद गोरक्षनाथ के प्रभाव में आकर विरक्त हुए और राज्य अपने भाई विक्रमादित्य को दे गये। उज्जैन में एक विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) नामक राजा सन् १७०६ से ११२६ तक राज्य करता रहा। इस प्रकार भर्तृहरि ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग के ठहरे। एक दूसरी कहानी में रानी पिंगला को राजा भोज की रानी बताया गया है। राजा भोज का राज्यकाल १०१८ से १०६० ई० बताया गया है।[२] एक दूसरे मूल से भी भर्तृहरि मयनामती और गोपीचन्द्र का सम्बन्ध स्थापित किया जा सका है। पालवंश के राजा महीपाल के राज्य में ही, कहते हैं, रमणवज्र नामक वज्रयानी सिद्ध ने मत्स्येन्द्रनाथ से दीक्षा लेकर शैव मार्ग स्वीकार किया था। यही गोरक्षनाथ हैं। पालों और प्रतीहारों (उज्जैन के) का झगड़ा चल रहा था। कहा जाता है कि गोविन्दचन्द्र महीपाल का समसामयिक राजा था और प्रतीहारों के साथ उसका सम्बन्ध होना विचित्र नहीं है।[३]

(२) **गोपीचन्द्र और मयनावती**—गोपीचन्द और मयनामती (मयनावती) की कहानी सारे भारतवर्ष में पाई जाती है। गोपीचन्द बंगाल के राजा मानिकचन्द के पुत्र थे। मानिकचन्द का सम्बन्ध पालवंश से बताया जाता है जो सन् १०८५ ई० तक

---

१. ब्रिग्स : पृ० २४४।

२. ट्रा० का० सें० प्रो० : जिल्द २, पृ० ४०३ और ब्रिग्स, पृ० २४४।

३. ब्रिग्स : म० मं० प० हरप्रसाद शास्त्री के आधार पर।

बंगाल में शासनारूढ़ था। इसके बाद ये लोग पूर्व की ओर हटने को बाध्य हुए थे। कुछ पण्डितों ने इस पर से अनुमान किया है कि ये ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में हुए होंगे। गोपीचन्द का ही दूसरा नाम गोविन्दचन्द्र है। हमने मत्स्येन्द्रनाथ का समय निर्धारित करने के प्रसंग में तिरुमलय में प्राप्त शैललिपि पर से इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास होना पहले भी अनुमान किया है। गोपीचन्द मयनामती के पुत्र थे जो किसी हाड़ी सिद्ध की शिष्या बताई जाती हैं। ये हाड़ी सिद्ध जालंधरनाथ ही थे, ऐसी प्रसिद्धि बंगाल में पाई जाती है। सिंध में गोपीचन्द पीर पटाव नाम से मशहूर हैं। पीर पटाव की मृत्यु सन् १२०८ ई० में हुई थी। 'तुफतुल किरान' में पीरपटाव की कहानी दी हुई है। यह कहानी गोपीचन्द को १२वीं शताब्दी में पहुँचाती है। परन्तु पीर पटाव गोपीचन्द ही थे या नहीं, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। जो हो इसमें संदेह नहीं कि गोपीचन्द बंगाल के राजा थे। इतिहास मे यह शायद अद्वितीय घटना है। जब माता ने पुत्र को स्वयं वैराग्य ग्रहण करने को उत्साहित किया हो। गोपीचन्द की कहानियाँ इस प्रकार हैं—

(१) गोपीचन्द बंगाल के राजा थे, भर्तृहरि की बहन मैनावती इनकी माता थीं। गोरक्षनाथ ने जिस समय भर्तृहरि की ज्ञानोपदेश दिया था, उसी समय मैनावती ने भी गोरक्षनाथ से दीक्षा ली थी। वह बंगाले के राजे से ब्याही गई थीं। इसके एक पुत्र गोपीचन्द और एक कन्या चन्द्रावली ये दो सन्तानें थीं। चन्द्रावली का विवाह सिंहलद्वीप के राजा उग्रसेन से हुआ था। पिता की मृत्यु के बाद जब गोपीचंद बंगाले का राजा हुआ तो उसके सुन्दर कमनीय रूप को देखकर मैनावती के मन में आया कि विषयसुख में फँसने पर इनका यह शरीर नष्ट हो जायगा। इसीलिये उसने पुत्र को उपदेशक दिया कि 'बेटा, जो शाश्वत-सुख चाहता है तो जालंधरनाथ का शिष्य होकर योगी हो जा।' जालंधरनाथ संयोगवश वहाँ आये हुए थे। गोपीचन्द राजपाट छोड़ योगी हो कदलीवन में चले गये। पीछे से अपनी बहिन चन्द्रावली के अत्यन्त अनुरोध पर उसे भी योगी बनाया (सु० च०, पृ० २५१)।

(२) दुर्लभचन्द्र के गोविन्दचन्द्र गीता का कथा-सार—जालंधरिपाद या हाड़िपा शिव के शापवश पाटीका-भुवन (या मेहारकुल) में राजा गोविंदचंद्र और उनकी सिद्धा माता मयनामती के घर नीच कर्म किया करते थे। मयनामती ने अपने पुत्र को उपदेश दिया कि इस हाड़ी का शिष्य बनकर महाज्ञान प्राप्त करो और अमर हो जाओ। राजा ने तो पहले नीच जाति से दीक्षा लेना स्वीकार नहीं किया। राजा ने माता से पूछा कि तुमको अगर सिद्धि प्राप्त है तो पिता जी क्यों मर गए। रानी ने बताया कि किस प्रकार पति को बचाने के लिए लौहकपाट-बद्ध गृह में बंद करके पहरा देती रही, किस प्रकार यमदूत बार बार आकर रानी की सिद्धि के भय से लौट गए, फिर किस प्रकार एक सप्ताह बाद राजा के अत्यन्त आग्रह से वे भोजन बनाने के लिए वहाँ से हटीं और मौका देखकर यमदूत वहाँ से पति को ले गए। फिर रानी भ्रमरी बन कर यमपुर गई। यम ने कहा कि अनजली मिट्टी ले आओ तो तुम्हारे पति को जिला

दूँ। पर वह गंगा के गर्भ में है जिससे सब जीव बचे हुए हैं। रानी ने उस मिट्टी को लेना उचित नहीं समझा और पति नहीं बच सके। गोरखनाथ ने रानी को जलते जतुगृह में प्रवेश करने को कहा। वहाँ से वह साफ निकलीं। फिर तो राजा माता की सिद्धि देखकर दीक्षा लेने को राजी हो गया। हाड़िपा या जालन्धरिपाद ने शिष्य करने में आपत्ति दिखाई। पर राजा ने छोड़ा नहीं। बाद में नगर में से भिक्षा माँग लेने को शर्त पर राजी हुए। राजा सारे नगर मारा फिरा पर जालंधरिपाद के माया-प्रभाव से उसे किसी ने भिक्षा नहीं दी—अपनी प्रियतमा रानियाँ उदुना और पुदुना ने भी नहीं। अंत में माता मयनामती ने ही भिक्षा दी, पर गुरु ने उसे भी मायाबल से उड़ा दिया। हैरान राजा गोविंदचन्द्र गुरु के पास खाली हाथ लौटे। गुरु ने कहा, दूसरे देश से भिक्षा ले आओ। शिष्य गुरु के साथ ही देशान्तर जाने को राजी हुआ। झोली ले भभूत रमा करके गुरु के साथ राजा-शिष्य निकल पड़ा। मस्ताने गुरु ने दक्षिण देश की किसी वीरांगना के घर राजा को कुछ कौड़ियों पर बंधक रखा। उस राजा से प्रेम करना चाहा और प्रत्याख्यात हो कर कष्ट देने लगी। इधर उदुना पुदुना रानियों ने अपनी वियोग-कथा को तोते-मैनों के पखों में बाँध कर उड़ाया। वे सर्वत्र उड़ते हुए उस स्थान पर भी पहुँचे जहाँ राजा गोविंदचंद्र बन्दी थे। उनका समाचार तोते मैनों ने रानियों को दिया, रानियों ने सास मयनामती को, मयनामती ने गुरु जालधरिपाद को। इधर उस हीरा नामक वीरांगना ने राजा को भेड़ा बना दिया। गुरु वहाँ पहुँचे। कौड़ियाँ लौटाकर उन्होंने बन्धक माँगा। हीरा ने कहा कि वह आदमी तो मर गया। पर गुरु ने ध्यान के बल से समझ लिया। हुँकार छोड़ते ही भेड़े का बन्धन टूटा और राजा भी मनुष्य हुए। इस बार शिष्य को लेकर गुरु यमलोक में गए। वहाँ पर राजा ने अपने दुष्कर्मों का हिसाब देखा तो योगी होने का पक्का निश्चय कर लिया। गुरु ने अब राजा को महाज्ञान दिया। राजा महाज्ञान पाकर घर लौटे और रानियों को योगविभूति दिखाने लगे। हाड़िपा ने जब यह जाना तो महाज्ञान हर लिया। अब राजा कोई भी चमत्कार नहीं दिखा सके। रानियों ने हँसकर कहा बड़े भारी गुरु हैं तुम्हारे। जादू और टोना भर जानता है वह आदमी। राजा ने विश्वास किया और दूसरे ही दिन हाड़िपा को पकड़वा मँगाया। उस समय वे ध्यानस्थ थे। उसी अवस्था में राजा ने उन्हें भूमि में गड़वा दिया।

इधर हाड़िपा के शिष्य कानुपा ने गोरखनाथ के मुख से जो अपने गुरु का संवाद पाया तो बालक योगी का रूप धारण करके गोविंदचंद्र की राजधानी में पहुँचे। योगी का प्रवेश वहाँ निषिद्ध था। कोतवाल ने इस शिशु योगी को पकड़कर रानी उदुना के सामने पेश किया। बालक योगी ने बताया कि मैं गुरुहीन होकर भटक रहा हूँ। मैं योग भला क्या जानूँ और रानी के बन्धन से मुक्त हुए। तब कानुपा राजा के पास गये और एक हुँकार छोड़ा। सोलहसौ हाड़िपा के शिष्य उपस्थित हुए। राजा ने योगियों को भोजन कराना शुरू किया। भला योगियों का पेट कैसे भरता। अन्त में राजा ने उन्हें सिद्ध समझा और असली परिचय पाकर भीत हुआ। राजा को

हाड़िपा के क्रोध से रक्षा करने के लिये कानुपा ने तीन पुतलियाँ बनाईं। खोद कर हाड़िपा को जब निकाला गया तो उन्होंने क्रोधभरी दृष्टि से तीन बार गोविन्दचन्द्र को देखना चाहा तीनों बार कानुपा ने पुतलियाँ दिखाईं जो जलकर भस्म हो गईं। फिर गुरु कुछ शान्त हुए तब राजा गोविन्दचन्द्र ने क्षमा माँगी। अबकी बार वे सच्चे योगी हुए। काक में शंख का कुण्डल और शरीर में भस्म रमा कर देशान्तर के लिये चल पड़े। रानियों ने जो विलाप शुरू किया तो उन्हें प्रस्तरमूर्ति में रूपान्तरित कर दिया। अबकी बार वे सचमुच अमर हुए और माता मयनामती प्रसन्न हुईं।

(३) मयनामती गान का सारांश—एक बार गोरक्षनाथ राजा तिकलचन्द्र के घर गये। वहीं बालका शिशुमती को महाज्ञान का उपदेश दिया। यही रानी मयनामती हुई। इसका विवाह राजा मानिकचन्द से हुआ। रानी ने मानिकचन्द को महाज्ञान का उपदेश करना चाहा पर वे स्त्री को गुरु बनाने को राजी नहीं हुए। राजा ने अन्त में मयनामती को घर से निकाल दिया। वे 'फेरुसा' नगर में चली गईं। मानिकचन्द ने चार पटरानियों और १८० सामान्य भार्याओं के साथ बिहार करने में काल बिताया। मृत्यु के समय उन्हें होश आया और रानी मयनामती को बुलवाया। जब तब रानी राजा के आदेश से हीरामाणिक्य खचित सुवर्ण शृङ्गार में गंगा का जल ले आने को गईं तब तक यमदूत राजा का प्राण ले भागे रानी ने यमदूतों से बहुत लड़ाई की, पर पति को नहीं बचा सकीं। उस समय उनके गर्भ से गोविन्दचन्द्र या गोपीचन्द्र थे। पैदा होकर यही लड़का राजा हुआ। पर वास्तविक शक्ति रानी के ही हाथ में रही। गोविन्दचन्द्र ने बड़ा होकर साभार (वर्तमान ढाका मे) के राजा की अदुना नामक कन्या से विवाह किया। द्वितीय कन्या पदुना दहेज में मिली।

भट्टशाली द्वारा संपादित 'मयनामती के गान' में ऐसा आभास पाया जाता है कि दाक्षिणात्य राजा राजेन्द्र चोल ने अपनी एक कन्या गोविन्दचन्द्र को देकर संधि स्थापित की थी। रानी मयनामती ने देखा कि १८ वर्ष की उमर में यदि गोविन्दचन्द्र संन्यास नहीं लेता है तो उसको उन्नीसवें वर्ष में मृत्यु निश्चित है। फलतः रानियों को रोती बिलपती छोड़ हाड़िपा गुरु जालंधरिपाद से दीक्षा लेकर राजा १२ वर्ष के लिए प्रव्रजित हुए। रानी ने जब हाड़ि से दीक्षा लेने की बात कही तो राजा ने बहुत प्रतिवाद किया यहाँ तक कि हाड़ी के साथ रानी के गुप्त प्रेम और अपने पिता को विष प्रयोग से मार डालने का अभियोग भी लगाया। पर रानी ने रोकर कहा कि हाड़ी और वे दोनों ही गोरक्षनाथ के शिष्य है। अस्तु राजा संन्यासी हुआ और दक्षिण देश की हीरा नामक वेश्या से उससे प्रेम करना चाहा। प्रत्याख्यात होने पर उसने उसे नाना प्रकार के कष्ट दिए। एक दिन पानी भरते समय राजा को ज्ञात हुआ कि १२ वर्ष बीत गया और अपना जाँघ चीर कर रक्त से एक पत्र लिखकर कबूतर के पर में बाँध कर उड़ा दिया। कबूतर ने उस खबर को यथास्थान पहुँचा दिया। तब गुरु हाड़ि ने आकर राजा का उद्धार किया। राजा दीर्घकाल बाद जब राजधानी लौटे तो अंतःपुर गये। वहाँ रानी अदुना उन्हें पहचान न सकीं। अपरिचित को अन्तःपुर में जाते देख कुत्ता

ललकार दिया और हाथी से कुचलवा देने का आदेश किया। दोनों ने राजा को पहचान कर सिर झुका लिया। तब रानी ने उन्हें पहचाना और राजा सिंहासनासीन हुए। [दीनेशचन्द्र सेन के 'बंगभाषा ओ साहित्य' (पृ० ५५-५७) में दी हुई कथा के आधार पर संकलित।]

(४) डॉ० मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक में पंजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी में संगृहीत कई हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'उदास गोपीचन्द, गाथा, गोरखपद' नाम से एक अंश छापा है जो गोपीचन्द और उनकी माता मयनावती (मैनावन्ती) के संवाद के रूप में है। माता ने पुत्र को योगी वेश में देखकर बहुत दुःख अनुभव किया इस पर पुत्र ने याद दिलाया कि तुम्हारे ही उपदेश से मैंने यह वेश लिया है और जब मैं इस मार्ग में रम गया तो तुम पछताती हो। संवाद के बाह्य रूप से ही स्पष्ट रूप में मालूम होता है कि यह गोपीचन्द का अपना लिखा हुआ नहीं है। उनके मत को व्यक्त करने के लिये किसी ने बाद में लिखा है। भाषा भी नई है। फिर भी इस संवाद में से गोपीचन्द के मत को समझने में सहायता तो मिल ही सकती है। संवाद में गोरखनाथ को गोपीचन्द का गुरु बताया गया है।

म० म० प० गोपीनाथ कविराज ने[1] गोपीचन्द और जालंधरनाथ के संवाद रूप में कुछ संस्कृत वाक्य उद्धृत किए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ये वाक्य किसी पुरानी हिन्दी कविता की संस्कृत छाया है। एक पद है, 'बसतौ स्थीयते तदा कन्दर्पो व्याप्नुते। बने स्थीयते तदा क्षुत् सन्तापयति।' संस्कृत वाक्य में कोई तुक नहीं मिला परन्तु हिन्दी में यदि इसे 'व्यापै—सन्तापै' मान लिया जाय तो तुक मिल जाता है। छन्द भी हिन्दी बंध में ठीक उतरता है। सारा संवाद 'गोरखमछान्द्र बोध' के अनुकरण पर लिखा हुआ परवर्ती है। संवाद के रूप में सिद्धों की बातचीत के रूप में पाई जाने वाली रचनाएँ संदेह मूलक हैं। उन पर से किसी सिद्धान्त पर पहुँचना सब समय ठीक नहीं।

६. रसेश्वर मत

हमने ऊपर देखा है कि हठयोग में प्राणायान का विशेष महत्व है। परन्तु हठयोग के ग्रन्थों में तीन चाञ्चल्य धर्मी तत्वों का उल्लेख है जिनमें से किसी एक को वश में लाने से अभीष्ट सिद्धि होती है। ये हैं: (१) प्राण (२) मन और (३) बिन्दु प्रथम दो के संयमन-विधि की चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं। तीसरे की एक अत्यन्त विचित्र और परम उपकारी परिणति हुई है, यहाँ उसी का उल्लेख किया जा रहा है। बिन्दु का अर्थ शुक्र है। ऐसा जान पड़ता है, कि इसके अधोगति को कालाग्नि कहते थे[2] ऊर्ध्व-

---

१. स० भ० स्ट० : छठा भाग, १९२७

२. कृष्णपाद के 'दोहा कोष' के चौदहवें दोहे में 'कालाग्नि', शब्द आता है। उसकी संस्कृत टीका (मेखला) में कहा है कि 'कालाग्निश्च्युत्यवस्था'। बौ० गा० दो० पृ० १२८।

गति को 'कालाग्निरुद्र'[१]। नाना यौगिक क्रियाओं से बिन्दु को ऊर्ध्वगामी करने का विधान है। उर्ध्वरेता के प्राण और मन अचंचल हो जाते हैं तथा कुण्डलिनी-शक्ति उद्‌बुद्ध होकर ऊर्ध्वगामिनी होती है। यह 'कालाग्नि-रुद्रीकरण' योग मार्ग की एक महत्त्वपूर्ण साधना थी। 'कालाग्नि रुद्र' नामक एक उपनिषद भी है परन्तु इससे उपर्युक्त 'कालाग्नि रुद्र' का कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता। केवल इससे इतना ही जाना जाता है कि कालाग्नि रुद्र कोई देवता हैं, इनसे सनत्कुमार ने प्रश्न किया था कि भस्म धारण का तत्त्व क्या है? ऐसा जान पड़ता है कि जिस प्रकार बिन्दु के अधःपतन के देवता विषहर, नंदिनीवृत्ति के देवता काम और स्थिरीभाव के देवता निरंजन है[२] उसी प्रकार उर्ध्वगमन के देवता कालाग्नि रुद्र हैं। सम्भवतः वज्रयानियों के कालाग्नि ही नाथ-सिद्धों के विषहर हैं। जो हो, बिन्दु के ऊर्ध्वगमन से अमरत्व प्राप्ति हठयोग की एक महत्त्वपूर्ण साधना है। इसी का एक रूप है स्त्री के रज को आकर्षक करके बिन्दु के साथ मिलाकर उसका ऊर्ध्वपातन। यह वज्रोलिका मुद्रा कही जाती है।

इसी साधना का भौतिक रूप में भी विकास हुआ है। पारा शिव का वीर्य है और अभ्रक पार्वती का रजः[३]। इन दोनों के मिश्रण को यंत्र विशेष से ऊर्ध्वपातित करने से शरीर को अमर बनाने वाला रस तैयार होता है।[४]

किसी प्राचीन ग्रंथ से एक श्लोक उद्धृत करके 'सर्वदर्शन संग्रह' में बताया गया है कि चूंकि पारद (पारा) ससार सागर को पार करा देता है इसीलिए यह 'पारद' कहा जाता है। संदेह हो सकता है कि मुक्ति तो देह त्याग के बाद होती है, देह को अजर-अमर बना देने वाला रसायन कैसे मुक्ति दे सकता है? उत्तर में कहा गया है कि वस्तुतः यह शंका वही लोग करते हैं जो यह नहीं जानते कि पारद और अभ्रक कोई मामूली वस्तु नही हैं वे हर और गौरी के शरीर के रस हैं, इनके शुद्ध प्रयोग से मनुष्य त्याग किये बिना ही दिव्य देह पा कर मुक्त हो जाता है और समस्त मंत्रसमूह उसके दास बन जाते है।[५]। अभ्रक और पारद के मिलने से जो रस उत्पन्न होती है वह

---

१. उर्ध्वं स्वभावा यः पिण्डे स स्यात् कालाग्निरुद्रकः—सि० सि० सं० ३।५

२. अ म रौ घ शा स न : पृ० ८

३. अभ्रकस्तववाजं तु मम वीजं तु पारदः।
अनयोर्मिलनं देवि मृत्युदारिद्र्यनाशनम्॥
स० व० सं०, पृ० २२४

४. पारद की तीन दशा कही गई है—मूर्छित, मृत और बद्ध। ये ही प्राण की भी दशाएँ हैं। रससिद्धों ने कहा है कि ये दानों ही मूर्छित होकर व्याधि हरते हैं, मृत होकर जिला देते हैं और बद्ध होकर अमर कर देते हैं—'मूर्छितो हरति व्याधान् मृतो जीवयति स्वयम्। बद्धश्चामरतां नेति रसो वायुश्च भैरवि।'

५. ये चात्यक्तशरीरा हरगौरीसृष्टिजां तनुं प्राप्ताः।
मुक्तास्ते रससिद्धा मंत्रगणः किंकरो येषाम्॥रसहृदय १।७

मृत्यु और दरिद्रता का नाश करता है। 'रसेश्वर सिद्धान्त' में राजा सोमेश्वर, गोविन्द भगवत्पादाचार्य गोविंदनायक, चर्वटि, कपिल, व्यालि, कापालि, कन्दलायन तथा अन्य अनेक ऐतिहासिक पुरुषों का इस रस-सिद्धि से जीवन्मुक्त सिद्ध होना बताया गया है।[1]

इस रसेश्वर मत का हठयोग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परमेश्वर (शिव) ने एक बार देवी से कहा था कि कर्मयोग से पिण्ड धारण किया जा सकता है। यह कर्मयोग दो प्रकार का होता है--(१) रसमूलक और (२) वायु का प्राणमूलक। रस और वायु दोनों में ही यह विशेषता है कि मूर्छित होने पर वे व्याधि को दूर करते हैं, मृत होने पर जीवन देते हैं और बद्ध होने पर आकाश में उड़ने योग्य बना देते हैं।[2] रस पारद का नाम है, क्योंकि वह साक्षात् शिव के शरीर का रस है—मम देहरसो यस्मात् रसस्तेनायमुच्यते।

रसग्रन्थों में इसके स्वेदन, मूर्छन, पातन, निरोधन, मारण आदि की विधियाँ विस्तारपूर्वक बताई गई हैं। आज भी भारतीय चिकित्साशास्त्र में रस का प्रचुर प्रयोग होता है। अमर बना देने वाला रसायन तो शायद किसी को नहीं मालूम पर पारद की अमोघ शक्ति का आविष्कार करके इन सिद्धों ने भारतीय चिकित्साशास्त्र को अपूर्व रूप में समृद्ध किया है। रसायन-चिकित्सा-पद्धति में बेजोड़ वस्तु है। सुप्रसिद्ध विद्वान और चिकित्सक महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन ने लिखा है। आयुर्वेद के रसायन तंत्र से आविष्कारक हैं रसवैद्य या सिद्ध सम्प्रदाय। "ये लोग कई सौ वर्ष पहले पारदादि धातु घटित चिकित्सा का विशेष प्रवर्तन किया था। आर्षकाल में लोहा और सिलाजीत प्रभृति धातुओं का थोड़ा बहुत व्यवहार था जरूर, परन्तु पारदादि का अभ्यान्तर प्रयोग प्रायः नहीं था। रस-वैद्य सम्प्रदाय ने पहले पहल पारद के सर्व रोग-निवारक गुण का आविष्कार किया। इस सम्प्रदाय का गौरव एक दिन इतने ऊँचे उठा था कि एकमात्र पारद से चतुर्वर्ग फल लाभ होता है, इस प्रकार का एक दार्शनिक मत उद्भूत हुआ था जो 'रसेश्वर दर्शन' नाम से प्रसिद्ध है। माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शन संग्रह' में इसका उल्लेख किया है। आजकल प्रचलित आयुर्वेद में इस मंत्र का इतना जबर्दस्त प्रभाव है कि आज के आयुर्वेदशास्त्र को ऋषियुग का आयुर्वेद नहीं कह सकते।.... कहा जाता है कि इस रस सम्प्रदाय का मत आदिनाथ महादेव का उपदिष्ट है और आदिनाथ, चंद्रसेन, नित्यानन्द, गोरक्षनाथ, कपालि, भालुकि, माण्डव्य आदि योगियों ने योगबल से इसकी स्थापना की थी।"[3]

---

१. स० द० सं : पृ० २०४

२. कर्मयोगेण देवेशि प्राप्यते पिण्ड धारणम्।
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधास्मृतः॥
मूर्छितो हरित व्याधिन् मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां कुर्यात् रसो वायुश्च भैरवि॥ स० द० सं०, पृ० २०४

३. आयुर्वेद परिचय, (विश्व-विद्या संग्रह, शान्तिनिकेतन, १३५० बंगाब्द) पृष्ठ १२-१३

अनेक नाथपंथी सिद्धों के लिखे हुए रसग्रंथ आज भी वैद्यों में प्रचलित हैं। सिद्धनागार्जुन के 'नागार्जुनतंत्र' और 'रसरत्नाकर' (अमुद्रित), नित्यनाथ का 'रस-रत्नाकर' ('रसखंड' और 'रसेन्द्रखंड' कलकत्ते से तथा इन दोनों सहित 'रसायनखंड' अर्थात् संपूर्ण ग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थमांला, बंबई से मुद्रित) और 'रसरत्नमाला' (अमुद्रित) शालिनाथ की 'रसमंजरी' काकचण्डीश्वर का कहा जाने वाला 'काक चण्डेश्वरी मत-तंत्र' और मंथान भैरव का 'रसरत्न' आयुर्वेद शास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माने जाते हैं। चर्पटनाथ के रससिद्ध होने की बात पहले ही कही जा चुकी है।

गोरक्षनाथ भी रसायनविद्या के आविष्कारक माने जाते हैं परन्तु उनके नाम से प्रचलित कोई इस विषय का ग्रन्थ नहीं मिला। 'प्राणसंकली'[1] नामक जो छोटी-सी पुस्तिका गोरखबानी में छपी है उसमें केवल शरीर संस्थान का वर्णन है। प्राण संकली शब्द का अर्थ है प्राणों का वचन। इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि इसमें शरीर रक्षा विषयक सिद्धियों का वर्णन होगा। श्री सन्त संपूरन सिंह जी ने तरनतारन से एक 'प्राण संगली' ग्रन्थ प्रकाशित किया है।

यह गुरु नानकदेव का कहा गया है परन्तु पंजाबी के सुप्रसिद्ध विद्वान् कवि चूड़ामणि भाई सन्तोषसिंहजी ने इस बात को अस्वीकार किया है। उन्होंने 'श्री गुरु-प्रताप सूरजग्रंथ' में लिखा है कि 'प्राण संगली' की सबसे पुरानी प्रति 'पुरातनजनम साखी' में मिलती है जो षष्ठ गुरु के समय की लिखी हुई मालूम पड़ती है। इसमें 'प्राण संगली' इस प्रकार शुरू होती है :—

उनमन सुन्न सुन्न सम कहीए।
उनमन हरख सोग नहीं रहीए।

इसमें २२ पौड़ियाँ (छंद विशेष) हैं। परन्तु जो लिखी हुई प्रतियाँ देखने में मिली हैं उनमें १३ अध्याय हैं। यथा—(१) सुन्न महल की कथा (२) परम तत्त्व (३) प्राण पिण्ड (४) हाटका (५) नौ नाड़ी (६) पंच तत्त्व (७) योग मार्ग (८) काल वाच निर्योग (९) आसा-योग-वैराग (१०) ओनम सुन्न (११) निर्योग भक्ति (१२) गुरु स्तुति (१३) सच खंड की युक्ति (१४) श्री संत संपूर्ण सिंह जी की टीका सहित हिन्दी में छपी हुई 'प्राणसंगली' के इक्कीस अध्याय हैं। वे इस प्रकार हैं — (१) ओंकार सबका मूल, (२) नौ नाड़ी, (३) पंच तत्त्व (४) सुन्न महल (५) परम तत्त्व (६) अ० प्रवान पिण्ड, आ० सिद्ध गोष्ट (७) योग मार्ग (८) रंग-माला-योग-निधि (९) हाटका (१०) निर्वाण (११) उदास-कर्म-योग वैराग (१२) योग-वैराग-सचखंड की जुगत (१३) गोष्ट रामानन्द (१४) शून और उत्पत्ति (१५) सतगुरु स्तुति (१६) काल-वाच-निर्योग-भक्ति (१७) कलावंतीबानी (१८) निर्योग

1. मच्छेन्द्रनाथ के शिष्य चौरंगीनाथ लिखित बताई जाने वाली एक 'प्राणसंकली' नामक पुस्तक पट्टी के जैन मन्दिर मे सुरक्षित है।

भक्ति (१६) छोटी रत्नमाला (२०) बड़ी रत्नमाला (२१) जीव की नसीहत के योग्य उपदेश।[1]

'प्राणसंगली' श्रीगुरु नानक जी ने शिवनाथ के निमित्त दी थी, ऐसा कहा जाता है। क्या यह वही है ? कहना कठिन है, क्योंकि उस गुरु जी ने जल में विसर्जन कर दिया था। संभव है पीछे इसका उद्धार किया गया हो लेकिन श्री गुरु ग्रंथसाहिब में इसका समावेश न होना यही प्रमाणित करता है कि यह ग्रन्थ गुरुवाणी का दरजा नहीं रखता। बारीकी के साथ देखने से और दोनों को तर्ज का मिलान करने से यह अन्तर सुस्पष्ट हो जाता है, 'प्राण संगली' उदासी संतों की रचनाओं के अधिक नजदीक पड़ती है। 'ग्रन्थ साहिब' में उसका समावेश न होने से ही यह सिद्ध होता है कि गुरु अर्जुनदेव जी ने इसे नानक जी की वाणी नहीं समझा, नहीं तो उनके द्वारा इसकी उपेक्षा असंभव थी। जान पड़ता है प्रचलित घटिया बानियों से गुरुबानी का प्रभेद सुस्पष्ट रखने के उद्देश्य से ही अर्जुनदेवजी 'ग्रंथ-साहिब' के संकलन कार्य में प्रवृत्त हुए। संभव है 'प्राण संगली' को देख कर ही उन्हें ऐसा करने का विचार सूझा हो। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'प्राणसंगली' योग और रसायन का ग्रन्थ है। इसमें सिद्ध चरपटनाथ और गुरुनानक से बातचीत के रूप में विविध रसायनों का उल्लेख है। बहुत संभव है गुरु गोरक्षनाथ की 'प्राण संगली' कोई बड़ी पुस्तक थी, यह ग्रंथ उसी के अनुकरण पर लिखा गया हो।

इस प्रकार गोरक्ष संप्रदाय में रसेश्वर मत भी अन्तर्भुक्त हुआ है। संभवतः सिद्धों का यह सबसे महत्त्वपूर्ण दान है।

७. वैष्णव योग

गोरखनाथ के सम्प्रदायों के कपिलानी या कपिलायनशाखा वैष्णव योग की पुरानी परम्परा पर आश्रित होने से वैष्णव योग कही जा सकती है। कपिलमुनि विष्णु के अवतार थे। दशवीं शताब्दी में कपिलायनयोग किस रूप में वर्त्तमान था, इसका आभास 'भागवतपुराण' से मिल सकता है। कपिल भगवान ने अपनी माता देवहूति को इस योग का उपदेश दिया था। 'भागवत' के तृतीय स्कंध के छब्बीसवें अध्याय से लेकर कई अध्यायों तक इसका विस्तृत वर्णन है। छब्बीसवें अध्याय में सांख्यशास्त्र के तत्त्ववाद का वर्णन है, फिर सत्ताईसवें अध्याय से योग का वर्णन है। संक्षेप में भागवत में उपदिष्ट मत का सारांश यह है :

"परम पुरुष परमात्मा निर्गुण है; सुतरां अकर्त्ता और अविकार है। सूर्य जल में प्रतिबिम्बित होने पर भी वास्तव में जल का धर्म जो चंचलता व हिलना है, उसमें लिप्त नहीं होता। वैसे ही यह पुरुष देह में स्थित होने पर भी प्रकृति (माया) के गुणों के उत्पन्न जो सुख दुःख आदि है उनमें लिप्त नहीं होता।

---

१. गुरुप्रताप सूरज ग्रंथ, पृ० २०४३ की पादटीका का हिन्दी रूपान्तर।

हे मातः ! वही एक निर्गुण आत्मा प्रकृति आदि चौबीस गुण समूर (सतोगुण युक्त मन आदि, रजोगुण युक्त इन्द्रियादि, तमोगुण युक्त पंचभूतादि, द्वारा सज्जित हो कर अहंकार मय होता है। उसी अहंकार में मूढ होकर अपने को ही प्रकृति कार्यों का कर्त्ता मानता है। अतएव आवारा होकर प्रासंगिक कर्म के दोष से सत् (देव) असत् (तिर्यक्) मिश्र (मनुष्य) योनियों में उत्पन्न होकर संसार पदवी को प्राप्त होता है। (अर्थात् जन्म मरण से दुःख से पीड़ित होता है (२७-१-३)।

यम आदि योग-मार्गों का अभ्यास करता हुआ श्रद्धापूर्वक मुझमें सत्य भक्ति-भाव करे, मेरी कथाओं का श्रवण करे, सब प्राणियों को एक दृष्टि से देखे, किसी से बैर न करे असत्संग न करे, ब्रह्मचर्य और मौन (प्रयोजन भर बोलना) रहे, धर्म करे और उसे ईश्वरार्पण कर दे।

जो मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहे, उतना ही भोजन करे जिससे शरीर स्वस्थ रहे, मुनिव्रत का अवलम्बन करे, एकान्त में रहे, शान्त स्वभाव धारण करे, सबसे मित्रभाव रक्खे, दया और धैर्य धारण किये रहे। प्रकृति और पुरुष का तत्त्व दिखाने वाले ज्ञान का ग्रहण कर इस देह अथवा इसके संगी स्त्री पुत्रादि में 'मैं हूँ—मेरा है' इस असत् आग्रह को त्याग दे। बुद्धि के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन अवस्थाओं को निवृत्त करके तुरीय अवस्था में स्थित हो। सबमें अपने को, अपने में सब को देखे, तब वह आत्मदर्शी पुरुष आत्मा से परमात्मा को प्राप्त होता है। जैसे चक्षुस्थित (चक्षु के अठिष्ठाता) सूर्य (वा तेज) द्वारा सूर्य का दर्शन होता है (अर्थात् चक्षु-स्थित सूर्य द्वारा आकाश स्थित सूर्य की प्राप्ति होती है वैसे ही पूर्वोक्त नियम के पालन से अहंकारयुक्त आत्मा द्वारा शुद्ध आत्मा अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति होती है) इस अवस्था को प्राप्त पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है। वह ब्रह्म निरुपाधि अर्थात् चिह्न रहित है तथा असत् अहंकार में सतरूप से भासित होता है। वह ब्रह्म सत् अर्थात् प्रधान का अधिष्ठान है, और असत् जो माया का कार्य है, उसके नेत्र के सदृश प्रकाशक है। कारण और कार्य दोनों में आधार रूप से अनुस्यूत है एवं अद्वय अर्थात् परिपूर्ण है : (भागवत् २७. ६--११)

संसारी जीव के देह में सर्वत्र ही ब्रह्म विराजमान है। उस ब्रह्म के तीन आवरण हैं। एक आवरण देह, इन्द्रिय और मन आदि हैं। दूसरा आवरण अहंकार है। इन्द्रिय-मय देह में आत्मा का तेज जितना है उसकी अपेक्षा अहंकार वा चैतन्यमय देह में अधिक है। तृतीय आवरण प्रकृति है। आत्मा की प्रभा देखना हो तो वह आत्मा प्रकृति में जाज्वल्यमान रूप से देख पड़ता है। अर्थात् प्रथम (आत्मगत) आत्म बिम्ब को देहादि-गत जानना होगा फिर आत्मसत्ता को अहंकारगत बोध करना होगा, फिर वह दर्शक स्वभावगत प्रकृति से व्याप्त आत्मा का दर्शन कर सकने पर शुद्धब्रह्म के देखने में समर्थ होगा। इस सुषुप्ति अवस्था में सूक्ष्मपंचभूत, इंद्रिय, मन, बुद्धि, इत्यादि तंद्रा व निद्रा द्वारा असन्तुल्य अव्याकृत प्रकृति में लीन, अर्थात् जड़ता को प्राप्त होने पर यह आत्मा विनिद्र अर्थात् ज्ञानरहित वा जड़तारहित एवं अहंकारहीन होकर अपने स्वरूप अर्थात्

सच्चिदानन्द ब्रह्म को प्राप्त होता है। उस समय यह आत्मा साक्षीरूप से अवस्थित होकर अपनी उपाधि (अहंकार) के नष्ट होने पर स्वयं नष्ट न होने पर भी अपने को नष्ट जानता है। जैसे धन के नष्ट होने पर आपही मानों नष्ट हो गये, इस प्रकार आतुर होते प्रायः लोग देख पड़ते हैं। (भागवत २७, १२—१५) अपने धर्म का भक्ति-पूर्वक यथाशक्ति आचरण, विरुद्ध वा निषिद्ध धर्म (अधर्म) विवृत्त होना, जो प्रारब्ध वा दैव वश प्राप्त हो उसमें संतोष, आत्मतत्व के जानने वाले ज्ञानियों के चरणों की सेवा-पूजा। ग्राम्य अर्थात् धर्म, अर्थ काम इस त्रैवर्गिक धर्म से निवृत्त मोक्षदायक धर्म में रति; शुद्ध एवं मित (जितने में योगाभ्यास करने में कोई विक्षेप न हो उतना ही) भोजन करना; बाधारहित निर्जन स्थान में रहना। हिंसा (शारीरिक, वाचिक, मानसिक हिंसा, अर्थात् दूसरे को मन, वाणी और काया से पीड़ित करना) न करना, सत्य बोलना, अन्यायपूर्वक पर-धन न ग्रहण करना, जितनी वस्तु की आवश्यकता है उतनी वस्तु का संग्रह रखना। ब्रह्मचर्य रहना, और तप, शौच (बाह्य व आन्तरिक), स्वाध्याय (वेद-पाठ), परमपुरुष का पूजन करना। मौन (प्रयोजन से अधिक न बोलना) रहना, आसन जीतकर स्थिर भाव से स्थिर होना, फिर धीरे-धीरे क्रम से प्राण वायु को जीतना, इन्द्रियों को मन द्वारा विषयों से हटाकर अन्तःकरण में लीन करना। मूलाधार आदि प्राण के स्थानों में किसी एक स्थान में मन सहित प्राण को स्थित करना, भगवान की लीलाओं का मन में ध्यान करना, एवं मन को समाधि (एकाग्रता) में लगाना। इन सम्पूर्ण एवं इनके अतिरिक्त अन्य व्रत आदि उपायों से असत् (विषय) मार्ग में लगे हुए दुष्ट मन को क्रमशः बुद्धि द्वारा योग-साधन में लगाना चाहिए, एवं आलस्य त्याग कर प्राणवायु को जीतना चाहिये।

(यम, नियम और आसन, इन तीन योग के अंगों को क्रमशः कहकर अब प्राणा-याम आदि अंग कहते हैं। तदनंतर किसी पवित्र-स्थल में आसनजित् व्यक्ति आसन बिछावे। उस आसन पर स्वस्तिकासन से अथवा जिस आसन से सुखपूर्वक बैठ सके उस आसन से बैठकर शरीर को सीधा करके प्राणायाम का अभ्यास करे। पहले पूरक (बाहर के वायु को भीतर भरना) कुम्भक (उस वायु को भीतर रोकना) रेचक (उस वायु को बाहर निकाल देना) इस तीन प्रकार के प्राणायाम से अनुलोम वा प्रतिलोम क्रम से चित्त को ऐसा शुद्ध करे, जिससे वह अपने चंचलता दोष को त्यागकर एकदम शान्त हो जाये। जैसे वायु और अग्नि के ताव से सोना अपने मल को त्याग देता है वैसे ही बारंबार प्राणायाम द्वारा श्वासजय करने से योगी का भी मन शीघ्र ही निर्मल हो जाता है। इसके अनतर समाधि के द्वारा स्वरूप, प्राणायामादि जो चार कार्य मनुष्य को करना चाहिए उन्हें कहते हैं—प्रथम प्राणायाम द्वारा कफ, पित्त आदि शरीर के दोषों को दूर करे, फिर धारणा, (वायु के साथ मन को स्थिर करना) से किल्विष अर्थात् पातक को नष्ट करे, फिर प्रत्याहार (सबसे हटाकर चित्त को ईश्वर में लगाना) से संसर्ग अर्थात् विषय वासना का नष्ट करे, एवं ध्यान से राग द्वेष आदि का त्याग करे। इन सातों अंगों के पश्चात् अन्तिम आठवाँ अंग समाधि (स्थिर मन की अपर ओर

प्रवृत्त होने की निवृत्ति) है। इस प्रकार जब मन भलीभाँति निर्मल और योग द्वारा एकाग्र हो तब नासिका के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर रख कर भगवान् को इस प्रकार की सुन्दर मूर्ति का ध्यान करे। (भागवत २७.१—२)।

मातः ! इस भाँति ध्यान की आसक्ति से योगी को हरि में प्रेम होता है, भक्ति से हृदय परिपूर्ण होकर द्रवित हो जाता है। आनन्द के मारे रोम खड़े हो जाते हैं ! दर्शन की उत्कंठा के कारण नेत्रों में आनन्द के आँसू भर आते हैं। इस प्रकार मन वाणी से न ग्रहण करने योग्य निराकार हरि के ग्रहण करने को बंशी सदृश उपायस्वरूप उस साधक का चित्त क्रमशः ध्येय पदार्थ (अर्थात् उस कल्पित हरि के रूप) से वियुक्त हो जाता है, अर्थात् सम्पूर्ण विषयों से अतीत हो जाता है। (भागवत २७-३४)

जननि ! इस संसार में प्राणी जैसे धन और पुत्र को अति स्नेहवश अपना मानकर भी अपने से विभिन्न जानता है, वैसे आत्मज्ञानीजन शरीरादि को आत्मा से अलग देखते हैं। जैसे काष्ठ की ज्वलन्त अवस्था धूम, अग्नि, शिखा, ये तीनों ही अग्नि से उत्पन्न जान पड़ते हैं, पर अग्नि काष्ठ से और इन अवस्थाओं से भी अलग है। उसी प्रकार साक्षी आत्मा भी अग्नि के सदृश पंचतत्व इन्द्रिय, अन्तःकरण और जीव से अलग है। जीवात्मा से ब्रह्मात्मा वा परमात्मा पृथक् है। इसी भाँति प्रधान (माया स्वरूप तत्व समूह) से उनका प्रवर्त्तक साक्षी परमात्मा अलग है[1] (वही २७-३८—४०)।"

यही कपिल मुनि के उपदिष्ट योग का सारांश है। यह सांख्य-तत्त्ववाद पर आश्रित पातंजल योग का प्राणायाम प्रधान रूप है। प्राणायाम की महिमा इस योग में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है जिस प्रकार हठयोग में। केवल इसमें भक्ति का मिश्रण है। इस प्रकार के योग मार्ग का कापिलायन संप्रदाय गोरक्षनाथ के झंडे के नीचे आ खड़ा हुआ। निश्चय ही यह गोरक्षनाथ से पूर्ववर्ती है। इस प्रकार वैष्णव योग की साधना भी इस मार्ग में अन्तर्भुक्त हुई है।

८. शाक्त उपादान और अन्य संप्रदायों के अवशेष

योगियों में शाक्त उपासना पूरी मात्रा में है। प्रायः सभी पीठों में शक्ति की उपासना की जाती है और उसमें मंत्र, बीज, यंत्र, कवच, न्यास और मुद्राओं का उसी प्रकार प्रयोग होता है जिस प्रकार तांत्रिक साधना में हिंगलाज और ज्वालामुखी की देवियाँ योगियों की परम उपास्या हैं। काशी आदि तीर्थों में भैरव के मन्दिर हैं और उनकी उपासना तांत्रिक विधियों से होती है। यद्यपि गोरक्षनाथ ने कहीं भी मदिरा के सेवन का विधान नहीं किया तथापि 'भैरों का प्याला' योगियों में नितान्त अपरिचित वस्तु नहीं है। परन्तु जो लोग मांस मदिरा की उपासना करते हैं उन्हें वृहत्तर योगि-समाज हीन ही समझता है। श्री चन्द्रनाथ योगी ने बड़े खेद के साथ योगि समाज की

१. पं० रूपनारायण पांडे का अनुवाद शुकोक्ति ६. सुधासागर से !

इन कुप्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। उन्होंने श्री नाथ जी को सम्बोधन करते हुए लिखा है कि 'खेद है कि आपकी सन्तति आधुनिक योगि समाज में अधिकांश ऐसे मनुष्य प्रविष्ट हो गये हैं जिन्होंने अपने नेत्रों के ऊपर पट्टी बाँध ली है....और अभक्ष्यास्वादन में लोलुप हुए उसके ग्रहणार्थ हस्त प्रसृत कर आपकी आज्ञा को उपेक्षित करते हैं। बल्कि यही नहीं कि वे नीच से नीच शब्दवाच्य पुरुष स्वयं ही ऐसा करते हों, प्रत्युत अपनी चाटूक्तियों से अवरुद्ध हुए भोले-भाले सेवकों को भी उन अभक्ष्य पदार्थों के ग्रहणार्थ विवश करते हैं और उनको भयानक वाक्य सुनाते हैं कि "वाह यह तो भैरू का वा देवी का खाजा है, इसको स्वीकार न करोगे तो भैरू वा देवी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न नहीं होंगे ओर तुम्हारा अनुष्ठान निष्फल जायेगा। अहो अविद्ये....जिस योगी नामधारी के ऊपर तेरी छाया पड़ती है वह चाहे पृथ्वी उलट-पुलट हो जाये पर, जिसके मुख पर भैरू का प्याला सुशोभित नहीं हुआ वह सच्चा योगी नहीं है—यह कहता हुआ कुछ भी आगा-पीछा नहीं देखता।"[1] इन्होंने ही आगे चलकर लिखा है —"यम-नियम आदि आठ साधनों से शून्य रहते हुए योगियों के ऐसे कृत्य हैं कि बलि जंत्र मन्त्र से देवी, भैरव आदि को प्रसन्न कर उच्चाटन मारण आदि क्रियाओं को प्राप्त करना, ध्यान लगाने की सुगमता के हेतु मादक चीजों का सेवन करना, क्रिया करते-करते शरीर दुर्बल होने पर सबल बनाने के भ्रम से मांसादि अग्राह्य वस्तु का ग्रहण करना। आजकल बाल सुन्दरी आदि की उपासना में समय नष्ट करते हुए योगी अपने आपको कृत-कृत्य समझ कर मनमानी चीज खाते तथा मनमानी वस्तु व्यवहार करते हैं।[2]

परन्तु कैसे कहा जाये कि 'कुलद्रव्य' का सेवन इस मार्ग में था ही नहीं। स्वयं 'आदिनाथ संहिता' ही कहती है कि जो कौलिकों की, कुलमार्ग की, कुलद्रव्य की और कुलांगना की निन्दा करता है, उससे द्वेष रखता है, उपहास करता है, असूया करता है, शंका करता है, मिथ्या कहता है, वह पुत्र पत्नी समेत शाकिनी-मुख से पतित होता है। उसका रक्त, उसका मांस और उसकी त्वचा चामुण्डा का आहार होता है। योगिनियाँ और भैरवियाँ उसका हड्डी चबा जाती हैं।[3] शाक्तों का कुलार्णवतन्त्र स्पष्ट रूप से उस दिशा तक को नमस्कार करने योग्य घोषित करता है जिधर श्रीनाथ का चरण-

---

१. गो० सं० आ० : पृ० ४१५

२. वही : पृ० ४४०

३. कौलिकान् कुलमार्गं च कुलद्रव्यं कुलांगना।
ये द्विषन्ति जुगुप्सन्ते निन्दन्ति च हसन्ति च॥
ये सूयन्ते च शंकन्ते मिथ्येति प्रवदन्ति ये।
ते शाकिनीमुखे यान्ति सदारसुतबांधवाः॥
पिबन्ति शोणितं तस्य चामुण्डा मांसमुत्त्वचः।
अस्थीनि चर्वयन्तत्यस्य योगिन्यो भैरवीगणाः॥
—गो० सि० सं०, पृ० ४७ में उद्धृत॥

कमल गया हो, क्योंकि पादुका से बड़ा कोई मन्त्र नहीं है, श्री गुरु (नाथ) से बड़ा कोई देव नहीं है, शाक्त मार्ग से बढ़कर कोई मार्ग नहीं है और कुलपूजन से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है।[1]

सो; यह आचरण नया नहीं है, काफी पुराना है। ऐसे ही योगियों का लक्ष्य करके 'हठयोग प्रदीपिका' में कहा गया है कि वही योगी कुलीन कहलाता है जो नित्य 'गोमांस का भक्षण करता है और ऊपर से 'अमर वारुणी' का पान करता रहता है। और योगी तो कुल-घातक है क्योंकि 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे उलट कर तालु देश में ले जाने को ही 'गोमांस लक्षण' कहते हैं। निस्सन्देह यह महापातक को नाश करने वाला है। ब्रह्मरंध्र के पास, सहस्रार पद्म के मूल में जो योनि नामक त्रिकोणाकार शक्तिकेन्द्र है, वही चन्द्रमा का स्थान है, उसी से अमृत रस चुआ करता है, योगी की ऊर्ध्वगा जिह्वा उसी अमृत रस का पान करता है, वही अमर वारुणी है।[2] इसमें जिन्हें कुलघातक कहा गया है वे ऐसे ही योगी रहे होंगे जो देवी का 'खाजा' और 'भैरू का प्याला' संभाले रहते होंगे।

वस्तुतः गोरक्षनाथ के नेतृत्व में ही वाममार्गी शाक्त साधकों का एक दल जो काया योग में विश्वास करता था, योगिसमाज के अन्तर्भुक्त हुआ था। उसकी अपनी क्रिया-पद्धति का अवशेष यह आचार है। कालक्रम से परम्परा के नष्ट होने के वह अपने विशुद्ध पार्थिव रूप में जीता रह गया है।

परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि गोरक्षनाथ के प्रवर्तित योग-मार्ग में शक्ति का स्थान एकदम नहीं था। उन दिनों शैव और शाक्त साधनाएँ परस्पर एक दूसरे से गुँथी हुई थीं। शिव और शक्ति का अभेद सिद्धान्ततः गोरक्षनाथ के मत में मान्य था। पिंड में ब्रह्माण्ड व्यापिनी परासंवित् ही कुण्डलिनी के रूप में स्थित है जिसका उद्बाधन हठयोग का प्रधान लक्ष्य है। वे विश्वास करते थे कि शिव के भीतर ही शक्ति का

---

१. श्रीनाथचरणाम्भोजं यस्यां दिशिविराजते।
तस्यै दिशे नमस्कुर्याद् भक्तया प्रतिदिनं प्रिये॥
न पादुकात् परो मन्त्रो न देवः श्रीगुरोः परः।
न हि शाक्तात् परो मार्गो न पुण्यं कुलपूजनात्॥
—गो० सि० सं० (पृ० ४६) में उद्धृत।

२. गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारुणी।
कुलीनं तमहं मन्ये तरे कुलघातकाः॥
'गो' शब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांस भक्षणं तत्तु महापातक नाशनम्॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतः वह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी॥
—ह० ३. ४६-४८।

वास है और शक्ति के भीतर ही शिव का निवास है, दोनों एकमेक होकर अनुस्यूत हैं। पिन्ड की साधना के मूल में यही शिव और शक्ति का अभेद रूपी सामरस्य है। हठयोग पिन्ड पर आधारित है और पिन्ड केवल परासंवित् रूपा आदि शक्ति का निवास है। चंद्रमा और चंद्रिका में जिस प्रकार का कोई अन्तर नहीं उसी प्रकार शिव-शक्ति अभिन्न हैं।[1] वस्तुतः जीवमात्र में वही सृष्टि विधात्री परासंवित् स्फुटित हो रही है, तत्त्व-तत्त्व में परम रचना-चतुरा वही परासंवित् प्रकाशित हो रही है, ग्रास-ग्रास में—प्रत्येक भोग्य पदार्थ में—चटुल-चंचला लम्पटा वही परासंवित उद्भावित होकर विहार कर रही है, और प्रकाश के प्रत्येक तरंग में वही महामहिमा शालिनी देवी उच्छलित हो रही है—जगत् वस्तुतः उसी का स्वरूप है :

सत्त्वे सत्त्वे सकलरचना संविदेका विभाति।
तत्त्वे तत्त्वे परमरचना संविदेका विभाति॥
ग्रासे ग्रासे बहुलतरला लम्पटा संविदेका।
भासे भासे भजति भवता वृंहिता संविदेका॥

—सि० सि० सं० ४।३८

हमने अनेक स्थलों पर पहले ही वज्रयान, योगिनीकौलमार्ग, तन्त्रयान जैन मत आदि की चर्चा की है, इसलिए उनका विस्तार करना यहाँ उचित नहीं समझा गया।

---

[1] उक्तं च—

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव पश्यामि चंद्रचंद्रिकयोरिव।
नाना शक्तिस्वरूपे सर्वं पिण्डाश्रयत्वतः।
पिण्डधार इतीष्टाख्या सिद्धान्तति धीमताम्॥

—सि० सि० सं० ४-३७-३८।

१४

लोकभाषा में संप्रदाय के नैतिक उपदेश

संस्कृत में योगियों के जो भी ग्रंथ उपलब्ध हैं वे साधारण तौर पर साधनमार्ग के ही व्याख्यापरक ग्रंथ हैं। उनसे योगियों के दार्शनिक और नैतिक उपदेशों का आभास बहुत कम मिलता है। हिन्दी में गोरखनाथ के नाम से जो अनेक पद और सबदी आदि उद्धृत हैं उनमें भी साधनमार्ग की व्याख्या की गई है पर उनमें योगियों के धार्मिक विश्वास, दार्शनिक-मत और नैतिक स्वर का परिचय अधिक स्पष्ट भाषा में मिलता है, इस दृष्टि से इन हिन्दी रचनाओं का विशेष महत्त्व है।

हिन्दी की बहुत-सी रचनाएँ संवाद रूप में मिलती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि दो महात्माओं के संवाद के रूप में अपने दार्शनिक मत और धार्मिक विश्वास को प्रकट करने की यह पद्धति नाथपंथियों का अपना आविष्कार है। इस पद्धति ने परवर्ती सन्त साहित्य को खूब प्रभावित किया था और संवाद रूप में अनेक ऐसे ग्रंथ लिखे गए जिनका उद्देश्य संप्रदाय के विश्वास और मत का प्रचार है। 'मछींद्र गारखबोध' जिसे संक्षेप में 'गोरखबोध' कहा जाता है ऐसा ही संवाद ग्रंथ है। इसमें गोरखनाथ के अनेक प्रश्नों का उत्तर मत्स्येंद्रनाथ ने दिया है। यद्यपि यह ग्रथ गोरखनाथ-लिखित माना जाता है तथापि इसे हम मत्स्येंद्रनाथ के सिद्धान्त का व्याख्याता ग्रन्थ ही कह सकते हैं। गोरखनाथ ने स्वयं इस प्रकार का कोई ग्रंथ लिखा होगा, ऐसा विश्वास न करना ही उचित है। यह बहुत बाद का ग्रंथ होगा। लेकिन इसमें आत्मा, मन, पवन, नाद, बिंदु, सुरति और निरति आदि के स्वरूप पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है और इसे परवर्ती योगी-संप्रदाय का विश्वास व्यापक ग्रंथ आसानी से माना जा सकता है। 'गोरषदत्त गुष्टि', 'गोरष गणेश गुष्टि', 'महादेव गोरष गुष्टि' 'नरवैबोध' आदि रचनाएँ इसी श्रेणी की हैं। इन्हें बहुत प्राचीन और गोरखनाथ की स्वलिखित पुस्तक मानने का आग्रह नहीं होना चाहिए। परन्तु इन ग्रंथों का महत्व अवश्य ही बहुत अधिक है। यह आवश्यक नहीं कि इनमें जो विचार प्रकट किए गए हैं वे भी नये हों। हो सकता है कि ये परंपरा लब्ध पुरातन ज्ञान का ही नया रूप हो। रचना नई होने से ज्ञान नया नहीं हो जाता।

गोरखनाथ के नाम पर जो पद मिले हैं वे कितने पुराने हैं, यह कहना कठिन

है। इन पदों में से कई दादूदयाल के नाम पर, कई कबीर के नाम पर और कई नानक देव के नाम पर पाए गए हैं। कुछ पद लोकोक्ति का रूप धारण कर गए हैं, कुछ ने जोगीड़ों का रूप लिया है और कुछ लोक में अनुभव सिद्ध ज्ञान के रूप में चल पड़े हैं। इन पदों में यद्यपि योगियों के लिये ही उपदेश हैं, अतएव इनमें भी उसी प्रकार की साधना मूलक बातें पाई जाती हैं जो इस प्रकार की सभी रचनाओं का मुख्य प्रतिपादन है पर बहुत से पद ऐसे हैं जिनसे लेखक के नैतिक विश्वास का पता चलता है।

जिस ज्ञान का उपदेश इस प्रकार के साहित्य में दिया गया है उसके लिए गुरु का होना परम आवश्यक माना गया है, इस मार्ग में निगुरे की गति नहीं है—

गुरु की जै गहिला निगुरा न रहिला।
गुरु बिनं ग्यांन न पाईला रे भाईला॥

—गोरखबानी, पृ० १२८

गुरु और शिष्य में अन्तर इतना ही है कि गुरु के पास अधिक तत्त्व होता है और चेले के पास कम। अधिक तत्त्व वाले से कम तत्त्व वाले को सदा ज्ञान ग्रहण करना चाहिए। इन ज्ञान को पा लेने के बाद शिष्य के लिये यह आवश्यक नहीं कि गुरु के पीछे-पीछे भटकता ही फिरे। मन में जँचे तो साथ रह सकता है, न जंचे तो अकेला ही रह सकता है—

अधिक तत्त ते गुरु बोलिये हींण तत्त तें चेला।
मन मांनै तो संगि रमौ नहीं तो रमौ अकेला॥

—गोरखबानी, पृ० ५५

योगी के लिये मन की शुद्धता और दृढ़ता आवश्यक है। उसे रात दिन चलते रहने की और नाना तीर्थों में भटकते फिरने की एकदम जरूरत नहीं है। क्योंकि पंथ चलने से पवन की साधना रुक जाती है और नाद, बिंदु और वायु की साधना शिथिल हो जाती है। फिर जिसका विश्वास है कि संपूर्ण तीर्थ घट के भीतर ही है वह भला कहाँ भरमाता फिरेगा?—

पंथि चलै चलि पवनां तूटै नाद बिंद अरु वाई।
घट ही भीतरि अठसठ तीरथ कहाँ भ्रमै रे भाई॥

—गोरखबानी, पृ० ५५

मन यदि चंगा है तो कठौती में गंगा है। बंधन को अगर दूर कर दिया गया तो समस्त जगत् का गुरुपद अनायास मिल जाता है—

अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा।
बांध्या बेल्हा तो जगत चेला।

—वही, पृ० ५३

हँसना खेलना कोई निषिद्ध कार्य नहीं है। मूल बात है चित्त की दृढ़ता। मनुष्य को इस मूल तथ्य को नही भूलना चाहिये। फिर तो हंसने-खेलने में कोई बुराई नहीं है। काम और क्रोध में मन न आसक्त हो, चित्त की शिथिलना उसे बहकने न दे तो हँसने-खेलने और गाने-बजाने वाले आदमी से नाथजी प्रसन्न ही होते हैं—

हसिबा षेलिबा रहिबा रंग। कांम क्रोध न करिबा संग॥
हसिबा षेलिबा गाइबा गीत। दिढ़ करि राषि आपना चीत॥
हसिबा षेलिबा धरिबा ध्यांन। अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियांन॥
हसै षेलै न करै मन भंग। ते निहचल सदा नाथ के संग॥
—वही, पृ० ३-४

योगी को वाद-विवाद के बखेड़े में नहीं पड़ना चाहिये। जिस प्रकार अड़सठ तीर्थ अन्त तक समुद्र में ही लीन हो जाते हैं उसी प्रकार योगी को गुरु मुख की वाणी में ही जीर्ण हो जाना चाहिये।

कोई बादी कोई विवादी जोगी कौ बाद न करनां
अठसठि तीरथ समंदि समावै यूं जोगी को गुरुमुषि जरनां।
— वही, पृ० ५

योगी जल्दबाजी करके सिद्धि नहीं पा सकता। उसे सोच समझ कर बोलना चाहिए, फूंक-फूंक कर चलना चाहिये, धीर भाव के एक-एक पग धरना चाहिए। गर्व करना उसके लिये बहुत बुरी बात है। उसका व्यवहार सहज होना चाहिए। यह नहीं कि जहाँ-तहाँ फटफटा कर बोल उठे, धड़-धड़ाकर चला जाय और उचकता कूदता निकल जाय। धैर्य उसकी सबसे बड़ी साधना है।

हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा
धीरै धरिबा पावं।
गरबं न करिबा सहज रहिबा
भणत गोरष रावं॥—वही, पृ० ११

योगी बड़ी बिकट साधना करता है। उसका मन यदि थोड़ा भी प्रलोभनों से अभिभूत हुआ तो उसका पतन निश्चित है। इसीलिये वह समस्त विकारों के जीतने की साधना करता है। धीर वह है जिसका चित्त विकारों के होते हुए भी विकृत न हो। कालिदास ने कहा था कि "बिकार हेतौ सतिविक्रियन्ते येषांन चेतांसित एव धीराः" और गोरषनाथ ने कहा है कि

नो लष पातरि आगे नाचैं पीछैं सहज अषाड़ा।
ऐसे मन लै जोगी षेलै तब अन्तरि बसै भंडारा
—वही, पृ० २१७

विकारों के भीतर से निर्विकार तत्त्व का साक्षात्कार पा लेना निस्संदेह कठिन साधना है। योगी यही करता है। अंजन अर्थात् विकारों के भीतर निरंजन अर्थात् विकारहीन शिव को उसी प्रकार पा लेना जिस प्रकार तिल में से कोई तेल निकाल लेता है, योगी का लक्ष्य है। मूर्त जगत के भीतर अमूर्त परम तत्त्व का स्पर्श पाने के पश्चात् ही योगी की वह निरन्तर क्रीड़ा शुरू होती है जो चरम आनन्द है। गोरखनाथ ने कहा है—

अंजन मांहि निरंजन भेट्या,
तिल मुष भेट्या तेलं।
मूरति मांहि अमूरति परस्या,
भया निरन्तरि षेलं॥

—वही, पृ० २१७

योगी का आचरण ही वस्तुतः प्रधान वस्तु है, कथनी नहीं। बड़ी-बड़ी बातें बघारना उचित नहीं है। गोरखनाथ के नाम पर चलने वाले अनेक पदों में शील की महिमा बताई गई है। केवल योगी ही नहीं, शीलवान् गृही भी पवित्र बताया गया है—

सहज सील का धरै सरीर।
सो गिरती गंगा का नीर॥

—वही, पृ० १७

एक पद में शिष्य ने गुरु से पूछा है कि उसका आचरण कैसा हो। वह यदि वन जाता है तो क्षुधा सताती है, नगर में जाता है तो माया व्यापती है, भर-पेट खाता है तो मन में विकार उत्पन्न होता है। यह कठिन समस्या है कि यह जल-विन्दु-विनिर्मित काया सिद्ध कैसे हो?

स्वामी वन षंडिजाउँ तो षुध्या व्यापै
नग्री जाउँ त माया।
भरि भरि षाउँत बिंद बियापै,
क्यों सीझति जलब्यंद की काया॥

—वही, पृ० १२

गुरु ने मध्यवर्ग का उपदेश दिया। खाने पर टूट न पड़ना, बिन खाए भी न रहना दिन-रात अन्तर की ब्रह्म-अग्नि का रहस्य चिन्तन करना, किसी बात पर आग्रह न रखना एक दम निकम्मा भी न हो जाना—ऐसा ही गोरखनाथ कह गए हैं—

धाये न षाइबा भूषे न मरिबा,
अहनिसि लेबा ब्रह्म अगनि का भेवं।

हक न करिबा षड्या न रहिबा,
यूं बोल्या गोरष देवं ।।

—वही, पृ० १२

योगी लोग गृही को बहुत ही दयनीय जीव समझते हैं। उनकी कुछ ऐसी धारणा है कि काम क्रोध का दास ही गृही होता है। एक बार जो गृहस्थाश्रम के बन्धन में बँध गया वह ज्ञान की बात करने का भी अधिकारी नहीं रहा। गृहस्थ का ज्ञान, नशेबाज का ध्यान, बूचे का कान, वेश्या का मान और वैरागी का माया बटोरना, इनके मत में समान भाव से निरर्थक हैं।

गिरही को ग्यान अमली को ध्यांन,
बूचा को कान, वेश्या को मान,
वैरागी अर माया स्यूं हाथ—
या पाँचां 'को एकै साथ ।।

—वही, पृ० ७७

क्योंकि गृही पाशबद्ध जीव है, उसे ज्ञान में अधिकार नहीं :

गिरह होय करि कथैग्यांन,
अमली होय करि धरै ध्यांन।
बैरागी होय करै आसा,
नाथ कहै तीनों षासा पासा ।।

—वही, पृ० ७७

इस मत में पूर्ण ब्रह्मचर्यमय जीवन का आदर्श है। गृही में यह आदर्श नहीं है। बिंदु के संयमन से बड़ी सिद्धि मिलती है। पर दुर्भाग्यवश यह शरीर भी बिंदु विनिर्मित है, अतएव अशुद्ध है। योगी लोग इसकी अपवित्रता के प्रति भी पर्याप्त सचेत हैं। जब तक माता-पिता का दिया हुआ यह धातुमय शरीर मिटा नहीं दिया जाता तब तक नाथ-पद तक पहुँचना असंभव है। यह असंभव नहीं है। मन को गुरुमुख करने से और काया को अग्निमुख करने से इस शरीर की अपवित्रता मिटाई जा सकती है और नाथ-पद तक पहुँचा जा सकता है।

मनमुषि जाता गुरुमुषि लेहू,
लोही मास लगनि मुषि देहू।
मात पिता की मेटौ धात,
ऐसा होइ बुलावै नाथ ।।

—वही, पृ० ६१

क्योंकि साधना के द्वारा यह अङ्ग-शिला के समान अकिंचन शरीर को सिद्धि-

योग्य बनाया जा सकता है। नाद और बिन्दु अपने आप में जड़-प्रस्तर के समान ही तो हैं, पर उनका उचित उपयोग किया जाय तो वे सिद्धों के साथ मिला देने से समर्थ हैं। नाद-बिन्दु का नाम जपते रहने से यह काम नहीं होगा, यह तो उचित साधना का विषय है :

नाद नाद सब कोई कहै, नादहिं ले को बिरला रहै।
नाद बिन्द है फीकी शिला, जिहिं साध्या ते सिधैं मिला॥

—वही, पृ० ६१

गोरखनाथ विशुद्ध ब्रह्मचारी को ही इस मार्ग का पार्थिव स्वीकार करते हैं। नाद और बिन्दु दोनों का संयम आवश्यक है :

यंद्री का लड़बड़ा, जिभ्या का फूहड़ा।
गोरष कहै ते परतषि चूहड़ा॥
काछ का जती मुखा सती।
सो सत पुरुष उतमो कथी॥

—वही, पृ० ५२

इस प्रकार नाद (वाणी) और बिन्दु (वीर्य) को संयमित रखने वाला पुरुष साक्षात शिवरूप हो जाता है।

धन जोबन की करै न आस,
वित्त न राषै कांमिनी पास।
नादबिन्द जाकै घटि करै,
ताकी सेवा पारबती करै।

परन्तु इसके लिए मद्य, भांग धतूरा आदि नशे की चीजों का सेवन करना अनुचित है। पर-निन्दा और नशीली वस्तुओं का सेवन इन दो बातों को नरक का हेतु माना गया है—

जोगी होई पर निंद्या झषै, मद मांस अरु भागि जो भषै।
इकोतर सै पुरिषा नरकहिं जाई। सति सति भाषंत श्री गोरष राई।

—वही, पृ० ५६

अवधू मांस भषन्त दया धरम का नास।
मद पीवत तहाँ प्रांण निरास॥
भांगि भषंत ग्यांन ध्यांन षोवंत।
जम दरबारी ते प्रांणी रेवंत॥

—वही, पृ० ५७

इस प्रकार इस मार्ग में कठोर ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर आन्तरिक शुद्धि और मद्यमांसादि के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है। हिन्दी में पाए जाने वाले पदों में यह स्वर बहुत स्पष्ट और बलशाली है। इस स्वर ने पारवर्ती संतों के लिए आचरण-शुद्धि प्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। सन्त साधकों को बहुत कुछ बनी बनाई भूमि मिली थी। इस मार्ग की सबसे बड़ी कमी इसकी शुष्कता और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव है। इस कमजोरी ने इस मार्ग को नीरस, लोक-विद्विष्ट और क्षयिष्णु बना दिया था। फिर भी इसका दृढ़ कंठस्वर उत्तर भारत के धार्मिक वातावरण की शुद्ध और उदात्त बनाने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। इस दृढ़ कंठस्वर ने यहाँ को धार्मिक साधना में कभी भी गलदश्रु भावुकता और ढुलमुलपन नहीं आने दिया। उत्तर भारत के साहित्य में भी इनके कारण दृढ़ता और आचरण शुद्धि भुलाई नहीं जा सकी है।

१५

उपसंहार

गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे महान् धर्मनेता थे। उनकी संगठन-शक्ति अपूर्व थी। उनका व्यक्तित्व समर्थ धर्मगुरु का व्यक्तित्व था। उनका चरित्र स्फटिक के समान उज्ज्वल, बुद्धि भावावेश से एकदम अनाविल और कुशाग्र तीव्र थी। उनके चरित्र में कहीं भी भावविह्वलता नहीं है। जिन दिनों उन्होंने जन्मग्रहण किया था उन दिनों भारतीय धर्मसाधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्ध जीवन सात्त्विक वृत्ति और अखंड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी थी। गोरक्षनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण विचूर्ण कर दिया। लोक-जीवन में जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धों से आकर उसके पारमार्थिक उद्देश्य से विमुख हो रही थी उसे गोरक्षनाथ ने नई प्राणशक्ति से अनुप्राणित किया। किसी भी रूढ़ि पर चोट करते समय उन्होंने दुर्बलता नहीं दिखाई। वे स्वयं पंडित व्यक्ति थे। पर यह अच्छी तरह जानते थे कि पुस्तक लक्ष्य नहीं साधन है। उन्होंने किसी से भी समझौता नहीं किया, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं, परन्तु फिर भी उन्होंने समस्त प्रचलित साधना मार्ग से उचित भाव ग्रहण किया। केवल एक वस्तु वे कहीं से न ले सके। वह है भक्ति। वे ज्ञान के उपासक थे और लेशमात्र भावालुता को भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। और यदि सचमुच ही भाग और विभाग कल्पित हैं, कल्प और विकल्प मिथ्या हैं, संसार मृगमरीचिका है, श्रुतियाँ परम तत्त्व के विषय में भिन्न विचार प्रकट करती हैं और एक अखण्ड सच्चिदानन्द ही सत्य है तो भावावेश का स्थान कहाँ है? क्यों मनुष्य उस तत्त्व की उपलब्धि के लिये मचलने का अभिनय करे, क्यों उसे प्रसन्न और अनुकूल करने के लिये यजन-पूजन करे?—

अविवेक विवेक विबोध इति अविकल्प विकल्प विबोध इति।
यदि चैक निरन्तर बोध इति किमुरोदिषि मानस सर्वसम।
बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति मते विददातरयं मृगतोय समः।
यदि चैक निरन्तर सर्वशिवः किमु रोदिषि मानसः सर्वसमः।
सविभक्ति विभक्तिविहीन परं अत्युकायनिकायविहीन परम्।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवः यजनंच कथंस्तवनंच कथम्!—अवधूत गीता

—यही गोरक्षनाथ के उपदेशों का सच्चा रुख है। यह नहीं कि यही उनके वाक्य हैं बल्कि यह कि यही उनके द्वारा उपदिष्ट साधना का स्वर है—भावावेग विनिर्मुक्त, शुद्धबुद्धिमूलक ज्ञानमार्ग। इस ज्ञान के निष्कर्ष को उन्होंने सदा सामने रखा। वह निष्कर्ष क्या है, इसकी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। यथासाध्य हमने विविध उपलब्ध तथ्यों के आधार पर उसको समझने का प्रयत्न किया है। परन्तु वह केवल बुद्धि-विलास नहीं है, वह साधना का विषय है। दीर्घ आयास के बाद उसे प्राप्त किया जाता है। उसमें शुद्ध गुरु की आवश्यकता होती है। इस साधन मार्ग में निगुरे को कोई स्थान नहीं है। फिर भी हमने यह जो प्रयत्न किया है उसका कारण यह है कि हमने अपने को नितांत असहाय निगुरा नहीं समझा। सिद्धों की कुछ वाणी अब भी हमारे बीच है, वह महामन्त्र अब भी साधनाकाश में उड़ रहा है, अब भी वह उपयुक्त उर्वरा भूमि की प्रतीक्षा कर रहा है। उसको समझने का प्रयत्न अश्लाघ्य नहीं है। वह महामंत्र ही हमारा गुरु है। वह गुरु ही सच्चिदानन्द का पद है, वही सब के ऊपर सदा विराजमान है क्यों उस पद को अवाच्य समझा जाय, क्यों उस तत्त्व को अचिन्त्य माना जाय, इसलिये वह जो है सो बना रहे। हम उसे गोरक्षनाथ का साक्षात् तेजः स्वरूप मानते हैं। उस ज्योतिर्मय नाथ तेज की जय हो, वही हमारा गुरु है।

अवाच्यमुच्येत कथं पदं तत्
अचिन्त्यमप्यस्ति कथं विचिन्तये।
अतो यदस्त्येव तदस्ति तस्मै
नमोस्तु कस्मै बत नाथ तेजसे॥

—गो० सि० सं०, पृ० ५२

सहायक ग्रन्थों की सूची

१. अद्वयवज्रसंग्रह—गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, नं० ४०, बड़ौदा, १९२७ ई०

२. अमरौघशासनम्—सिद्धगोरक्षनाथ-विरचित; महामहोपाध्याय पं० मुकुन्दराम शास्त्री द्वारा संपादित, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थांक २०, बम्बई १९१८

३. अष्टोत्तरशतोपनिषद :—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, चतुर्थ संस्करण १९३२

४. इ० ए०—इण्डियन एण्टिक्वैरी

५. इ० रे० ए०—इनसाइक्लोपीडिया आव् रेलिजन ऐण्ड एथिक्स

६. कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी, बम्बई हिंदी ग्रन्थ रत्नाकर), १९४२

७. कबीर ग्रन्थावली—बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० द्वारा सम्पादित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, प्रयाग १९२८

८. कल्याण—गोरखपुर,
(१) शिवांक (२) योगांक (३) शक्ति-अंक (४) साधना-अंक

९. कैटोलागस कैटोलोगोरम—थियोडोर आफ्रेख्ट, लिपजिग १८९६

१०. कौ० ज्ञा० नि०—कौलज्ञान निर्णय, डा० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा सम्पादित, कलकत्ता संस्कृत सीरीज, नं० ३ कलकत्ता, १९३४

११. कौ० मा० र०—कौलमार्गरहस्य (बंगला), स्व० सतीशचन्द्र विद्याभूषण कलकत्ता, १३३५ बंगाब्द

१२. कौलावली निर्णय—तांत्रिक टेक्स्ट्स, जिल्द १४, आर्थर एवेलेन द्वारा संपादित, कलकत्ता

१३. गंगा—पुरातत्त्वांक, श्री राहुल सांकृत्यायन के लेख

१४ गंभीरनाथ प्रसंग (बंगला)—श्री अक्षयकुमार वंद्योपाध्याय-लिखित फेनी नवाखाली, बंगाब्द १३३२

१५. गढ़वाल का इतिहास—श्री हरिकृष्ण रतूड़ी, देहरादून, १९२८

१६. गीतारहस्य—स्व० लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, (स्व० माधराव सप्रे का अनुवाद)

१७. गो० प०—गोरक्ष-पद्धति, पं० महीधर शर्मा के भाषानुवाद सहित, बम्बई, सं० १९९० वि०

१८. गोपीचन्द (उर्दू)—पंडित कवि कालोदास साहब गुजरानवाला, लाहौर १९४४

१९. गोपीचन्द्रेर गान—दो जिल्द, श्री विश्वेश्वर भट्टाचार्य द्वारा संकलित और कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित; प्रथम संस्करण
२०. गोरखनाथ ऐण्ड मिडिएवल हिंदू मिस्टिसिज्म—डा० मोहनसिंह लिखित, लाहौर, १९३७
२१. गोरखबानी—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल-संपादित, हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित, प्रयाग १९९९ वि०
२२. गोरखनाथ ऐण्ड कनफटा योगीज—दे० ब्रिग्स
२३. गो० सि० सं०—गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, म० म० प० गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, नं० १८, काशी १९२५
२४. ग्लासरीज ऑव् दी ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स, आव् दि पंजाब ऐण्ड दि नार्थ-वेस्टर्न प्राविंसेज—एच० ए० रोज़, जि० ३, लाहौर १९१४ ई०
२५. घेरण्ड संहिता—सेक्रेड बुक आव, दि हिन्दूज, प्रयाग १८९५
२६. चर्याचर्य विनिश्चय—बौ० गा० दो० में संगृहीत
२७. ज० डि० ले०—जर्नल ऑव् दि डिपार्टमेंट आफ लेटर्स, २८वाँ जिल्द (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३४)—में डा० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा सम्पादित निम्नलिखित ग्रन्थ—(१) तिल्लोपाद का दोहाकोष (२) सरहपाद का दोहाकोष (३) कण्डहपाद का० (४) सरहपादीय दोहासंग्रह, (५) प्रकीर्ण दोहा-संग्रह। इसकी अन्य जिल्दों का भी यथास्थान उल्लेख है।
२८. जायसी ग्रन्थावली—पं० रामचन्द्र शुक्ल-संपादित, काशी, १९२४
२९. ज्ञानसिद्धि—गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज नं० ४४, बड़ोदा १९२९
३०. ज्ञानेश्वर चरित्र—पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पंगारकर द्वारा लिखित और पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे द्वारा अनुवादित, गोरखपुर सं० १९९०
३१. ट्रा० का० सें०प्रो०—दि ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आव् सेण्ट्रल प्राविंसेज आव् इंडिया, ई० बी० रमेल और रायबहादुर हीरालाल संपादित, चार जिल्दों में, लन्डन, १९१६
३२. ट्रा० का०—ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आव् दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऐण्ड अवध, विलियम क्रुक, कलकत्ता १८९९
३३. तारानाथ—गेशिष्टे देस् बुद्धिस्मुस् इन इंडियन आउस देम् तिबेतिशेन् युबेर सेट्स् फन् उन्तन् शिभेर (जर्मन भाषा में तारानाथ नामक तिब्बती ऐतिहासिक के ग्रन्थ का अनुवाद, जिसके आवश्यक अंश का अंग्रेजी अनुवाद, लेखक (ह० द्वि०) के लिये डा० एरेन्सन ने कर दिया था।) सेन्टपीटर्सबर्ग, १८६९
३४. दि इंडियन बुद्धिष्ट आईकोनेग्राफी मेनली बेस्ड अपॉन दि साधनमाला ऐण्ड अदर कांग्नेट तांत्रिक टेक्स्ट्स। बो० भट्टचार्य द्वारा लिखित आक्सफोर्ड, १९२४
३५. दि पीपुल आफ इण्डिया—हर्बर्ट रिजली, कलकत्ता १९०८
३६. दि सर्पेन्ट पावर—आर्थर एवेलन लिखित लडन १९१९

३७. दि सेन्सस आव इण्डिया १९२१, १९३१
३८. नागर-सर्वस्व—पद्मश्री विरचित और तनसुखराम शर्मा द्वारा संपादित बम्बई १९२१
३९. पदुमावती—बिब्लोथिका इन्डिका, न्यू सीरीज नं० ११७२ जो० ए० ग्रियर्सन और सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित, कलकत्ता १९०७
४०. परशुरामकल्पसूत्र—रामेश्वरकृत टीका सहित, गायकवाड़ ओरियेंटल सीरीज में प्रकाशित और बी० ए० महादेव शास्त्री द्वारा संपादित
४१. परसंगपूरनभगत (गुरुमुखी)—मियाँ कादरयार कृत लाहौर १९४४
४२. पारानंद सूत्र—गायकवाड़ सीरीज ५६ बड़ौदा १९३१ ई०
४३. पूरन भगत (उर्दू)—पण्डित कवि कालिदास साहब शायर, गुजरानवाल द्वारा लिखित लाहौर १९४४
४४. प्र० चि०—प्रबन्ध चिन्तामणि—हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा अनुवादित और मुनि श्री जिनविजयजी द्वारा संपादित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद कलकत्ता, १९४०
४५. प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि—गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज ५४, बड़ौदा १९२९
४६. प्राणसंगली—सन्त सम्पूरन सिंहजी द्वारा सम्पादित, तरनतारन, पञ्जाब
४७. डायसन—दि सिस्टम आफ वेदान्त, पी० डायसन शिकागो १९१२
४८. बांगला साहित्येर इतिहास (बंगला)—श्री डा० सुकुमार सेन, कलकत्ता, १९४०
४९. बागची—देखो कौ० ज्ञा० नि०
५०. ब्रह्मसूत्रम्—शांकरभाष्यसहित, प० वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पाणशीकर संपादित बम्बई १९२७
५१. ब्रिग्स—गोरखनाथ ऐण्ड कनफटा योगीज, श्रीजार्ज बेस्टन ब्रिग्स, लिखित, कलकत्ता १९३८
५२. बौ० गा० दो—बौद्ध गान ओ दोहा (बंगाक्षरों में मुद्रित) स्व० प० हरप्रसाद शास्त्री-सम्पादित, कलकत्ता, १३२४ बंगाब्द
५३. भरथरी चरित्र—(नौ खण्ड) हावड़ा, १९४२ ई०
५४. भारतवर्ष में जाति भेद—श्री क्षितिमोहन सेन, कलकत्ता १९४०
५५. भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय (बंगला)—श्री अक्षयकुमार दत्त, कलकत्ता १३१४ बंगाब्द (द्वितीय संस्करण)
५६. भारतीय दर्शन—प० बलदेव उपाध्याय, एम० ए० लिखित, द्वितीय संस्करण काशी १९४५ ई०
५७. भ्रमरगीत सार—प० रामचंद्र शुक्ल—सम्पादित, बनारस, १९९९ सं०
५८. महार्थमंजरी—गोरक्षा पर पर्याय महेश्वर विरचित, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि ग्रन्थांक २०

५९. मालतीमाधवम्—जगद्धर कृत टीकासहित, एम० आर० काले द्वारा संपादित, बम्बई १९२८
६०. मिडिएवल मिस्टिसिज्म आब् इण्डिया,—श्री क्षितिमोहन सेन, सन् १९३५
६१. योग उपनिषद :—अडयार लाइब्रेरी, अ० महादेव शास्त्री-संपादित, अडयार १९२०
६२. योगदर्शन (बंगाक्षरों में) —कापिलमठ संस्करण, कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित
६३. योगप्रवाह—पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा लिखित, श्री संपूर्णानंद द्वारा संपादित, काशी सं० २००३
६४. यो० सं० आ०—योगिसंप्रदायाविष्कृतिः चंद्रनाथ योगी, अहमदाबाद १९२४
६५. राजपूताने का इतिहास—म० म० पं० गौरीशंकर हीरानन्द ओझा लिखित अजमेर
६६. ल नेपाल (फ्रेंच भाषा में)—नेपाल का इतिहास, सिलवां लेवी, पेरिस, १९०५
६७. वामकेश्वर तंत्रान्तर्गत नित्याषोडशिकार्णवः—श्री भास्कररायोनीत सेतुबंध-व्याख्यानसहितः आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली ५६ पूना, १९०८ ई०
६८. विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)—हजारीप्रसाद द्विवेदी संपादित, शान्तिनिकेतन, बंगाल
६९. वैष्णविज्म शैविज्म ऐण्ड अदर माइनर रिलिजियस सिस्टम्स—आ० जी० भाण्डारकर; स्ट्रएवर्ग १९१३
७०. शक्ति एण्ड शाक्त (द्वितीय संस्करण)—जान वुडरफ मद्रास १९२०
७१. शारदातिलक तंत्रम्—आर्थर एवेलन द्वारा संपादित कलकत्ता १९३३
७२. शिवसंहिता—पाणिनि आफिस, इलाहाबाद १९१४
७३. श्री गुरुप्रताप सूरज ग्रन्थ (गुरुमुखी)—कविचूड़ामणि भाई सन्तोषसिंह जी, द्वितीय संस्करण श्री बीरसिंह जी द्वारा संपादित, १९३५ ई०
७४. श्री गुह्यसमाजतंत्र—गायकवाड़ सीरीज नं० ५३, बड़ोदा १९३१ ई०
७५. श्रेडर०—इन्ट्रोडक्शन टु पांचरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्न संहिता, अडयार १९१२
७६. स० द० स०—सर्वदर्शन संग्रह, सायणमाधवाचार्यप्रणीत म० म० वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर संपादित पूना १९२४ ई०
७७ सहजाम्नाय पंजिका—बौ० गा० दो० में संग्रहीत
७८. साधनमाला—गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज नं० २६ और ४१ बड़ौदा
७९. सि० सि० सं०—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, म० म० पं० गोपीनाथ कविराजसंपादित, सरस्वतीभवन टेक्स्ट्स १३, काशी १९२५ ई०
८०. सु० च०—सुधाकरचन्द्रिका, पदुमावती (ऊपर दे०) पर म० म० पं० सुधाकर द्विवेदी की हिन्दी टीका
८१. स्टडीज इन दि तन्त्र—पार्ट १, डा० प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता १९३९
८२. हठ०—हठयोगप्रदीपिका, पाणिनि आफिस, इलाहाबाद, १९१५ ई०
८३. हिन्दुत्व—स्व० रामदास गौड़, ज्ञानमण्डल, काशी सं० १९९७ वि०

नामानुक्रमणिका

[मोटे अक्षरों में छपे शब्द पुस्तकों के नाम हैं]

अकुलवीर तंत्र ४१, ६५, ६६, ६७, ७८, ८६, **-ए** ४१; **-बी** ४१,
अक्षयनाथ २७
अधोसाधव ३३
अचित ३३
अचिति ३२, १६६, १७०
अचिन्तिपा ३२
अजपालिपा ३३
अजयपाल १६, १७४, १७६
अजोगिपा ३२
अतिकाल ४
अद्वयवज्र १०
अनंगपा ३४
अनंगवज्र ४४
अनादि ४
अन्तरिक्षनारायण २८
अप्पय दीक्षित २०२
अभिनवगुप्त (पाद) ४१, ५६
अर्धमात्रा जोग १११
अमनस्क १०६
अमरनाथ १५
अमरौघशासन ७६, १०६, १२५, १२६, १३६, १४१, १४५
अरजननंगा (नागार्जुन) १८४
अर्जुनदेव (गुरु) २१३
अर्द्धनारी १५
अलबेरूनी १६६
अद्वय ४
अवधूतगीता १०६, १४६
अवनि सिलूक ११२
अवलोकितेश्वर ५१, ६६
अष्टचक्र ११२
अष्टपारछव्या ११२
अष्टमुद्रा ११२
आटकिन्सन ५६
आफ्रेख्ट ११०, १११
आत्म परिज्ञान दृष्टि उपदेश १७१
आत्मा बोध १११, ११२
आथर्व शिर उपनिषद् १६३
आदिनाथ ४, २७, २८, २६, ३५, ४५, २१२
आदिनाथ संहिता २१८
आनन्द २६
इत्सिंग २०३
इन्ट्रोडक्शन टु अहिर्बुध्न संहिता २०२, २०३
इन्द्रभूति ३३, ८६, १७१
इन्द्रसेन २०४
इन्द्री देवता ११२
ईश्वरनाथ ३८
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ५६, **-की बृहती वृत्ति** ५६

उग्रसेन २०६
उदयनाथ २८
उदुना-पुदुना २०६, २०८
उधनि (लि) पा ३४
उन्मन ३२
उपनिषद् ब्रह्मयोगी १४४, १४८
उमानंद नाथ ६
उमापति ११३ टि०
उलूकराज १६६
एकनाथ ३८
कंकणपा ६२
कंबलपा ३२
कंकालिपा ३१
कंगारी १७२
कंठरनाथ १८४
कडार भैरव ११३ टि०
कंतालिपा ३४
कंथड़ी ५७
कंथाधारी ४
कंदलायन २११
कठ उपनिषद् १२७
कणाद (उलूक) १६६
कण्हपा ३२, ५७, ८५, ८८ देखिए कृष्णपाद कानपा
कनखल ३२, १६६, १६८
कनखलपा ३४
कपा (म) ल पा ३४, १७२
कपालि २१२
कपिल (मुनि) १६, १५२, १६०, २११, २१४—का उपदिष्ट योग २१४
कबीर २३, १६६
कबीरदास २, १७, २२, ५८, १०८, १६६, २००, २२२;—का सम्प्रदाय ४२
कबीर मन्सूर १६०
कमरिपा ३२, ३३
कमल (पा) १७२
कमल कंगारि ३४, १६६, १७२
कमला ५१
कमारी ३२, १६८
करकाई १६, १८६-१६०—का शाखा १६
करणिपानाथ (कानिपा) २८, ८६ टि०
करभाजन नारायण २८
करवत ३२
कराल ४
कर्कनाथ १६०
कर्पटीनाथ ५०, १७४
कर्णरिपा (आर्यदेव) ३२
कर्पूर मंजरी ६६
कलकलपा ४४
कविनारायण २८
कलिंगा ५४
काक चंडीश्वर २७, २१२
काक चंडेश्वरी मत २१२
काण्डालि ३२
काणेरी (सती, पाव) १७४
काशी नागरी प्रचारिणी सभा १७४
कानपा (कानिपा, कानफा, कानुपा, कान्हपा, कान्हूपा) ८, १०, १६, ३२, ४८, ४६, ५७, ८५, ८८, ६०, ६६, १६६, १८७, २०७, सम्प्रदाय ८
कानीपाव ५५
कान्हड़ीनाथ २७
कान्हपाद गीतिका ८१
कापालि २११—नाथ २७
कापाली ७
काफिर बोध ११२

कामरी ३२, १६७, १७१
कामरूप ६०
काममूत्र ६०
कायमुद्दीन १८७
कायानाथ १८७, १८६
कार्डियर ५६-५७
कार्तिकेय ४१
काल ४
कालपा ३२
कालभैरवनाथ ४
कालाग्नि उपनिषद् १४६
किलपा ३४
कुंभीदास १५
कुकुरिपा ३२
कुचिपा (कुमूलिपा) ३२
कुड़ालिपा ३ ३
कुमारिपा ३३
कुमारी ३३, १६६, १७२
कुलदेव ३०
कुलानन्द ४१
कुलार्णव तंत्र ७७, २१८, २१६
कुलेश्वर ३०
कुशिक १८६
कूर्मनाथ २८
कूर्मपाद ८५
कृशर ३०
कृष्णचन्द्र दालाल २४
कृष्णपाद (कृष्णाचार्यपाद) ७, ८, ५६, ८५, ८८, ८६, १६८, १७०, १८२, १८०, २०८, टि० ।—का नया भी देखिए ।
केदारिपा ३१
कोकालिपा ३४
कोरंटक नाथ २७
कौलज्ञान निर्णय ३, ५, ४०, ४१, ४३, ४६, ५१, ५३, ६०, ६२-६६, ६८, ७३, ७५, ७७, -के चक्र ८१
कौलावली तंत्र ३०
कौलावली निर्णय ६५, ११०, १८५
कौलोपनिषद् ६८, ६६
कौशिक १८६
क्रुक्स २०
कमस्तोत्र ५६
कौण्डिन्य पंचार्थ भाष्य २०१
क्षुरिकोपनिषद् ६
खंडकापालिका २७
खड्गपा ३२
खाणी वाणी ११२
खिथड़नाथ ३८
गंगानाथ १६, १८५
गंगा (पुरातत्त्वांक) ४७, ५६
गगनपा ३३
गज (राजा) १८४-१८५, १८८
गणनाथ सेन (म० म०) २११
गमार ३३
गरीबजी १७४
गरीबनाथ १८५
गरुण पुराण ५६
गार्हिना (गैनी) नाथ २८, ३५—का संप्रदाय १५
गिरिवर ३३
गीता १५२
गुडरिया ३३
गुप्त देवी १८०
गुरु ग्रन्थ साहिब (श्री) २१३
गुरुप्रताप सूरज ग्रन्थ २१२
गुह्य समाज तंत्र ७६, १३७
गूंगा ५८

गोपीचंद (द्र) ८, १६, १८, २८, ५०, ५७, ६०, ६६, १७४, १८०, १८७, २०५, २०६, २०६
गोपीनाथ कविराज (म० म०) ६६, ११६, १४६, २०६
गोरक्ष उपनिषद् १४६, १५१
गोरक्ष कल्प १०६
गोरक्ष कौमुदी १०६
गोरक्ष गीता १०६
गोरक्ष चिकित्सा १०६
गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) २, ३, ८, १०, १२, १४, १५, २३, २६, २७, ३१, ३५, ४३, ४४, ४५, ४८-६१, ७८, १०३, १०६, ११३, १३७, १३८, १४६, १४७, १४६, १६६, १६७, १७७, १८०, १८१, १८६, १६६, २०४, २०५—और भरथरी २३;—के अवतार २६;—के ग्रन्थ १०६;—से पंथ प्रवर्तक शिष्य १६;—के विविध स्थान १०७,—द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय १८०;—महान धर्मनेता २२८; रसायन विद्या के प्रवर्तक···· २१२
गोरखनाथ ऐण्ड कनफटा योगीज ११
गोरक्ष पद्धति १०६
गोरक्ष पंचय १०६
गोरक्षपा ३१
गोरक्ष विजय २४, ५६, ६३
गोरक्ष शतक १०६
गोरक्ष शास्त्र १०६
गोरक्ष संहिता ६५, १०६
गोरक्ष सहस्रनाम स्तोत्र १०६
गोरक्ष सिद्धान्त-संग्रह ४, ७, ४५, ७० १४६, - में उद्धृत ग्रन्थ १४५
गोरख (ष) गणेश गुष्टि १११
गोरल (ष) वत्त गुष्टि १११
गोरखबारी १११
गोरख (ष) बोध ६६, ११२, २२१
गोरख सत ११२
गोविन्द ३४
गोविन्दचन्द्र ५७, २०५, २०८
गोविन्दचंदेर गीत २०६
गोविन्द नायक २११
गोविन्द भगवत्पदाचार्य २११
गोसवी २६
गौराशंकर हीरानन्द ओझा १, १६२
ग्यान-चौंतीसा १११
ग्यान तिलक १११
ग्यान माला ११२
ग्रियर्सन ५१, १०७
घंटा (वज्रघंटा) पा ३३, १६८
धर्मरिपा ३३
घुग्घूनाथ ३८
घेरण्ड संहिता ७६, ११३
घोड़ा चूर्लानाथ २७
घोड़ा चोली १७४
चंडकापालिक ११३ टि०
चतुरशीत्यासन ११०
चतुर्भवाभिवासन क्रम १७४
चंद्रनाथ योगी ४०
चंद्रलेखा १७०
चंद्रसेन २०४, २१२
चंद्रावली २०५
चमरिपा ३२
चम्पक ३३, १६६, १७१,—पा ३३
चम्पानाथ ३८
चमसनारायण २८
चर्पटनाथ ४, १५, २८, ३८, १७१, १७४, २१२, २१३
चर्पटी (चर्पटनाथ) २८, ३२, १७४,—

—नाथ २७, १६६, १७१,—पा ३३
चर्याचर्यविनिश्चय ६
चर्यापद ६
चर्वटि २११
चँवरिपा १६७
चवरि (जवरि) ३३
चाटल ३३
चांदन ३२
चांदनाथ १८०
चामरीनाथ ३१, १६६, १६७
चिपिल ३४
चुणकर १६६, १७१
चेलुकपा ३३
चोलीनाथ १६
चौबीस सिधि ११२
चौरंगी (नाथ, पा) २७, ३१, ३५, ४८ १६६, १६७, १७४, १७५, १८०, १८७
छत्रपा ३२
छायानाथ २६
जगद्धार ६३
जड़भरत ४, २६, २८
जयद्रथ ४१, ४३
जयन्ता ५५
जयमंगला टीका ६०
जयानन्त
जाती भौंरावली ११२
जाफर पीर १६, १८६
जालंदरनाथ ३५
जालंधर (नाथ) ४, ७, ८, १५, १६, २७, ३२, ५६, ८५, ८६-८७, ८८, ६८, १७०, १८०, १८२, २०६,— के पथ प्रवर्तक शिष्य १६,—पा ३३, —७, ५७, ६७, १६७
जालंधरि ७,—पा० ८८, १८७, २०८
जालेन्द्र ८६, ८७
जीवन ३३
जैमिनि भारत ५६
जैसल १६८
जोगीपा (अजोगिपा) ३३
ज्ञानकारिका ४१, ७८
ज्ञाननाथ ३५—की गुरु परम्परा ३८
ज्ञानप्रकाश शतक ११०
ज्ञानमृत टिप्पण ११३
ज्ञानमृतयोग ११०
ज्ञान शतक ११०
ज्ञानेश्वर ५८
ज्ञानयोगखण्ड ११३
ज्योतिरीश्वर ३१
ज्योत्स्ना ११३
ज्वालेन्द्र ८६, ८७, नाथ-२८, ८५
टिंटिणीनाथ २७
टेसीटरी १०८
टैम्पुल १६८
डायसन (डॉ०) १४८
डेंगिपा ३२
डोम्भीपा ३१
ढेण्टस ३२, १६६, १७१
ढेण्ढणपाद १७१, १६८
तंतिपा ३१, ८५, १६६, १६७
तंत्रालोक ४१, ५६-की टीका ६०, ६२, ६३
तघेपा (तंतिपा) ३२
तनजुर ८५, ८६, १६७, १६८
तनसुखराम शर्मा (पं०) ४५ टि०, ६०
तारानाथ ४४
तारा रहस्य २६
तिलकचन्द्र २०७
तिलोपा ३२
तुजो ३२

तुलसीदास २
त्रिशिख ब्राह्मण १४६
थगनपा ३२
दण्डनाथ २८
दत्तात्रेय ५, २७
दत्त संहिता ६
दयाबोध ११२
दरियानाथ १६, १८७
दवरे २६
दर्शनोपनिषद् १४६
दातड़ीपाद ६१, ६२
दादूदयाल २२२
दारिकापा ३४, १६८
दारिपा ३१, १६६, १६८
दुर्लभचन्द्र २०६
देवदत्त २७
देवदयाल (राजा) ५६, ५७
दो खंधिया (द्वि खंडिपा) ३२
दोहाकोष ८६, ६६, १६६, २०६ टि०
दोहाकोष गीति १६८
दौली ६२
द्रुमिलनारायण २८
धंगरनाथ ३८
धजनाथ १८७
धरमनाथ १४, १८५, १८५, १८८, २००
धर्मपा ३२, १७१
धर्मपापतंग ३२, १६६, १७१
धहुलिया ३४
धीरनाथ २६
धूर्मनाथ ३८
धोकरिपा ३३
धोंगपा ३१
धोबी ३२, १६६, १६८
धोम्भिपा ३२
ध्यानबिंदु उपनिषत् १४८, १४६
नखला ८८
नटेसरी १६
नरवैबोध २२१
नरेंद्रदेव (राजा) ५१, ५८
नलिन पा ३३
नवग्रह ११२
नागनाथ २८, १७०, १८५, १०६ टि०
नागबोध २७
नागबोधिपा ३४, १६८
नागवालि ३३
नागर सर्वस्व ४५, टि० ६०
नागा अरजंद १७०
नागार्जुन ४, २७, ३२, १६६, १६८, २१२
नागार्जुन तंत्र २१२
नाचन ३३
नाड़ी ज्ञान प्रदीपिका ११०
नाथ चरित्र ५४
नाथ सिद्धों की बानियाँ १७४
नानक (गुरु) ५८, १०८, २१२, २१३ २२२
नापरी १५
नारोपा ३२
नित्यनाथ २७
नित्यानंद १११, १८८, २१२
नित्याह्निक तिलकम् ४६, १६०
नित्योत्सव ६
निरंजननाथ १५, २७
निरंजन पुराण ११२, ११३ टि०
निर्गुणपा ३३
निर्दय ३३
निवृत्तिनाथ ३५
नीतिशतक २०३
नीमनाम १८५
नेचक ३३

नेमिनाथ (नीमनाथ) १८०
पंकजपा ३३
पंच अग्नि ११२
पन्द्रह तिथि १११
पतंग १७१
पतंजलि १२७,—का दर्शन १२७
पद्द १११
पद्मावत १७, ६०
पनहपा ३४
परबत सिद्ध ३८
परमेश्वर भट्ट १२३
परशुराम ६, ५४, ५८
परशुराम कल्पसूत्र ६, ७४, टि० १२३-१२४
परसंग पूरन भगत १८७
परानंद सूत्र १७०, १७२
परिमला ५५
पलिहिह ३२
पागलनाथ १८४
पागल बाबा ४६, १८५, १८६
पातलिभद्र ३२
पादलिप्त सूरि १७०
पारसनाथ १८५, १८६
पारिजाल ३०
पार्श्वनाथ १८०
पावनाथ ८, १८८, १८०
पासल ३४
पाहिल ३४
पिप्पलनारायण २८
पीतांबरदत्त बड़थ्वाल (डॉ०) १११,११२ १७१, १८६
पीलनाथ १५
पुतुलिपा ३४
पुरातन जनम साखी २१२
पूज्यपाद २७
पूरन भगत १६७, १८०, १८४, १८७, १८८, १८८
पूर्ण २८
प्रकाश २८
प्रजापति ३०
प्रतिभा २८
प्रबंध चिन्तामणि ५७-५८, १७०
प्रबुद्धनारायण २८
प्रबोधचन्द्रिका ८५
प्रबोध चन्द्रोदय ८५, ८६
प्रभुदेव २७
प्रमीला ५८
प्रशस्तपाद १८१
प्रसन्नकुमार कविरत्न ११०
प्राणनाथ ३८
प्राण सकली १११, १६६, १६७, २१२, २१३
प्राण सकली (चौरंगीनाथ की) २१२
प्राण सांगली १७३, १७४, २१२, २१३
प्रेमनाथ १८७
फैजुल्लाह ४८
फ्लीट १८२, १८६ टि०
बत्तीसै लच्छन ११२
बनारसीदास जैन १०८
बलदेव उपाध्याय (पं०) ६२
बलभद्र पण्डित १, १११
बाकलि ४२
बागची (डॉ० प्रबोधचन्द्र) ३, ४१, ४२, ४६, ५१, ६२, ६३, ६६, ८६, ८८, १०८, ११०
बाणभट्ट ८०, १८१
बाप्पारावल ५८, १८२, १८३, १८५
बाबा गम्भीरनाथ १९
बारह पन्थ १२,—की स्थापना १४
बालकेश्वरनाथ १८६

बुद्धदत्त (गुरु) ५१
बुहद्रथ ८५
ब्रह्मविन्दु उपनिषत् १४६
ब्रह्माण्ड पुराण ६६
ब्रह्मानन्द ११३ टि०, १३७
ब्रिग्स (श्री जार्ज बेस्टन) ११, ५८, ७६, ८०, १०६, १११, १८६, १६८, २००
भटी ३३
भट्टशाली २०८
भट्टाचार्य (प्रो० विनयतोष) ६४, १६६, १७२
भदेया ३२
भद्र ३२, ३४,—पा ३२, १६६, १७१
भमरी ३४
भरथरीनाथ १६, १८७, १६०
भरथरी चरित्र २०४
भर्तृनाथ २८
भर्तृहरि ३३, १८०, २०३-२०५
मलहपा (भवपा) ३२
भलिपा (व्यालिपा) ३३, ३४
भवभूति ६, ६०, ६३
भांडारकर ८०, १६५, १६६
भागवत १६४, २१४
भादे १६६, १७१
भानु ३३
भारतीय दर्शन ६२, ६६, टि०
भालुकि २१२
भिखुनपा ३३
भिषाल ३२
भीम ३४
भीमनाथ ४, ३१
भीमसेन ३०
भीलो ३४
भीषण ३३
भुम्बरी ३२
भूष्टाई १६
भूसकपा ३३
भृंगनाथ १५
भृष्टनाथ १६०
भैरव २३, २७, ३४;—नाथ ४६
भोजदेव ३०, १२७
मंगला ५१, ५५
मंथान भैरव २७, २१२
मगरध्वज ३३, १८८
मच्छघ्न मछन्द, मच्छिन्द्र मच्छेंद्र (पाद, नाथ विभु) ४०, ५६, ८४, १६७
मच्छिन्द्र गोरख बोध १११, १२५, १२६
मणिभद्रा ३३
मत्स्येन्द्र (नाद, पाद, विभु) ३, ५, ६, ८, ६, १०, १५, २१, २४, २७, ३५, ४०, ४१, ४२, ४३, ५३, ५४, ५५, ५६, ५६, ६०, ६१, ६५-६६, १०७, १०८, १८२, १८७, २२१ —और लुईपा ४३ और मीननाथ ४३—का जन्म स्थान ४३—का मूलनाम ४०—के चार संप्रदाय १५—के विभिन्ननाम ४४ और गोरख की परम्परा, ६ विषय कथाएँ ४८
मथुरानाथ शुक्ल ११०
मयनाथ २७
मयनामती (मैनावती), ३५, ४६, ५०, २०५-२०६—के गान २०७
मलयार्जुन ४
मलिक मुहम्मद जायसी १७, २००
मवह ३२
मस्तनाथ १६, १८७
महाकाल ४
महाकुण्डल मूल ८६

महादेव जी २१, २८
महादेव गोरख गुप्ट ११२
महादेव शास्त्री १४८ टि०
महापुराण ६७
महाभारत ५६
महार्णव तंत्र २७, २८
महार्थ मंजरी ११०
महालग ५०
महीन्द्र देव ५३
महीधर शर्मा ४५
महीपा ३२
महेश्वर ३०
महेश्वरानन्द नाथ ११०
मांडव्य २१२
माईनाथ १८७
माणिकचन्द्र ७, ५७, २०५-२०८
—का मयनामती रगान ७
मानीफनाथ ३५
मार्गफलान्वितापवादक १६६
मालती माधव ६, ६०, ६२
मियां कादरयार १६७
मीन (नाथ) २७, ३०, ३१, ३३, ४२, ४३, ४५, ४६, ४८-४६, ५१
मीनचेतन ४८, ५६
मीनपा (द) ३१, ४१, ५६
मीनराम ५४
मुकुन्दराम शास्त्री (म० म०) १०६, ११०
मुरुकुटी ३४
मुहम्मद १०८
मूल गर्भावली ११२
मूलदेव ३०
मूलराज ५७
मेकोपा ३३
मेखल ३२, १६६, १६६
मेखला ८८, ६६, १६६—पा ३४, १६६ १७०
मेघमाला ५४
मेदनीपा (हालीपा ?) ३३
मेनुरा ३३
मोहनसिंह (डॉ०) ११२-११३, १७२ १७३, २०८
याज्ञवल्क्य १२७
यमुनाचार्य ६
योगचिन्तामणि ११०, ११३ टि०
योगचूड़ामणि १४६
योगतत्व १४६
योगदर्शन १२७
योग प्रवाह १७४
योगबीज ११०
योग मार्तण्ड ११०
योगराज १४६
योगशास्त्र १०६, ११०
योगशिखा उपनिषद् १४२, १४६
योग सिद्धासन पद्धति ११०
योग स्वरोदय १३७
योगसंप्रदायाविष्कृति २७, २८, २६, ४७, ५२, ५३, ५६, ६०, ६४, १०६, १८४
योगसूत्र १६१, १६३
रन्तिदेव ३०
रक्तयमारि साधन १६८
रघुनाथ २६
रज्जबदास १७४
रतननाथ ११२, १८७
रत्नाकरजोपमकथा ४७
रमणवज्र ४४, २०५
रस खंड २१२
रसमंजरी २१२
रसरत्न २१२

रस रत्नमाला २१२
रस रत्नाकर २१२
रसायन खंड २१२
रसालू (राजा) ५८
रसेन्द्र खंड २१२
रहरास ११२
रांझा १८६
राजपूताने का इतिहास १६२
राजशेखर ६६
राजाभोज २०५
राजेन्द्र चोल ५७, २०८
रामचरितमानस २
रामनाथ १६
रामानन्द तीर्थ ११३
रामानन्द यति १२७
रामानुज (आचार्य) २०२
रामेश्वर भट्ट ११०, ११३
राहुल सांकृत्यायन (महापण्डित) ३१, ५६, १७७, १६८, १७१, १७२
राहुल पा ३३
रिजली २५
रिसल १६८
रुद्रयामल ७७
रेवानाथ २८
रोमावली १११
लंग ५०
लकुलीश १६२, १६३, १६४, १६५
लक्ष्मण रामचन्द्र पगारकर ३५
लक्ष्मणनाथ १६, १८५
लक्ष्मींकरा ३४, ८८, १७१
लक्ष्मीनारायण ४६
ललिता भैरवी अम्बापाप ४६
ललिता सहस्रनाम २०, ६६
लिंगपुराण १८१, १६६
लीलापा ३१
लुईपा ४३, १६८
लुचिकपा ३३
लूण १६७
लूहिया ३१
लेती (डॉ० सिलवाँ) ४६, ५१
वक्रनाथ १८८
वज्र घंटापाद १७१
वज्रधर १०३
वज्रगीत ८६
वज्रयोगिनी साधन १७१
वज्रसूचिकोपनिषद् १५१
वज्रावतंसदेश ६०
बटुकनाथ ४
बटंजोगी १५
वर्णरत्नाकर ३१, ४२, १६८, १७२
वल्लभाचार्य १६६
वशिष्ठ ३०
बसन्त ५३
बसन्त तिलक ८६
वाचस्पति १२७
वामकेश्वर तंत्र ६६, ११४
वामदेव ११३
वामन पुराण १८१
वायुपुराण १६६
विकराल ४
विक्रमांक चरित ५६
विक्रमादित्य २०४
विघ्नेश्वर ३०
विचित ३३
विज्ञानभिक्षु १२७
वितर्क १३४
विश्वाराज्ञी ८७
विधना क्या कर्तार २०४
विनयतोष भट्टाचार्य (प्रो०) ६४, १६६ १७०, १७२

विभवत् ३३
विमर्श २८
विमल ३०
विमलादेवी ५५, १८६, १९०, १९१
विमुक्त मंजरी गीत ८५
विरूप गीतिका १६८
विरूपपदचतुरशीति १६८
विरूप वज्रगीतिका १६८-१६९
विरूपा १६६, १६८
विरूपाक्ष २७, ३०
विलेशय २७
विविकिधज ३३, १८८
विवेकमार्तण्ड ४५, ११०
विवेक मार्तण्ड योग ११३
विशुद्ध वज्रपदी ८५
विश्वेश्वरनाथजी रेउ (प०) ५४
विष्णु शर्मा ४६
वीणापा ३१
वीरनाथ ४
वीर वैताल ५३
वीरभद्र ५३
वीरानन्द नाथ ४६
वृन्निदेव ३०
वृहदारण्य उपनिषद १५३
वेस्टन टिबेट ५९
वैखानस सूत्र २०२
वैराग्य शतक २०३, २०४
वैशेषिक दर्शन १८१
व्यालि २११
व्रत ११२
शंकर पण्डित ११०
शंकराचार्य ४, ५८, १०६, १५०-१५१, १८१
शंभूनाथ १९०
शंवर तंत्र ८६
शबरपाद ९, १६९, १७०
शबरी पा ३१
शारदा तिलक १५६
शांति १७२
शालिनाथ २१२
शिव उपनिषद् १९४
शिवनाम २१३
शिव पुराण १९४
शिशुमती २०७
शुक्र सिद्धि ९९
शृंगार शतक २०३
शृगालीपाद ३२, १७२
शेख फैजुल्लाह २४
शेरिंग ५९
श्यामा रहस्य ३०, १८५
श्रीकंठ ४
श्रीनाथ १७
श्री सम्पुटतंत्र ९९
श्रीनाथ सूत्र १११
श्रीमद्भगवद्गीता १५२
श्रेडर २०२-२०३
षट्शक्र रहस्य ५
षड़क्षरी ११२
षल १६९
षोडश नित्यातंत्र ४
संकेत चन्द्रिका ११३
सम्पूरन सिंह (संत) १७३, २१२
सक्करनाथ १४, १६
सतनाथ १८५
सत्यनाथ ४, २८
सन्तनाथ १६, १८५
सन्तोष (नाथ) १६, ३०, ३१, १८५, १८६
सन्तोष सिंह (भाई) २१२
सप्तवार १११, ११२

सबदी १११, ११२
सबर ३३, १६६, १७१, ('शबर' भी देखिए)
समयानन्द ३०
समरानन्द ३०
समुदपा ३४
सरबंगी ग्रन्थ १७४
सरस्वती ५२
सरहपा ३१
सरोरूह पाद ८५
सर्वउपनिषद् १४६
सर्वदर्शन संग्रह १८६, २१०
सर्वभक्षपा ३४
सहज योगिनी चिन्ता १६८
सहस्रार्जुन २७
सांति ३८, १६६, १७२
सागरपा ३४
सातवाहन १७०
साधन माला ६४, ८६, १६६
सामदेई २०४
सारंग ३३, ३८
सारदानन्द २७
सालवाहन १६१
सहिल्लदेव १७४
सिद्धपाद ३८
सिद्धबोध २७
सिद्ध साँगरी १८७
सिद्ध सिद्धान्त पद्धति १, ३, १११, १२०
सिद्ध सिद्धान्त संग्रह १, ३, ७६, १११, ११७, १२०, १३८, १४०, १५३
सिद्धान्त वाक्य ७, ८
सिद्धान्त बिंदु २, १५१
सियारी ३३, १६६, १७२
सिष्ट पुरान ११२
सिष्या दरसन १११
सुकुमार सेन (डॉ०) ४८
सुधारक ३१
सुधाकर चन्द्रिका २८
सुनिष्पंचतत्वोपदेश १६६
सुन्दरदेव ११३
सुभग २६
सुराज ५२
सुरानन्द २७
सुवर्ण गोत्र ५६
सूत संहिता १४६
सूरदास १८, १६६
सेतुबन्ध ६६
सेवादास निरंजनी ११२
सौभाग्य भास्कर ६६, ७१
स्कन्द पुराण ७
स्मरदीपिका ४५
स्वभा २६
स्वात्माराम ११३
हर्चिसन १६८
हठयोग प्रदीपिका १, २७, ७८, ११३, १८६
हठयोग विवेक ११३
हठ रत्नावली ११३
हठ संकेत चंद्रिका ११३
हठ संहिता ११३
हनुमंत १८८
हनुमान ५४, १८८
हरप्रसाद शास्त्री (म० म०) ६, ४०, ४१, ४४, १६८, १७१, १७२
हरितायन सुमेधा ६
हरिनाथ ३०
हरिनारायण २८
हरिश्चन्द्र ४
हरिसिंह देव ३१

हाड़िपा (फा) ६, ४८, ४६, २०६, २०७, २०८
हारीत ऋषि १६२
हारीत राशि १६२
हालिपा ३१
हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स ५६
हीरा २०७, २०८
हीरालाल (रायबहादुर, डॉ०) १८५
हुंकारचित्तविधु भावनाक्रम ८५
हुएन्त्सांग ५६, १८१
हुताशन ३०
हुविष्क २००
हेठनाथ १८५
होदी ५८

विषयानुक्रमणिका

अकुल ६७, ६८
अकुलवीरमार्ग ६५, ६६
अग्निचक्र ८०, १३८
अतिशून्य १०३
अद्वैतज्ञान ८३
अघारी २०
अधिकारी २६
अनाहत चक्र ८१, १४२
अनाहत ध्वनि १४१
अपरा १५८
अपरंपदम् १५८
अपरं ब्रह्म १५५
अपरं शिव १५५
अन्तःकरण १२९
अभिनिवेश १३३
अमरवारुणी २१९
अमापन्थी १५
अमृतनाद १४९
अमृतसिद्धि १६९
अवधूत १४९;—मत १;—मार्ग ५;
—संप्रदाय १
अवधूती १०२
अविद्या ७३, १३२, १५४
असंप्रज्ञात समाधि १२८
असंबद्ध दृष्टि ८९
अस्मिता १२८, १३२
अहंकार ७४, १२९
अहन्ता १२०
अक्षर १६०
आकाश १४५
आगम १८१; शाक्त० ५; वैष्णव०
२०२
आचार ८३; प्रधान० ५
आज्ञाचक्र ८१, १४२
आत्मतत्व ७५
आत्मा १५४
आनंद ९७;—के चार भेद ९७—९८
आनुश्रविक १३१
आम्नाय ७४
आरबंद २०
आशय १३२
इच्छा १०२, १५८
इदन्ता १२२
ईश्वरतत्व ७३
उड्डियान ८६;—पीठ १२३;—बंध
८६
उपाय १२३;—प्रत्यय १३१;—सूर्य
१०२
उल्लास ७७
उष्णीशकमल ९, १०२, १०३
ऊर्ध्वदन्तमूल १४५
एकाक्षर ब्रह्म १५७
एजन १५६
औघड़ ८, १७

औलुक्य मत १८६
कंकाल दण्ड ८८
कंचुक ७३
कंथा २०
कंठाधार १४४
कजरीबन ६०
कदलीदेश ४८, ५०, ५८, ६०, ६३
कदलीबन ६०
कनफटा ८, ९०, १६, १७, २३;—नाथ २३
कमल, चौसठ दलों का १०२
कर्ण कुण्डल १७,—की प्रथा १०—धारण ८, १०, १६, १७
कर्णमुद्रा १७
कर्म १३२
कर्मचण्डालिका १६८
कर्मेन्द्रिय १२८
कला ७३
कांसा २०
कापालिक ७;—का विश्वास ८४;—का मत ४, ५, ७, ८०;—का मार्ग १२
काम १३८, २१०
कामभज १५
कारण ७१
कार्य ७१
काल (तत्व) ७३
कालवेलिय १८८ टि० १८८
कालाग्नि ८८, २०८;—रुद्र २०८
काषाय १५
किंगरी १८
कुंडलिनी, कुंडली ६५, ८०, ८१, ८४, ११५, १२२, १२३, १२५, १३८, १४५, १५८, १५८—योग ६५;—का गोरक्ष विरोध १२६ १५
कुल ६७, ७२;—का अर्थ ६७
कुलगामशास्त्र ५१, ४८
केवल १३१, १३२, १५२, १५३
कैलाश १४२
कैवल्य ज्ञान १३१, १३२, १५३
कौलज्ञान ६७, ७०
कौलमार्ग ५, ८०,—संप्रदायों के नाम ६२
कौलसद्भाव ६२
किया १०२
क्लेश १३२, १३३
क्षुद्रघंटिकाधार १४५
क्षुरिका १४८
खप्पर २०
गुरु ३०
गुह्याधार १४४
गूदरी २०
गोपीयंत्र १८
गोमांस २१८;—भक्षण ७८
गोरखधंधा १८
ग्रहीता १५३
चंद्रगिरि ५२, ६०, १६०,—द्वीप ४३—४६, ४७
चक्रपूजा ८०
चित्त ७५, ११६,—के पाँच भेद ११४ ११५
जनेव १८, १८, २१
जालंधर गिरि १०३
जालंधर पीठ १०३
जालंधर बंध ७८
छिन्नमस्ता साधना १६८
जीव ७३,—की तीन अवस्थाएँ ८०
जुगी (योगी जाति) २३
जोगीड़े २०
ज्ञान २८, १५४

ज्ञाता १५४
ज्ञेय १५४
डामर ५
डोम्बिनी १०४
डोम्बी हेरुक ६४
तंत्रशास्त्र १८
तत्व (छत्तीस) ७४, ७५; सम० १३४
ताल्वन्ताधार १५०
त्रिकोण चक्र ८०
त्रिपुरा ७१;—तत्व ५;—मत ६
त्रिपुरीकृत ७०
त्रियादेश ५३
दर्शन ११
दर्शनी १०
दस द्वार १०७
दिव्य ७५;—भाव ७५
दृष्ट १३१
दृशि १५३
द्रष्टा १५३
द्वेष १३३
द्वैताद्वैत विलक्षण तत्व १५०
धंधारी १८
धर्म २६
धर्म मेघ १३६
धारणा १३४
ध्यान १३४
नाड़ियाँ ८५, १२६
नाड्याधार १४४
नाथ २७, १५१;-पद १४८ परंपरा ५; मत ३; मार्ग ६,-वेश १४; संप्रदाय; -संप्रदाय का विस्तार १५४;-का नाम १
नाद १५६, १५७
नाद जनेउ २१
नादरूपा (सृष्टि) ७०
नादीसेली २३
नाभिमंडलाधार १४४
नासामूल १४५
नासिकाग्र १४५
निगम १८१
नियति तत्व ७३
निरंजन १३८, २०१, २१०
निरंजन भाव १६०
निरोधज १३५
निरोधपरिणाम १३५;—समाधि १३०
निष्कल शिव ८२
नेत्राधार १४५
न्यास २७
पंचतन्मात्र १२८
पंच पवित्र ७७
पंच मकार ७७
पंचमुखी रुद्राक्ष १८
पंच स्कंध ८८
पच्चीस तत्व ११६, ११७, ११८ ११८
पदोत्तिष्ठ ६२
पद्म ८८, १००,—चक्र ६५
परकाय प्रवेश ५३
परपिण्ड १५८
परवैराग्य १३१
परा १५८
पराविद्या १५४
परासंवित् १४५, १५४
पराहन्ता ७३
परंब्रह्म १५४
परंशिव १५५
पवित्री ११, १८
पशुभाव ८३
पश्चिम लिङ्ग १३८
पाँचआम्नाय ७४

पाँच उत्तम भोज्य ७७
पाँच कुल ७०
पाँच बुद्ध १०१;—की पंचशक्ति १०१
पाँच रात्र संहिताएँ २०२
पाँच शक्तियाँ ११६
पादोविष्ठ कौल ६२
पादांगुष्ठ १४४
पारद २१०;—की तीन दशाएँ २१०
पाशुपत मत १८१
पिंगला २०४
पिंड ब्रह्माण्ड १२२—की एकता १४५
पिंडोत्पति ११८, ११६
पुरुष १२६
पूर्णाहन्ता ७३
प्रकृति ७४, १२६
प्रकृति-विकृति १२६
प्रज्ञा १०२
प्रज्ञाचंद्र १०२
प्रज्ञापारमिता दर्शन १७१
प्रत्याहार १३४
प्रलयकाल १३६
प्रवाहनित्य १६२
प्रसंख्यान १३३, १३६
प्रणव १५७, १६१
प्राणायाम १३४
बीज १५७
बुद्धि ७४
बोधिचित्त ६६, १००
ब्रह्मविद्या १४६
भवप्रत्यय १३०
भ्रूमध्याधार १४५
मंत्रयोग १४२
मच्छ ४२
मणिपुर चक्र ८१, १४१
मन ७४
मल ७५
महाकुंडलिनी ८०
महान् १२६
महामेरुगिरि ६
महाशून्य १०३
महासुख ६७, ६८
मानव-दिव्य गुरु २६
माया ७३
मुक्ति १५१
मुख १६
मुद्रा ८, ६, १०
मूलाधार १४४—चक्र ७३, १४१
मेखला मूंज १८
मेरुपर्वत ६६
यक्ष पूजा ६०, ६१
यम १३३
यामल ५
योग १२७, १५२, २०१;—उपनिषद् १४७;—मार्ग २०१;—और कौल मार्ग ६६;—के विघ्न ११८
योगांग १३३, १३४
योगिनी कौल ३—ज्ञान ४३;—मत ५
योगियों के स्थान १८८;—के संप्रदाय १३२
रसना १०२
रसाधार १४५
रसेश्वर-सिद्धान्त २११
राग १३३;—तत्व ७४
राजयोग १४२, १४४
रावल १५६
रुद्राक्ष १६
रोमकूपादि कौल ६३
लययोग १४२, १४४
ललना १०२
लिंग-निरुक्ति ८२

लिंग शरीर १३६
वज्रयान १६८;—के सिद्ध २४
वज्रेश्वरी ८७
वज्रोणी ७६
वज्रोली (लिका) ७८, ७६, १४०, १४४, २१०
वन्हि कौल ६२
विन्दु चक्र १४४
विक्षिप्त १२७
विद्या ७३;—तत्व ७५
विधि ५६
विन्दु १५७
विन्दूरूपा सृष्टि ७०
विपाक १३२
विभूति १३५
विवेक ख्याति १३५
विश्व ब्रह्माण्ड व्यापी स्पन्द १५७
विशुद्ध चक्र ८१, १०३, १४२
विषकाल १३६
विषहर १३६, २१०
वीरसाधक भाव ८३
वृत्ति १३०; —सारूप्यता १३०
वृषणोत्थ ६२
वैराग्य १३१
व्युत्थान १३५
शक्ति ७२;—का वैदान्तिक अर्थ १०४ १०२;—की पाँच अवस्थाएँ १०३; १५८, १५६ शाम्भावी १४२
शक्तित्रय १५७
शिव ७३, ७४, १०४ पाँच अवस्थाएँ १५६
शुद्ध विद्या ७३
शून्य १०१, १०३;—ता १०१
शृङ्गी १८
षट् कर्म १४०
षट्चक्र १४३
षट्त्रिंशत् तत्व १०३ आ०
षडंग योग १४६
संयम १३४
सकल १५५
सत्य २६;—दो प्रकार के० १००
सत्वगुण ७४
सदृश्य व्यवहारनियन्ता १६३
सम्प्रति व्यवहारनित्यता १६३
सम्प्रति पत्ति १६३
सदाशिव ७३
समरस १४०, १४५
समाधि १२८, १३०, १३४
समाप्ति १६
सर्वशून्य १०३
सहज ६५;—समाधि १२५, १४५ अवस्था १२८
सहजयानी सिद्ध २७
सहजोली मुद्रा ७६
सहस्रार ७१, ८१, १४२
साजन २०१
सामरस्य ६५, ६७, ८१, १२४
सारणा १४५
सिंगीनाद-जनेव १८
सिंहल-द्वीप ६०;—देश ५६
सिद्ध कौल ३
सिद्धमार्ग १, ३
सिद्धान्त १, २
सिद्धियाँ १३५
सिसृक्षा १५८
सुख ३०;
सुदर्शन २००
सुमेरु ६६
सुषुम्ना १०२
सूक्ष्म १५८

सूक्ष्मवेद १५०, १५१, १५३, १५७
सोंटा २०
सोमसिद्धान्त ८७
स्त्रीदेश ५९, ६०
स्थूलवेद १६४
स्वयं ११४, १५४, १५८
स्वप्रकाश १५३
स्वबोधमात्र ८०, १३८
स्वसंवेदन १५५
स्वाधिष्ठान १४१;—चक्र ८१
हठयोग १११, १३७, १४२, १४४;—की दो विधियाँ १३९;—के अर्थ—१३७ के दो भेद १३७
हालमटंगा १९
हिरण्य गर्भ १२७
हृदयाधार १४४
हेय १३३
हेयहान १३३
हेयहेतु १३३

लेखक की अन्य महत्वपूर्ण पुस्तकें

स
वा
भट्ट की आत्मकथा
चंद्रलेख
मदास का पोथा

त्रना/निबंध

क के फूल
त्य सहचर
साहित्य का इतिहास
साहित्य की भूमिका
साहित्य : उद्भव और विकास
रासक
शास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक

- मृत्युंजय रवीन्द्र
- कालिदास की लालित्य योजना
- मेघदूत : एक पुरानी कहानी
- सूर-साहित्य
- सिक्ख गुरुओं का पुण्यस्मरण
- सहज साधना
- महापुरुषों का स्मरण
- आलोक पर्व
- कल्पलता
- विचार प्रवाह
- मध्यकालीन बोध का स्वरूप
- प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद

ग्रन्थावली

- हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद नयी दिल्ली पटना
ISBN : 978-81-8031-564-0

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली